परामर्श

(हिन्दी)

खण्ड २१, अंक १

दिसम्बर १९९९ भारतीय सौर मार्गशीर्ष शके १९२१

संस्थापक संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे

प्रधान संपादक : सुभाषचन्द्र भेलके

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

परामर्श (हिंदी)

- पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग की चिंतनपरक त्रैमासिक पत्रिका (नूतनमालिका) (भूतपूर्व तत्त्वज्ञान मन्दिर हिंदी, अमलनेर)

- प्रकाशनार्थ लेखनसामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्राचार के लिए :
  प्रधान संपादक, परामर्श (हिंदी) दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे ४११००७

- **सदस्यता शुल्क :**

आजीवन	संस्थाओं के लिए	रु. १५००/-
	व्यक्तियों के लिए	रु. ६००/-
वार्षिक	संस्थाओं के लिए	रु. ८०/-
	व्यक्तियों के लिए	रु. ६०/-
एक प्रति का मूल्य		रु. २०/-

- सदस्यता शुल्क मनीऑर्डर या डिमांड ड्राफ्ट द्वारा ही पत्रिका के पते पर भेजा जाए। (धनादेश से भुगतान में रु.१० अधिक जोड दें)
- आजीवन सदस्यता शुल्क एक या दो समान किश्तों में भेजा जा सकता है ।
- अंक न मिलने की सूचना अंक प्रकाशित होने बाद एक महिने के भीतर मिलने पर, अंक बचे हों तो, पुनः भेजा जाएगा ।

पंजीकरण सं. ३९८८३/७९

परामर्श (हिन्दी) खण्ड २१ अंक १ अंक दिसम्बर १९९९

- पत्रिका में प्रकाशनार्थ लेखों की दो स्पष्ट टाईप की हुई प्रतियाँ भेजें। लेख प्राय: ३००० शब्दों से अधिक न हो । लेख की स्वीकृति परीक्षक-संपादकों के निर्णय पर निर्धारित होगी । अस्वीकृत लेखों के निर्णय की सूचना दी जाएगी । पर्याप्त पोस्टेज सहित पूरा पता लिखा लिफाफा साथ होने पर अस्वीकृत सामग्री वापस लौटायी जाएगी ।

- परामर्श (हिंदी) चिंतनपरक वैचारिक पत्रिका है । इस में विशुद्ध चिंतपरक, दार्शनिक रूख की सामग्री स्वीकृत होगी।
- यह जरूरी नहीं है कि प्रकाशित विचारों से संपादक सहमत हों ।
- प्रकाशित लेखों पर प्रतिक्रियात्मक वैचारिक टिप्पणियाँ भी स्वागतार्ह हैं । यथायोग्य होने पर वे प्रकाशित की जा सकती हैं ।
- पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व अधिकार पत्रिका का होगा ।
- अन्यत्र पूर्व-प्रकाशित लेखों का इस पत्रिका में पुन: प्रकाशन नहीं किया जाता इस ओर ध्यान दें ।

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के लिए प्रधान संपादक सुभाषचंद्र भेलके ने यह त्रैमासिक पौर्णिमा एन्टरप्राईझेस, धनकवडी, पुणे ४११ ०४३ में छपवाकर प्रसिद्ध किया ।

पंजीकरण सं. ३९८८३/७९

परामर्श (हिन्दी)   खण्ड २१   अंक २   अंक माअम २०००

- पत्रिका में प्रकाशनार्थ लेखों की दो स्पष्ट टाईप की हुई प्रतिया भेजें। लेख प्राय: ३००० शब्दों से अधिक न हो । लेख की स्वीकृति परीक्षक-संपादकों के निर्णय पर निर्धारित होगी । अस्वीकृत लेखों के निर्णय की सूचना दी जाएगी । पर्याप्त पोस्टेज सहित पूरा पता लिखा लिफाफा साथ होने पर अस्वीकृत सामग्री वापस लौटायी जाएगी ।

- परामर्श (हिंदी) चिंतनपरक वैचारिक पत्रिका है । इस में विशुद्ध चिंतपरक, दार्शनिक रूख की सामग्री स्वीकृत होगी।
- यह जरूरी नहीं है कि प्रकाशित विचारों से संपादक सहमत हों ।
- प्रकाशित लेखों पर प्रतिक्रियात्मक वैचारिक टिप्पणियाँ भी स्वागतार्ह हैं । यथायोग्य होने पर वे प्रकाशित की जा सकती हैं ।
- पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व अधिकार पत्रिका का होगा ।
- अन्यत्र पूर्व-प्रकाशित लेखों का इस पत्रिका में पुन: प्रकाशन नहीं किया जाता इस ओर ध्यान दें ।

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के लिए प्रधान संपादक सुभाषचंद्र भेलके ने यह त्रैमासिक पौर्णिमा एन्टरप्राईझेस, धनकवडी, पुणे ४११ ०४३ में छपवाकर प्रसिद्ध किया ।

पंजीकरण सं. ३९८८३/७९

परामर्श (हिन्दी) खण्ड २१ अंक ३ जू-जु-ऑ २०००

- पत्रिका में प्रकाशनार्थ लेखों की दो स्पष्ट टाईप की हुई प्रतियाँ भेजें। लेख प्राय: ३००० शब्दों से अधिक न हो। लेख की स्वीकृति परीक्षक-संपादकों के निर्णय पर निर्धारित होगी। अस्वीकृत लेखों के निर्णय की सूचना दी जाएगी। पर्याप्त पोस्टेज सहित पूरा पता लिखा लिफाफा साथ होने पर अस्वीकृत सामग्री वापस लौटायी जाएगी।

- परामर्श (हिंदी) चिंतनपरक वैचारिक पत्रिका है। इस में विशुद्ध चिंतपरक, दार्शनिक रूख की सामग्री स्वीकृत होगी।
- यह जरूरी नहीं है कि प्रकाशित विचारों से संपादक सहमत हों।
- प्रकाशित लेखों पर प्रतिक्रियात्मक वैचारिक टिप्पणियाँ भी स्वागतार्ह हैं। यथायोग्य होने पर वे प्रकाशित की जा सकती हैं।
- पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व अधिकार पत्रिका का होगा।
- अन्यत्र पूर्व-प्रकाशित लेखों का इस पत्रिका में पुन: प्रकाशन नहीं किया जाता इस ओर ध्यान दें।

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के लिए प्रधान संपादक सुभाषचंद्र भेलके ने यह त्रैमासिक पौर्णिमा एन्टरप्राईझेस, धनकवडी, पुणे ४११ ०४३ में छपवाकर प्रसिद्ध किया।

पंजीकरण सं. ३९८८३/७९

परामर्श (हिन्दी)   खण्ड २१   अंक ४   सि-अ-न   २०००

- पत्रिका में प्रकाशनार्थ लेखों की दो स्पष्ट टाईप की हुई प्रतियाँ भेजें । लेख प्राय: ३००० शब्दों से अधिक न हो । लेख की स्वीकृति परीक्षक-संपादकों के निर्णय पर निर्धारित होगी । अस्वीकृत लेखों के निर्णय की सूचना दी जाएगी । पर्याप्त पोस्टेज सहित पूरा पता लिखा लिफाफा साथ होने पर अस्वीकृत सामग्री वापस लौटायी जाएगी ।

- परामर्श (हिंदी) चिंतनपरक वैचारिक पत्रिका है । इस में विशुद्ध चिंतपरक, दार्शनिक रूख की सामग्री स्वीकृत होगी ।
- यह जरूरी नहीं है कि प्रकाशित विचारों से संपादक सहमत हों ।
- प्रकाशित लेखों पर प्रतिक्रियात्मक वैचारिक टिप्पणियाँ भी स्वागतार्ह हैं । यथायोग्य होने पर वे प्रकाशित की जा सकती हैं ।
- पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व अधिकार पत्रिका का होगा ।
- अन्यत्र पूर्व-प्रकाशित लेखों का इस पत्रिका में पुन: प्रकाशन नहीं किया जाता इस ओर ध्यान दें ।

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के लिए प्रधान संपादक सुभाषचंद्र भेलके ने यह त्रैमासिक पौर्णिमा एन्टरप्राईझेस, धनकवडी, पुणे ४११ ०४३ में छपवाकर प्रसिद्ध किया ।

संपादकीय

एक सवाल हमेशा उठता है, कि दर्शन में क्या नवीन है? व्हाईटहेड जैसे महानुभाव कह गये हैं कि समूचा पाश्चिमात्य दर्शन प्लेटो के संवादों पर लिखी मात्र पाद-टिप्पणी है। कुछ महानुभाव मानते हैं कि प्राय: सभी विचार पहले ही किसी न किसीने कहीं न कहीं व्यक्त किये हुए हैं। कुछ लोगों का कहना है कि विचार वही पुराने क्यों न हों, विचार की शैली तथा पद्धति अलग होने से विचार-स्थापना में नवीनता स्वीकृत है। अगर दार्शनिक पद्धति के बारे में सोचें तो वे भी अनंत नहीं हो सकती हैं। दार्शनिक चिंतन की पद्धतियाँ भी संख्या में बहुत कम और सुनिश्चित हैं। अगर समस्याओं के बारे में कहा जाए तो वहाँ भी वही हाल है। मूलत: वही मनुष्य उसी जगत् का अंश होकर अपना जीवन व्यतीत करता है। उस की समस्या में क्या नवीनता होगी? अगर समस्याओं पर चिंतन करना है तो उन्हें उन के मूल रूप में देखना पडेगा। मूल रूप में अंकित मानव-जीवन की समस्याएँ प्राय: युगोंयुगों से वही की वही चली आ रही हैं, ऐसा दिखाई देता है। समस्याओं के जो हल निकाले जाते हैं, वे भी निर्णायक नहीं होते हैं और अपने युग के अनुरूप उन से काम लिया जाता है। अगर समस्याएँ सनातन हैं और उन के कुछ हल हैं तो वे भी एकही या एक जैसे ही होंगे; उन में किस तरह की नवीनता देखी जा सकती है?

तो फिर इसका मतलब यह होगा कि मानव जीवन में कोई परिवर्तन या गति नहीं है? इस बात को स्वीकारना भी संभव-सा नहीं दिखाई देता है। मानव-जीवन, चाहे वह व्यक्तिगत हो या समाजिक, निरंतर नये पहलुओं में, नये आयामों में, नये दायरों में अविष्कृत होता रहता है। अनादि युगों से वही सूरज उसी क्षितिज पर उग रहा है, फिर भी हम हर दिन को नया स्वीकारते हैं, चाहे शाम ढलने पर क्यों न कहें कि आज का दिन ठीक कल के जैसा ही था। शायद आज के दिन की उपलब्धि कल के दिन की उपलब्धि की तुलना में कुछ भी न हो, फिर भी आज का दिन कल के दिन से अलग एवं स्वतंत्र है। क्या इस तरह के अलगाव और स्वतंत्र होने में नवीनता का रहस्य छिपा रहता है ? कोई भी दो चीजें एक होना और एक-जैसी होना इस में हम फर्क मानते हैं। किसी चीज को पुराना कहना और वही पुराना कहना इस में भी हम भेद मानते हैं। यह क्षण बस्स अगलेही क्षण में पुराना हो जाता

है और इस क्षण की बात भी अगले क्षण पुरानी बन जाती है, उस में नवीनता नहीं रहती है। तो क्या नवीनता का मतलब भविष्योन्मुखी वर्तमान है? और अगर ऐसा माना जाए तो 'नित्य-नूतन' इस संकल्पना का अर्थ हम किसी तरह लगा पाएँगे?

नवता और आधुनिकता का चोली-दामन का साथ माना जाता है । आधुनिकता बनाए रखने के लिए नवता को सम्हाल रखना जरूरी होता है । आधुनिकता का आविष्कार शैली के आधार पर विशेष रूप से किया जाता है । आधुनिकता में वर्तमान की संवेदना तीव्र होती है और वर्तमान के साथसाथ रहने की कोशिश भी रहती है । वर्तमान की गतिविधियों में चिंतन के प्रारूप रचते रहने में नवीनता का अहसास होता है । दार्शनिक चिंतन के संदर्भ में वर्तमान की गतिविधियों से मिलजुलकर जब चिंतन रूख लेता है तब वह हमें अधिक नजदीक लगता है । लेकिन नवता अभिजात्य से दूरी पैदा न करे यह भी अपेक्षा रहती है । अभिजात विचार एवं कल्पना जब वर्तमान की गतिविधियों के अनुरूप मानवी जीवन की समस्याओं के हल ढूँढने की कोशिश में जुटे रहते हैं, तब उस में अतीत से नाता बनाए रखते हुए हम भविष्योन्मुखी वर्तमान के बारे में ठोस स्थापनाएँ दे सकते हैं। हम चाहते हैं कि इस विधा को अपना कर दार्शनिक गतिविधियों के रूख रहें तो उन का मानवी जीवन में संमानित स्थान रहेगा । इस चेतना के उन्मेष ही दर्शन में जीवन्तता के आसार दिखा सकते हैं । क्या आजकल की हमारी दार्शनिक गतिविधियों में हम इस तरह की जीवंतता के आसार देख पाते हैं? उत्तर हमारे ही पास है, बशर्ते कि हम उसे ढूँढ लें ।

सुभाषचंद्र भेलके

गणितीय ज्ञान की अनुभवनिरपेक्षता

आधुनिक पाश्चात्त्य दर्शन (परम्परा) में गणितीय ज्ञान को दो कोटि में रखा गया है—

(१) अनुभव-निरपेक्षता

(२) अनुभव-सापेक्षता

डेकार्ट, काण्ट, ह्यूम, लाइबनित्स, बॅर्कले, बाबर इत्यादी दार्शनिकों एवं गणितज्ञों का मानना है कि गणितीय ज्ञान अनुभव से स्वतन्त्र है तथा गणित में खण्डन एवं मण्डन की प्रक्रिया अनुभव पर आश्रित नहीं है। इन दार्शनिकों के अतिरिक्त तर्कशास्त्रवादी, अन्त:प्रज्ञावादी एवं आकारवादी दार्शनिक भी गणितीय ज्ञान की प्रागनुभविकता को स्वीकार करते हैं।

लाइबनित्स एक प्रसिद्ध गणितज्ञ एवं बुद्धिवादी दार्शनिक था। उन्होंने सभी प्रकार के ज्ञान को प्रागनुभविक माना है। हमारे अन्दर ऐसे बहुत से प्रत्यय हैं जो जन्म से हैं परन्तु हमें उनकी चेतना नहीं है। विशिष्ट अवसरों पर ये अचेतन प्रत्यय ही चेतन बन जाते हैं। किन्तु यह ज्ञान बाहर से नहीं आया। यह जन्मजात एवं प्रागनुभविक है। उनका मानना है कि गणित एवं तर्कशास्त्र के प्रत्यय इसी प्रकार के हैं। उन्होंने सत्य को दो कोटि में विभाजित किया है—

(१) बुद्धि पर आश्रित (Truth of Reason)

(२) वस्तुस्थिति पर आश्रित (Truth of Contingent)

उनका मानना है कि तर्कशास्त्रीय एवं गणितीय ज्ञान बुद्धि पर आश्रित सत्य उपलब्ध कराते हैं तथा ये सत्य इसलिए अपरिहार्य हैं कि उनका निषेध व्याघात उत्पन्न करता है। अनिवार्य सत्य न केवल वास्तविक जगत् में अपितु सब सम्भव जगत् में भी सत्य है। अनुभवपरक सत्य वास्तविक जगत् में सत्य है परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि सब सम्भव जगत् में सत्य ही हो। गणित एवं तर्कशास्त्र से भिन्न जो विज्ञान है वे केवल अनुभव पर आश्रित सत्य ही उपलब्ध करा सकते हैं।[१] लाइबनित्स के मतानुसार ''अनिवार्य सत्यों का अन्तिम प्रमाण केवल बुद्धि से ही आता है और अन्य सत्य अनुभव तथा इन्द्रियों के निरीक्षण से निकाले जाते हैं।

हमारा मन इन दोनों को जान सकता है परन्तु वह स्वयं ही पहले का स्रोत है । किसी भी सार्वभौम सत्य के हमें कितने भी विशिष्ट अनुभव प्राप्त हो, परन्तु हम आगमन के द्वारा उसके बारे में निश्चित नहीं हो सकते तब तक कि हम विवेक द्वारा उसकी अनिवार्यता को न जानते हैं'' ।[२] गणित के सत्य सार्वभौम एवं अनिवार्य है । लेकिन ये आन्तरिक सत्य चेतन रूप नहीं रखते और इसलिए उनको पुस्तक की तरह से नहीं पढा जा सकता, अपितु इन्द्रियों द्वारा उनको जानने का अवसर उपस्थित करने पर ही उन्हें जाना जा सकता है । इस अर्थ में गणितीय और ज्यामितीय प्रत्यय मन में सुप्त रूप में होते हैं ।

लाइबनित्स के मतानुसार सम्प्रत्ययात्मक विश्लेषण की विधि का प्रयोग गणितीय तात्त्विक चिन्तन में सम्भव है, जहाँ चिन्तन का विषय वास्तविकतायें नहीं है लेकिन उनके स्वभाव से सम्बन्धित परिकल्पनाएँ होती हैं । ये परिकल्पनाएँ अनिवार्य होती हैं क्योंकि इनमें यह अभिगृहीत होता है कि यदि वस्तुएँ होंगी तो परिकल्पना के अनुसार व्यवहार करेंगी । इसी प्रकार संख्याओं के सम्बन्ध सत्य होते हैं चाहे कोई गिनने वाला न हो और कोई गिनी जाने वाली चीज भी न हो । गणितीय रेखा आपातिक (Contingent) वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करती है । लाइबनित्स के अनुसार रेखा को वैचारिक रूप से असंख्य अविभाज्य बिन्दुओं में विभाजित किया जा सकता है । इन बिन्दुओं में ही रेखा का मौलिक स्वभाव है । प्रत्येक बिन्दु रेखा को समान रूप से प्रस्तुत नहीं करता है तथा प्रत्येक बिन्दु में सम्पूर्ण रेखा की सम्भावना विद्यमान है किन्तु रेखा में सभी के स्थान भिन्न है । अतः प्रत्येक बिन्दु रेखा का एक भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है और सभी दृष्टिकोण सार्थक है क्योंकि यदि एक को भी छोड दिया जाये तो रेखा की सम्पूर्ण उद्भावना में से कुछ घट जायेगा । किसी रेखा को निर्मित करने वाले सभी बिन्दु समान रूप से आवश्यक हैं, सभी भिन्न दृष्टिकोणों से रेखा की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं ।

ह्यूम का मानना है कि हमारे ज्ञान का आरम्भ प्रत्यक्षानुभव से होता है, किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि ज्ञान के घटक या उसकी आधार सामग्रियाँ कुछ और हैं । वे भी प्रत्यक्षानुभव ही हैं । इसलिए ह्यूम के मत को दोनों प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है: यह भी कह सकते हैं कि ज्ञान का आदि स्रोत प्रत्यक्षानुभव है और यह भी की ज्ञान की आदि सामग्रियाँ प्रत्यक्षानुभव हैं । प्रत्यक्षानुभव से अधिक मौलिक या अधिक आधारभूत हमें कुछ भी नहीं मिलता ।[३]

ह्यूम ने शब्दार्थपरक तथा अनुभवपरक में भेद करते हुए गणितीय ज्ञान को

शब्दार्थपरक माना है । इनका मानना है कि गणितीय ज्ञान में अनुभवपरकता नहीं होती है । गणितीय प्रतिज्ञाप्तियों को शब्दार्थपरक कहने का तात्पर्य यह है कि इसमें किसी प्रकार की कोई नई बात नहीं की जाती है । जैसे २+२=४ यह वाक्य शब्दार्थपरक है क्योंकि दो संयोग दो हमेशा चार ही होगा चाहे कोई भी परिस्थिति क्यों न हो ।[४] गणितशास्त्र, तर्कशास्त्र उनके मत में आकारपरक है तथा सम्प्रत्ययों का परस्पर सम्बन्ध एवं उनके धर्मो का व्यवस्थित अध्ययन करते हैं । तर्कशास्त्रीय एवं गणितीय ज्ञान में अपरिहार्यता अवश्य है परन्तु इस ज्ञान में जगत्परकता का अभाव है ।

ह्यूम के अनुसार मानव ज्ञान के दो प्रकार हैं—

(१) प्रत्ययों के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान (Relation of Ideas)

(२) वस्तुजगत् का ज्ञान (Matter of Fact)

गणितशास्त्र, ज्यामिति, बीजगणित एवं तर्कशास्त्र से प्रत्ययों के सम्बन्धों का ज्ञान होता है । गणित में निश्चित और असन्दिग्ध ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है । यहाँ दो और दो हमेशा चार ही है । यहाँ सार्वभौम और अनिवार्य सिद्धान्तों की कल्पना की जा सकती है क्योंकि यह कोरी कल्पना है और इसका वस्तुजगत् से कोई सम्बन्ध नहीं है । ज्यामिति, अंकगणित और बीजगणित आदि में प्रत्येक विचार स्वयंसिद्ध है । उदाहरण स्वरूप बिन्दु या रेखा की ज्यामिति में जो व्याख्या की जाती है वह पूर्ण व्याख्या है और उस व्याख्या के अनुरूप बिन्दु अथवा रेखा वस्तुजगत् में नहीं होती है । गणित में मूल परिभाषाओं के आधार पर जो निष्कर्ष निकाले जाते हैं उनके मिथ्या होने का प्रश्न ही नहीं उठता, ये अनिवार्य रूप से सही होते हैं क्योंकि वे नवीन तथ्य न होकर विभिन्न प्रत्ययों के सम्बन्ध मात्र होते हैं । उदाहरणस्वरूप पाँच का तिगुना, तीस के आधे के बराबर होता है । इसमें तीस का आधा और पाँच का तिगुना और इन दोनों का बराबर होना— ये विभिन्न प्रत्ययों में विभिन्न प्रकार के सम्बन्ध दिखलाते हैं ।

ह्यूम के अनुसार निश्चयात्मक ज्ञान गणित में मिलता है । यह अनिवार्य सत्य है कि किसी भी त्रिभुज के तीन कोणों का योग दो समकोण के बराबर होता है । यह प्रतिज्ञप्ति त्रिगुण के प्रत्यय के विश्लेषण मात्र से प्राप्त होती है । इसके लिए हमें अनुभव का सहारा नहीं लेना पडता । इसी प्रकार यदि इस ढेर में दस पत्थर हैं और दूसरे ढेर में चार तो दोनों में चौदह पत्थर होंगे, अनिवार्यतः सत्य है । अपने प्रथम ग्रन्थ 'ए ट्रिटीज ऑफ ह्यूमन नेचर' में ह्यूम ज्यामिति को अंकगणित से कम निश्चयात्मक मानता है । वह कहता है कि ज्यामिति के प्रत्यय या प्रतिज्ञप्ति पूर्णतः

अनुभव-निरपेक्ष नहीं है, लेकिन अपने दूसरे ग्रन्थ 'एन इन्क्वायरी कनसर्निंग ह्यूमन अंडरस्टेंडिंग' में सारे गणित को प्रागनुभविक और अनिवार्य मानता है। गणित के स्वरूप के विषय में इस सिद्धान्त का निष्कर्ष है कि गणित से हमें विश्व के विषय में अनुभव जगत् के विषय में कोई ज्ञान नहीं मिलता है क्योंकि उसका सम्बन्ध प्रत्ययों के सम्बन्धों से हैं न कि तथ्यों से। ह्यूम का यह दावा है कि गणितीय ज्ञान निश्चयात्मक और तथ्यात्मक दोनों नहीं हो सकता। यदि उसके वाक्य अनिवार्य हैं तो वे तथ्यों के विषय में किसी प्रकार का ज्ञान नहीं दे सकते।

काण्ट का दर्शन बुद्धिवादी एवं अनुभववादी दार्शनिकों जैसे लाइबनित्स, ह्यूम इत्यादि के दर्शन से प्रभावित रहा है। उसने गणितीय ज्ञान को संश्लेषणात्मक अवश्य माना है, परन्तु इस ज्ञान की संश्लेष्यता से उसकी जगत्परकता मानने को तैयार नहीं है। लाइबनित्स एवं ह्यूम ने प्रतिज्ञप्तियों को दो भागों में विभक्त किया है—

(१) विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति (२) तथ्यात्मक प्रतिज्ञप्ति।

दोनों दार्शनिकों ने गणितीय प्रतिज्ञप्तियों को विश्लेषणात्मक माना है। परन्तु काण्ट ने गणितीय प्रतिज्ञप्तियों को संश्लेषणात्मक तथा प्रागनुभविक माना है। संश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियों के बारे में बताते हुए काण्ट ने आनुभविक (Empirical)तथा अनानुभविक (Non-Empirical) दोनों में भेद किया है। काण्ट आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों को अनुभवपरक तथा अनानुभविक को प्रागनुभविक मानता है। उनके मत में संश्लेषणात्मक अनुभवपरक प्रतिज्ञप्तियाँ इन्द्रिय संवेदन पर निर्भर करती हैं और संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्तियाँ इन्द्रिय संवेदन पर निर्भर करती हैं।[५] उनके मतानुसार गणित तथा ज्यामिति विश्लेषणात्मक न होकर संश्लेषणात्मक तथा प्रागनुभविक है, क्योंकि यह देश और काल के बारे में है तथा शुद्ध गणित का विषय वस्तु देश और काल है जो कि आनुभविक सत्ता से स्वतन्त्र है। काण्ट ने अपने ग्रन्थ 'शुद्ध बुद्धि की समीक्षा' में बताया है कि गणितीय प्रतिज्ञप्ति का विचार और उसकी संरचना में भेद है। उनके मतानुसार इन्द्रियानुभव अपरिहार्य रूप में देश और काल की अपेक्षा रखता है तथा देश और काल स्वयं अनुभव का विषय नहीं है।[६] काण्ट के लिए रेखागणितीय तथा अंकगणितीय तत्त्व तथा उनके धर्म एवं सम्बन्ध विषयक तथ्य केवल तार्किक सम्भावना पर आधारित नहीं है परन्तु संरचना पर आधारित है। जैसे २+३=५ यह तथ्य केवल परिभाषा पर आधारित नहीं है परन्तु संरचना पर आधारित है।

विज्ञान में गणितशास्त्र एवं तर्कशास्त्र की भूमिका को स्पष्ट करना रुडोल्फ

कार्नप का मुख्य लक्ष्य है । उनका मानना है कि निगमन की प्रक्रिया में गणित और तर्कशास्त्र उपकरणात्मक रूप में सहायक होते हैं, अर्थात् गणित एवं तर्कशास्त्र अनुभवपरक विज्ञान में निगमन के लिए उपकरण उपलब्ध कराते हैं तथा कुछ प्रतिपाद्य देते हैं । गणित एवं तर्कशास्त्र स्वयं ही विज्ञान है । विज्ञान अनुभवपरक है लेकिन तर्कशास्त्र एवं गणितशास्त्र स्वयं विज्ञान के रूप में है परन्तु उनसे उपलब्ध प्रतिपाद्य वस्तुपरक नहीं है, अर्थात् उनमें जगत्परकता का अभाव है । कार्नप अनुभवपरक विज्ञान तथा गणित एवं तर्कशास्त्र की प्रक्रिया में अन्तर करते हैं । उनका मानना है कि जिस प्रकार हम भौतिकी के प्रतिपाद्यों को परीक्षित करते हैं उस तरह से गणितीय प्रतिपाद्यों को परीक्षित नहीं कर सकते ।[७]

तार्किक प्रत्यक्षवादी तर्कशास्त्र एवं गणित के सार्वभौम निर्णयों को पुनरुक्ति मानते हैं लेकिन आनुभविक निर्णयों को वह सार्वभौम एवं सुनिश्चित नहीं मानते, मात्र पुनरुक्तियाँ ही सुनिश्चित हैं । आनुभविक निर्णय मात्र प्राक्कल्पनाएँ हैं, जिन्हें इन्द्रियानुभव के आधार पर यथार्थ अथवा अयथार्थ सिद्ध किया जा सकता है । वे निर्णय जिनके आधार पर इन प्राक्कल्पनाओं को व्यक्त करते हैं स्वयं भी प्राक्कल्पनाएँ ही हैं जो आगे इन्द्रियानुभव के परीक्षण पर आधारित इस प्रकार कोई भी निर्णय अन्तिम नहीं होता ।[८]

सी.जी. हेम्पल ने तार्किक प्रत्यक्षवादियों के मत को स्वीकार करते हुए अपने लेख 'ऑन दी नेचर ऑफ मैथेमेटिकल टुथ' में उनके मत को सरल रूप में समझाया है । उनका मत कार्नप के मत के अनुरूप ही है जिस तरह कार्नप ने गणित तथा तर्कशास्त्र को अनुभवपरक विज्ञान में उपकरण के रूप में स्वीकार किया है उसी तरह हेम्पल भी अनुभवपरक विज्ञान में गणित एवं तर्कशास्त्र की भूमिका को सरल तथा स्पष्ट रूप में समझाते हुए गणित तथा तर्कशास्त्र को उपकरणात्मक रूप में स्वीकार करते हैं ।

गणितज्ञों के अनुसार गणितीय अभिकथन स्वयंसिद्ध तथ्य है परन्तु हेम्पल ने इस मत को स्वीकार नहीं किया है । उनका मानना है कि गणित में बहुत से ऐसे जटिल गणितीय अभिकथन है जिनकी सत्यता तथा असत्यता का पता नहीं चलता है।[९] गोडलबेच का अनुमान (Conjectures) है कि प्रत्येक दो से अधिक प्रत्येक समसंख्या किसी न किसी दो आणविक संख्याओं के योगफल के बराबर है । उदाहरणस्वरूप २+२=४, ३+३=६, ५+३=८, ७+३=१०, ७+७=१४, ११+३=१४, १३+७=२०, -----, २९+१९=४८,------, ९३+३=९६ इत्यादि ।

हेम्पल इस उदाहरण से स्पष्ट करते हैं कि यदि सभी गणितीय प्रतिपाद्य स्वयंसिद्ध हों तो गोडलबेच का उपर्युक्त प्रतिपाद्य भी स्वयंसिद्ध होना चाहिए था, लेकिन इस प्रतिपाद्य की सत्यता तथा असत्यता के बारे में कोई प्रमाण नहीं है। पुनश्च कुछ प्रतिपाद्य हैं जिनकी सत्यता एवं असत्यता पता नहीं है। जैसे जुडवाँ आणविक संख्याएँ भी अगणनीय अपरिमित हैं यह एक अनिर्णित गणितीय प्रतिपाद्य है, क्योंकि जुडवाँ आणविक संख्याओं की सत्यता एवं असत्यता के बारे में पता नहीं है। उदाहरणस्वरूप ३ और ५, ११ और १३, २९ और ३१, ४१ और ४३ तथा ५९ और ६१ इत्यादि ये सभी जुडवाँ आणविक संख्याएँ हैं।

वस्तुतः मिल गणित एवं अनुभवपरक विज्ञान में भेद नहीं करते हैं। गणित के अभिकथन अनुभवपरक है तथा सार्वभौमिक हैं। हेम्पल इस मत का खण्डन करते हैं। उदाहरणस्वरूप २+३=५ यह एक गणितीय अभिकथन है। इस अभिकथन में दो, तीन तथा संयोग के चिह्न से पाँच का निर्माण हुआ है, पाँच दो एवं तीन से अलग नहीं है इन्हीं दोनों से पाँच का निर्माण हुआ है। यह अभिकथन विश्लेषणात्मक है तथा अनुभवपरक नहीं है। इस अभिकथन को हम किसी भी परिस्थिति में त्यागने को तैयार नहीं है। अनुभव के आधार पर इसका खण्डन एवं मण्डन नहीं किया जा सकता, इसलिये इसमें जगत्परकता का अभाव है। हेम्पल तथा अन्य तार्किक प्रत्यक्षवादियों का मत है कि गणितीय एवं तर्कशास्त्रीय अभिकथनों की सिद्धि अनुभव के आधार पर नहीं होती और न ही उनका खण्डन। इसलिए इनमें जगत्परकता का अभाव है वस्तुतः इस कोटि के अभिकथन अनुभव के आधार पर सम्भव है। शब्दार्थपरक अभिकथन जगत् के बारे में कोई समाचार नहीं देते है अर्थात् वस्तु-स्थिति के बारे में अवगत नहीं कराते हैं। हेम्पल a=b और b=c तो a=c इस अभेद सम्बन्ध विषयक नियम को उदाहरण रूप में लेकर अपने तर्क की पुष्टि करते हैं। इसकी अनुभवनिरपेक्षता को स्वीकार करते हैं। उसमें जगत्परकता के अभाव का दावा करते हैं। हेम्पल गणित की तर्कशास्त्रीय परकतावाद को स्वीकार करते हैं। इस मत के अनुसार तर्कशास्त्र की परिधि में रहकर ही अंकगणितीय अपरिभाषित सम्प्रत्ययों जैसे शून्य, प्राकृतिक संख्या एवं अव्यवहित परवर्तित्व इत्यादि को परिभाषित किया जा सकता है। उनके मत में गणितशास्त्र का विस्तार केवल मूलरूप में तर्कशास्त्रीय सम्प्रत्ययों पर आधारित परिभाषाओं के आधार पर सम्भव होता है।[१०] गणितशास्त्रीय अभिकथनों की ज्ञानमीमांसीय कोटि वही है, जो तर्कशास्त्रीय अभिकथनों की है। गणित एवं तर्कशास्त्र के प्रतिपाद्य शब्दार्थपरक है एवं अनुभव पर आश्रित न होने के कारण वे तथ्यपरक नहीं है।

"गणितीय एवं तर्कशास्त्रीय अभिकथन शब्दार्थपरक एवं अनुभवाश्रित होते हुए भी अनुभवपरक विज्ञान में उनकी विशेष भूमिका है। वह भूमिका नये तथ्य बताने की नही है, केवल स्वीकृत तथ्यपरक अभिकथनों से कौन-से अन्य तथ्यपरक अभिकथन निगमित होते हैं वह अवगत कराता है।"

९७ गायत्री नगर, 'ए'
महारानी फार्म, दुर्गापुरा
जयपुर - ३०२०१८.

नरेन्द्र सिंह महला

टीप्पणियाँ

1. Mates, B The Philosophy of Leibnitz, Chapter-6, Oxford University Press, New York, 1986.
2. Leibnitz, G.W., New Essays on the Human Understanding, Chapter-1, Sec.5. Cambridge, University Press, London, 1982.
3. Hume, D., A Treatise of Human Nature, (Edited) L . A. Selby-Bigge, Oxford University Press, London, 1973, pp. 19-23.
4. Copleston, S.J. Frederick, A History of Philosophy, Vol. 5, Part-III, A Division of Doubleday & Company, Inc. New York, 1964.
5. Hume, D., A Treatise of Human Nature, (Edited) A.D., Lindsay, J.M. Dent & Sons Ltd,London, 1961, pp. 205-223.
6. Korner, S., The Philosophy of Mathematics, Harper & Brother's, New York, 1962, pp. 25-27.
7. Carnap, R., Foundations of Logic and Mathematics, Vol. I, University of Chicago Press, Chicago, 1959, p.2.
8. Ayer, A. J. Langauage, Truth and Logic, Oxford University Press, New York, 1946, pp. 93-94.
9. Benacerraf, P. and Hilary Putnam, Philosophy of Mathematics, Cambridge University Press, London, 1983, pp. 377-78.
10. Ibid. pp. 369-74.
11. Ibid, p. 379.

★

भाट्टमीमांसा में ज्ञान की अवधारणा

ज्ञान तथा उसका स्वरूप

भारतीय दर्शन की प्राय: सभी शाखाओं में ज्ञान का सर्वोपरी महत्त्व स्वीकार किया गया है । भारतीय चिन्तन की नास्तिक श्रेणी में प्रतिष्ठित महायान शाखा में अन्तर्भूत क्षणिक विज्ञानवादियों ने जहाँ एक मात्र प्रवाही क्षणिक विज्ञानधारा के रूप में तत्त्व का प्रतिपादन किया है, वहीं आस्तिक दर्शनों में मेरुमणि के रूप में अभिमत अद्वैत वेदान्त में एकमात्र नित्य विज्ञानात्मक ब्रह्म की सत्ता मानी गई है । दोनों प्रस्थानों में समस्त बाह्य प्रपंच को इस विज्ञानात्मक ज्ञान के विवर्त रूप में प्रतिपादित किया गया है ।

एकमात्र ज्ञान का ही अस्तित्व मानने वाले इन दोनों विज्ञानवादी दर्शनों के अतिरिक्त शून्यवादियों को छोडकर शेष समस्त दार्शनिकन प्रस्थान ज्ञान से भिन्न रूप में बाह्य पदार्थों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं अत: ये सभी वस्तुवादी दर्शन कहे जाते हैं । इनमें भी ज्ञान के स्वरूप तथा उसकी ज्ञप्ति के सन्दर्भ में नैयायिक, प्रभाकर तथा भाट्टों में विशेष रूप से मतभेद दृष्टिगोचर होता है ।

न्याय तथा मीमांसा में ज्ञान से विषय की भिन्नता के सन्दर्भ में एकरूपता होने पर भी ज्ञान के स्वरूप तथा उसकी ज्ञप्ति के सन्दर्भ में परस्पर विरोध है । विषयों को ज्ञान का आकार मानने के बौद्ध सिद्धान्त के विरुद्ध नैयायिक विषय को ज्ञान का आकार नहीं मानते । योगाचार तथा वैभाषिक इन दोनों बौद्ध सम्प्रदायों में ज्ञान को साकार माना गया है । इस ज्ञान का आकार ही योगाचार के मतानुसार विभिन्न पदार्थों के रूप में भासित हुआ करता है । वैभाविक बौद्ध ज्ञान का अपना कोई आकार नहीं मानते । ज्ञान के विषयरूप पदार्थों के आकार से ज्ञान को आकारित स्वीकार करते हैं । बौद्धों के इस ज्ञान आकारवाद के सिद्धान्त के विपरीत न्यायदर्शन में ज्ञान को निराकार तथा आत्मा का गुण माना गया है । इनके मतानुसार अयं घट: (यह घट है) यह व्यवसायात्मक ज्ञान आत्मा के गुण के रूप में उत्पन्न होता है तथा अहं घटं जानामि इस मानस-प्रत्यक्ष रूपी अनुव्यवसायात्मक ज्ञान से इसका ग्रहण होता है अत: न्यायमत में ज्ञान प्रत्यक्षगम्य पदार्थ माना गया है ।[२]

ज्ञान की अतीन्द्रियता

मीमांसा-दर्शन में प्रभाकर ने ज्ञान, ज्ञाता तथा ज्ञेय, इन तीनों की एक साथ अनुभूति को प्रमाण मानते हुए समान-संवित्-संवेद्यता से विषय तथा ज्ञाता के साथ ज्ञान को भी त्रिपुटी-प्रत्यक्ष का विषय स्वीकार कर ज्ञान की प्रत्यक्षवेद्यता का प्रतिपादन किया है ।[३]

प्रभाकर के सिद्धान्त के विपरीत आचार्य कुमारिल भट्ट ने शाबरभाष्य के आधार पर ज्ञान की अतीन्द्रियता स्थापित की है । शबरस्वामी का कहना है कि अर्थ के अज्ञात रहने पर कोई ज्ञान उत्पन्न नहीं होता । अर्थज्ञान होने पर (अर्थनिष्ठ ज्ञातता के बल पर) अनुमान द्वारा ज्ञान का बोध हो जाता है ।[४] शबरस्वामी के इस कथन के आधारपर आचार्य कुमारिलभट्ट ने ज्ञातता या प्राकट्य के आधार पर ज्ञान की अर्थापत्तिगम्यता का प्रतिपादन करते हुए इसे अतीन्द्रिय पदार्थ निरूपित किया है । श्लोकवार्तिक में इनका कहना है कि जिस प्रकार ज्ञान की शक्ति-स्वरूपा वासना अपनी उत्पत्तिशीलता के कारण अथवा वासनात्व के कारण न स्वकीय अंश को ग्रहण करती है न स्व के किसी भी अंश से गृहीत होती है, उसी प्रकार ज्ञान भी अपनी उत्पत्तिशीलता के कारण अथवा ज्ञान होने के नाते (ज्ञानत्व के कारण) न तो अपने किसी अंश को ग्रहण करता है और नहीं अपने किसी अंश से गृहीत होता है।[५]

ज्ञान की अर्थापत्तिगम्यता

ज्ञान की स्वसंवेद्यता में अपनी असहमति व्यक्त करने के पश्चात् कुमारिल भट्ट ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापति को ज्ञान के ग्राहक प्रमाण के रूप में प्रकाशित करते हैं । श्लोकवार्तिक के शून्यवाद निराकरण - सन्दर्भ में इनका कहना है कि ''घटादि अर्थों का जब तक ज्ञान नहीं होता तब तक 'ज्ञातो मया घट:' इस प्रकार की घटनिष्ठ ज्ञातता का भी प्रतिसन्धान नहीं होता । घटादि अर्थों का ज्ञान होने के बाद ही 'ज्ञातो मया घट:' ऐसी अर्थनिष्ठ ज्ञातता-विषयिणी प्रतीति निष्पन्न हो जाती है इसलिए ज्ञाततान्यथानुपपत्ति-प्रसूतार्थापत्ति के अर्थज्ञान के पूर्व, अर्थ में ज्ञातत्त्व न होने के कारण उत्पन्न न होने से तथा अर्थज्ञान हो जाने के बाद अर्थनिष्ठ ज्ञातत्व की (ज्ञान रूप कारण के अभाव में होने वाली) अनुपपत्ति से ज्ञान ज्ञातत्व का कारण है, इस अर्थापत्ति प्रमाण के उत्पन्न हो जाने से यह सुनिश्चित हो जाता है कि यह अर्थापत्ति ही ज्ञान का प्रतिसन्धान करने वाला ज्ञान-ग्राहक प्रमाण है ।[६]

पार्थसारथि मिश्र के मत में मानस प्रत्यक्षगम्य सम्बन्ध तथा अर्थापत्ति की ज्ञान ग्राहकता

आचार्य पार्थसारथि मिश्र आत्मा तथा ज्ञेय के मानस प्रत्यक्षगम्य सम्बन्ध तथा

ज्ञानजन्य विषयनिष्ठ ज्ञातत्व या प्राकट्य इन दोनों तत्त्वों का ज्ञान के कल्पक के रूप में प्रतिपादन करते हैं। इनमें प्रथम आत्मा तथा विषय के सम्बन्ध में इनका कहना है कि अयं घट: (यह घट है) इस प्रकार के व्यवसायात्मक ज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर घटज्ञान के कर्ता (आत्मा) तथा विषयभूत घट, इन दोनों के मध्य घटज्ञान द्वारा एक व्याप्तृव्याप्यत्वरूप सम्बन्ध उत्पन्न हो जाता है जिसका प्रतिसन्धान 'ज्ञातो घट:' इस मानस-प्रत्यक्ष द्वारा निष्पन्न होता है। विषय तथा आत्मा के बीच उत्पन्न होने वाले इस सम्बन्ध को पार्थसारथि ज्ञान का कल्पक (ग्राहक) मानते हैं। इस सन्दर्भ में इनका कहना है कि बिना किसी आगन्तुक कारण के आत्मा का अर्थ के प्रति व्याप्तृत्व उत्पन्न नहीं होता। आत्मा के विषय के साथ व्याप्तृत्व के इस कारण को ही लोक में ज्ञान-शब्द द्वारा अभिहित किया जाता है।[७]

पार्थसारथि का कहना है कि "ज्ञान" को स्वयंप्रकाश मानने वालों को भी 'ज्ञातो मया घट:' इस मानस-प्रत्यक्ष के विषयभूत आत्मा तथा विषय के उक्त व्याप्तृव्याप्यत्वरूप सम्बन्ध को मानना अनिवार्य है, अन्यथा 'ज्ञातो मया घट:' इस ज्ञाता-ज्ञेय या ज्ञान तथा ज्ञेय के सम्बन्ध का व्यवहार नहीं हो सकेगा। यह नियम है कि जितने अर्थ का प्रकाशन होता है उतने का ही व्यवहार हो सकता है। अन्य का नहीं। प्रकृत-स्थल में संवित् (ज्ञान) स्वयं प्रकाशित होता है तथा अर्थ (विषय) भी उसके द्वारा प्रकाशित हो जाता है ऐसा मान भी लिया जाए तो भी ज्ञानसम्बन्ध किससे प्रकाशित होगा? वह भी इसी संवित् से प्रकाशित हो जाएगा ऐसा मानें तो यह सम्भव नहीं है क्योंकि जब ज्ञान उत्पन्न हो रहा था उस समय ज्ञान का विषय के साथ सम्बन्ध निष्पन्न ही नहीं हुआ था। ज्ञान का ज्ञेय (विषय) के साथ जो सम्बन्ध है वह मात्र प्रकाशकत्व ही हो सकता है। इसके अतिरिक्त ज्ञान का ज्ञेय के साथ अन्य कोई भी सम्बन्ध सम्मत नहीं है। संवित् (ज्ञान) के उत्पन्न हो जाने पर विषय के प्रकाशित हो जाने के पश्चात् निष्पन्न होने वाले सम्बन्ध को उसी संवित् का विषय नहीं माना जा सकता क्योंकि संवित् अपने तथा अपने अर्थ को प्रकाशित कर अपने प्रकाशन-व्यापार से विरत हो जाती है। पुनश्च उसके द्वारा सम्बन्ध को विषय नहीं बनाया जा सकता। संवित् क्षणिक होने से प्रथम अर्थ को प्रकाशित कर बाद में सम्बन्ध को भी प्रकाशित करे यह सम्भव नहीं है। सम्बन्ध स्वयं प्रकाशि हो जाएगा ऐसा माना जाए तो यह भी सम्भव नहीं है। ज्ञान तथा ज्ञेय के इस प्रकाशित्व सम्बन्ध के स्वयं प्रकाशित होने में कोई प्रमाण नहीं है फलत: केवल यही मार्ग अवशिष्ट रह जाता है कि घटादि अर्थों का ज्ञान हो जाने पर इन घटादि विषयों के साथ आत्मा के मानस-प्रत्यक्षगम्य व्याप्य-व्याप्तृत्वरूपी प्रकाशकत्व सम्बन्ध को ही ज्ञान का कल्पक

(ग्राहक) माना जाए ।[८]

अयं घट: (यह घट है) इस प्रकार के घटादि के प्रत्यक्ष हो जाने पर उक्त मानस-प्रत्यक्षगम्य सम्बन्ध से जिस प्रकार घटादि-अर्थविषयक ज्ञान का ग्रहण हुआ था उसी प्रकार अर्थ की अनुमिति हो जाने के पश्चात् अनुमेय अर्थ के ज्ञान का भी इसी सम्बन्ध से ग्रहण हो जाता है । इसी प्रकार स्मृतिज्ञान तथा अन्य सभी परोक्ष ज्ञानों का भी ग्रहण इस व्याप्यव्याप्तृत्वरूपी प्रकाशकत्व सम्बन्ध से निष्पन्न हो जाने से इस सम्बन्ध को सभी ज्ञनों का ग्राहक माना गया है । उक्त मानस प्रत्यक्षगम्य सम्बन्ध के अतिरिक्त विषयनिष्ठ ज्ञानजन्य ज्ञातता, ज्ञातृत्व या प्राकट्यरूपी अतिशय को भी पार्थसारथि मिश्र उसके जनक ज्ञान का कल्पक (ग्राहक) प्रतिपादित करते हैं ।[१०]

ज्ञातता या प्राकट्य की ज्ञानभिन्नता

घटादि विषयों का ज्ञान होने पर उनमें ज्ञान द्वारा उत्पादित प्राकट्य या ज्ञातता के आधार पर विवेचित अर्थापत्ति द्वारा ज्ञान की ग्राहकता के सिद्धान्त पर पूर्वपक्षियों की यह आपत्ति है कि विषय में ज्ञानजन्य ज्ञातता ज्ञान से भिन्न नहीं है अपितु ज्ञानस्वरूप है अत: इसके आधार पर अपने स्वरूप भूत ज्ञान का ग्रहण कैसे माना जा सकता है ? पूर्वपक्ष के इस प्रश्न के मूल में निहित ज्ञान तथा ज्ञातता का अभेद या एकरूपता भाट्टमीमांसकों को अभिमत नहीं है । उनका कहना है कि ज्ञान द्वारा विषय में जो प्राकट्य या ज्ञातता उत्पन्न होती है, उसे ज्ञान स्वरूप नहीं माना जा सकता क्योंकि ज्ञातता या प्राकट्य का अधिकरण घट है जबकि ज्ञान का अधिकरण आत्मा है अत: परस्पर भिन्न अधिकरणवृत्ति दोनों को एकरूप नहीं माना जा सकता। दोनों की भिन्नता व्यवहार से भी सिद्ध हो जाती है । घट के विषय में ''घटो भाति'' ऐसा प्रयोग हुआ करता है, घटो जानाति ऐसा प्रयोग नहीं होता । यदि ज्ञान तथा विषयनिष्ठ प्रकाश, प्राकट्य या ज्ञातत्व एक होते तो ऐसा प्रयोग भी होना चाहिए था। इसी प्रकार जैसे ' घटं जानाति' यह प्रयोग होता है वैसे 'घटं भाति' यह प्रयोग नहीं होता । ज्ञान तथा प्रकाश या प्राकट्य या ज्ञातता की एकरूपता में दोनों में से एक के स्थान पर दूसरे के प्रयोग की निष्पत्ति हो जाती परन्तु ऐसा होता नहीं है अत: यह सुनिश्चित है कि ज्ञान तथा विषयनिष्ठ प्रकाश या प्राकट्यरूप ज्ञातत्व पृथग् है ।[११] यह प्राकट्य या प्रकाश ज्ञान से पृथग् होने के कारण इसके आधार पर ज्ञाततान्यथानुपपत्तिरूपार्थापत्ति द्वारा ज्ञान की ग्राहकता प्रमाणित हो जाती है ।

ज्ञानभेद तथा ज्ञान का स्वत: प्रमाण्य

भारतीय चिन्तन के दार्शनिक प्रस्थानों में प्राभाकरों तथा विशिष्टाद्वैतियों को

छोडकर प्राय: सभी दार्शनिक सम्प्रदायों ने ज्ञान को यथार्थ तथा अयथार्थ, इन दो वर्गों में विभाजित किया है । न्यायदर्शन में अनुभव तथा स्मृति को यथार्थ ज्ञान तथा इनसे भिन्न संशय, विपर्यय तथा तर्कज्ञान को अयथार्थ माना गया है ।[१२] प्राभाकरी मीमांसा में सभी ज्ञानों को यथार्थ मानकर अख्याति के आधार पर अन्य सम्प्रदायों में प्रतिपादित मिथ्याज्ञान की स्थिति में होने वाली विसङ्गति की उपपत्ति प्रदर्शित की गई है ।[१३] मीमांसा के भाट्ट सम्प्रदाय में भी नैयायिकों के समान ज्ञान के 'यथार्थ' तथा 'अयथार्थ' ये दो भेद स्वीकार किए गये हैं । कमलाकर भट्ट ने मीमांसा-कुतूहल में ज्ञानरूप बुद्धि के प्रथम 'अनुभव' तथा 'स्मृति' ये दो भेद प्रदर्शित करने के पश्चात् अनुभवात्मक ज्ञान के यथार्थ तथा अयथार्थ ये दो भेद निरूपित किए हैं । इनमें प्रथम अनुभवात्मक यथार्थ ज्ञान को ही प्रमाणजन्य मानकर इन्होंने प्रमा के रूप में प्रतिपादित किया है ।[१४]

ज्ञान के यथार्थ तथा अयथार्थ रूपी भेद को यद्यपि नैयायिकों के अनुरूप भाट्टमीमांसकों ने भी स्वीकार किया है तथापि इनके मत में वैशिष्ट्य यह है कि अनुभूतिकाल में ये सभी ज्ञानों को यथार्थ ज्ञान के रूप में ही स्वीकार करते हैं । यथार्थ रूप से गृहीत ज्ञान के विषय में होने वाली प्रवृत्ति यदि विफल हो जाए तभी ये पूर्वगृहीत ज्ञान की अयथार्थता को स्वीकार करते हैं । न्यायमत में ज्ञान यथार्थ तथा अयथार्थ इन दोनों कोटियों से विलक्षण रहता हैं । प्रवृत्ति सफल होने पर इनके मत में ज्ञान का याथार्थ्यरूपी प्रामाण्य सफल प्रवृत्ति-हेतु-मूलक अनुमान से सुनिश्चित हुआ करता है । ज्ञान का ग्रहण अनुव्यवसाय से तथा याथार्थ्य रूपी प्रामाण्य का ग्रहण ज्ञानग्राहक सामग्री से परत: अनुमान से गृहीत होने के कारण ज्ञानप्रामाण्य के सन्दर्भ में न्यायमत परत: प्रामाण्य का दृष्टिकोण उपस्थापित करता है । ज्ञान के विषय में होने वाली प्रवृत्ति विफल होने पर प्रवृत्ति-वैफल्यमूलक अनुमान से ज्ञान के अप्रामाण्य का प्रतिपादन होने के कारण न्यायमत में अप्रामाण्य भी परत: स्वीकार किया गया है ।

नैयायिकों के विपरीत अप्रामाण्य को परत: स्वीकार करने पर भी विधिवाक्य द्वारा निरूपित यागकर्तव्यतारूपी धर्म में संशयरहित प्रवृत्ति को सुनिश्चित करने के लिए भाट्टों ने सर्वप्रथम ज्ञानान्तर से बाधरहित, संशयरहित तथा पक्के तौर पर उत्पन्न होने वाले अनुभावात्मक ज्ञान को प्रमा निरूपित किया है ।[१५] तथा ज्ञान-ग्राहक के रूप में प्रदर्शित ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूतार्थापत्ति को ही ज्ञान के प्रामाण्य का भी ग्राहक निरूपित करते हुए वेद के सर्वोच्च प्रामाण्य की रक्षा हेतु स्वत: प्रामाण्यवाद के सिद्धान्त की स्थापना की है ।

ज्ञान की द्विविधता

भाट्ट सम्प्रदाय में ज्ञान को आत्मा का गुण माना गया है । मानमेयोदयकार नारायण-पण्डित ने गुणनिरूपण-प्रसङ्ग में चौबीस गुणों में बुद्धि (ज्ञान) की गणना की है ।[१६] तथा आत्मा के छह विशेष गुणों में एक विशेष गुण के रूप में ज्ञान को स्थापित किया है ।[१७] आत्मा के विशेष गुण के रूप में ज्ञान को नैयायिकों ने भी स्वीकार किया है ।[१८] परन्तु नैयायिकों के सिद्धान्त से भाट्टसिद्धान्त का अन्तर इतना ही है कि जहाँ नैयायिक ज्ञान को मात्र गुण मानते हैं वहाँ भाट्टमीमांसक ज्ञान को गुण मानते हुए उसे क्रियास्वभाव प्रतिपादित करते हैं । आचार्य कुमारिल भट्ट का कहना है कि (घटादि) विषय में बुद्धि की उत्पत्ति (ज्ञान का होना) ही विषय-प्रकाशनरूप क्रिया कहलाती है तथा इस ज्ञान द्वारा ही अर्थ का प्रकाशनरूप फल प्राप्त होता है। अत: इस दृष्टि से यह प्रकाशक होने से करण भी कहलाता है ।[१९] भाट्टमीमांसकों द्वारा ज्ञान को गुणरूप होने के साथ क्रियारूप मानने पर जयन्तभट्ट का यह आक्षेप है कि यदि ज्ञान को क्रियास्वभाव माना जाए तो फिर उसे प्रत्यक्ष मानना होगा । अतीन्द्रिय नहीं । उत्क्षेपणादि समस्त क्रियाएँ प्रत्यक्षगम्य हों परन्तु ज्ञानरूप क्रिया अप्रत्यक्ष हो यह विभाग मानना युक्तिसङ्गत नहीं है ।[२०]

भाट्टमीमांसकों का इस आशङ्का पर यह समाधान है कि क्रियास्वभाव मान लेने से ज्ञान की अतीन्द्रियता बाधित नहीं होती । प्रत्येक क्रिया प्रत्यक्षगम्य ही हो यह आवश्यक नहीं है । याग भी एक स्वर्गजनक क्रिया है परन्तु स्वर्गजनकत्व रूप से इसका अवबोध प्रत्यक्ष से नहीं होता अपितु 'यजेत स्वर्गकाम:' जैसे वेदवाक्यों द्वारा ही हुआ करता है । लौकिक स्थल में भी 'पचति' पदवाच्य विक्लतित क्रिया भी प्रत्यक्ष नहीं है अपितु अपने कर्मओदन में विष्पन्न पाकरूप फल के द्वारा अनुमित होती है । इसी प्रकार 'ज्ञान' क्रिया-स्वभाव होने पर भी इसे प्रत्यक्ष ही माना जाए यह आवश्यक नहीं है ।[२१]

ज्ञान की द्विविधता तथा ज्ञातता-सिद्धान्त का प्रयोजन

भाट्ट-सम्प्रदाय में प्राप्त सन्दर्भो के आधार पर ज्ञान गुण तथा क्रिया इन दो रूपों में अभिव्यक्त हुआ है । भाट्टमीमांसा में आत्मा की नित्यज्ञान शक्ति से अभिव्यक्त ज्ञान यद्यपि गुण पदार्थ है तथापि भाट्ट मत में न्याय-वैशेषिक के अनुरूप क्रिया को परिस्पन्दात्मक रूप में ही न मानकर धात्वर्थ मात्र को क्रिया माना गया है। इन्द्रिय तथा अर्थ के सम्बन्ध द्वारा जब आत्मा का बाह्य अर्थ के साथ सम्बन्ध होता है, उस समय उसमें बाह्यार्थविषयक ज्ञानात्मक परिणाम को गुण के साथ ही क्रियास्वभाव माना गया है ।

एक ही पदार्थ गुण तथा क्रियास्वभाव दोनों रूपों में कैसे सम्भव है ? यह आशङ्का करें तो यह भी समीचीन नहीं है । विशेष परिस्थितियों में एकरूप में स्वीकृत पदार्थ को दूसरे रूप में भी माना जा सकता है । 'यजेत स्वर्गकाम:' यहाँ पर याग को साधन तथा स्वर्ग को साध्य माना गया है । दोनों के इस साध्य-साधनभाव की उपपत्ति के लिए अपूर्व की परिकल्पना की गई है । यह अपूर्व याग की दृष्टि से साध्य तथा स्वर्ग की दृष्टि से साधन-रूप में भी अभिव्यक्त होता है ।[२२]

ज्ञान की द्विविधता का सिद्धान्त केवल भाट्टमीमांसा में ही परिलक्षित हुआ हो ऐसी बात नहीं है । अनेक दर्शनसम्प्रदायों में ज्ञान की द्विविधरूपता अभिव्यक्त हुई है । सांख्ययोग में ज्ञान वृत्तिरूप में तथा उससे सर्वथा भिन्न पुरुष के रूप में भी प्रतिपादित किया गया है । अद्वैत-वेदान्त में अन्त:करण की वृत्ति तथा ब्रह्म के रूप में दो प्रकार का निरूपित किया गया है । विशिष्टाद्वैत में पराक् अजड-रूप में 'धर्मभूतज्ञान तथा प्रत्यक् अजड रूप में धर्मीभूत ज्ञान के रूप में ज्ञान पदार्थ का द्वैविध्य स्पष्ट है । अत: भाट्मत में भी गुणरूप में प्रतिपादित ज्ञान की क्रियास्वभावता के प्रतिपादन को असमीचीन नहीं कहा जा सकता ।

ज्ञान के द्वैविध्य के साथ ही ज्ञान द्वारा विषय में ज्ञातता की उत्पत्ति तथा उसके बल पर अर्थापत्ति द्वारा ज्ञान की ग्राह्यता का सिद्धान्त भी भाट्ट सम्प्रदाय का अपना वैशिष्ट्य है । यागात्मक कर्म की सङ्गति ही इस भाट्टाभिमत ज्ञातता-सिद्धान्त का एकमात्र प्रयोजन परिलक्षित होता है । मीमांसा द्वारा विवेच्य याग के द्रव्य तथा देवता ये दो अंश माने गये हैं । इनमें द्रव्यरूप ज्ञान के विषय को क्षणिक विज्ञानवादियों तथा अद्वैतवादियों के अनुरूप ज्ञान का आकार या विवर्त मानने पर इनसे निष्पन्न याग भी अलीक पदार्थ बन जाता है जिसे सर्वोपरि स्थापित करने के लिए मीमांसा प्रवृत्त हुई है । इस याग रूप कर्म में विनियुक्त होने वाले द्रव्य की यथार्थ सत्ता स्थापित करने के लिए ही ज्ञान की ग्राहकता में बाह्य अर्थ-निष्ठ ज्ञातता के सिद्धान्त का तथा ज्ञान के स्वत: प्रामाण्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है । ज्ञाततासिद्धान्त के मूल में शून्यवादियों, विज्ञानवादियों तथा अद्वैतवेदान्तियों के अनुसार विषय को ज्ञान का विवर्त मानने के सिद्धान्त का निराकरण कर जिन व्रीहि आदि द्रव्यों पर कर्मकाण्ड आश्रित है उन बाह्य विषयों की सत्ता स्थापित करने की भावना निहित है । कुमारिल भट्ट ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि – "जिन्हें धर्म की सिद्धि करनी है, उन्हें लोकसम्मत प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा अर्थ (विषय) के सद्भाव तथा असद्भाव पर विचार करते हुए पूर्वपक्ष निराकरणपूर्वक क्रिया कर्मानुष्ठान की सङ्गति के लिए अवश्य प्रयास करना चाहिए ।[२३]

प्रस्तुत वार्तिक की न्यायरत्नाकर व्याख्या में व्याख्याकार पार्थसारथि मिश्र का कहना है कि- "यदि समग्र ज्ञान बाह्यार्थशून्य होंगे तो ऐसी स्थिति में धर्म में वेद प्रमाण हैं अन्य अप्रमाण हैं । इन्द्रिय संयोग से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है इन्द्रिय-संयोग के बिना होने वाला ज्ञान आभासमात्र है । ज्योतिष्टोमादि कर्म पुण्य हैं, ब्रह्महत्यादि कर्म पाप हैं, कुछ कर्म स्वर्गफल वाले हैं, कुछ कर्म अनियत फलवालें हैं, कुछ वृष्टि आदि ऐहिक फल प्रदान करने वाले हैं । पाप-पुण्य के ये भेद, कर्म के विभाग, ये सभी वेदादि को अपने ज्ञान से पृथक् न मानने पर अयुक्त हो जाते हैं अत: जिन्हें धर्म की अभिलाषा है ऐसे पुरुषों के लिए यह आवश्यक है कि वे सुगत (बुद्ध) के आशीर्वादरूपी सिद्धान्त में माहायानिक आदियों के मिले हुए विषरूपी सिद्धान्तों का परामर्श करते हुए लोकसम्मत प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा प्रमाणित बाह्यार्थों का सद्भाव कर्मानुष्ठान की सङ्गति के लिए अवश्य स्वीकार करें ।[२४]

कुमारिल भट्ट के वार्तिक तथा इस पर पार्थसारथि मिश्र की उक्त व्याख्या के प्रकाश में भाट्टमीमांसकों द्वारा प्रतिपादित ज्ञातता-सिद्धान्त तथा उसके आधार पर स्थापित स्वत: प्रामाण्यवाद के मूल में निहित वेदार्थ (कर्म) के सङ्गति की इनकी भावना स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हो जाती है ।

सोमनाथ नेने

एफ २-५/१९
विश्वविद्यालय परिसर
उज्जैन (म. प्र.) ४५६०१०

टिप्पणियाँ

१. सर्वञ्च ज्ञानं निराकारमेव, तर्कभाषा, पृ. ५४७, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, १९९०

२. बुद्धयाद्य षट् मानसप्रत्यक्षा: तर्कभाषा, पृ. ४६९

३. साक्षात्प्रतीति: प्रत्यक्षं मेयमातृप्रमासु सा । प्रकरण-पञ्चिका, अमृतकला, पृ. १०४ एवं मेयमात्रवभासरूपा संविदेका । वही, पृ. १७१

४. "न हि अज्ञातेऽर्थे कश्चिद् बुद्धिमुपलभते । ज्ञाते तु अनुमानादवगच्छति।" - शाबरभाष्य अ. १ पा. १, सू. ५, मीमांसा-दर्शनम्, पृ. २७९, भारतीय विद्या -प्रकाशन, वाराणसी, १९७९

५. "ज्ञान स्वांशं नगृह्णाति ज्ञानोत्पत्ते: स्वशक्तिवत् ।" - श्लो. वा. अ. १,

पा. १, सू. ५, शून्यवाद वार्तिक संख्या १७५, मीमांसा दर्शनम् , पृ.२६२

६. नान्यथा ह्यर्थसद्भावो दृष्टः सन्नुपपद्यते ।
ज्ञानं चेन्नेत्यः पश्चात्प्रमाणमुपजायते ।।'' - श्लो. वा. अ. १, पा. १, सू. ५, शून्यवाद वा. १८२ मीमांसादर्शनम्, पृ. २६२

७. अथवा ज्ञानक्रियाद्वारको यः कर्तृभूतस्यात्मनः कर्मभूतस्य चार्थस्य परस्परं सम्बन्धो व्याप्तृव्याप्यत्वलक्षणः स मानसप्रत्यक्षावगतो विज्ञानं कल्पयति, नह्यागन्तुककारणमन्तरेणात्मनोऽर्थं प्रति व्याप्तृत्वमुत्पत्तुमर्हति । तच्च कारणं लोके ज्ञानशब्देनाभिधीयते । शास्त्रदीपिका, पृ. ५६, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, १९८८

८. येऽपि स्वप्रकाशां संविदमातिष्ठन्ते तैरप्ययं सम्बन्धो मानसप्रत्यक्षगम्योऽवश्यमभ्युपगमनीयः । अन्यथा 'ज्ञातो मया घटः' इति ज्ञानज्ञेयसम्बन्धो ज्ञातृज्ञेयसम्बन्धो वा न व्यवहर्तुं शक्यते । यन्मात्रं हि प्रकाशितं तन्मात्रमेव व्यवहर्तुं शक्यते नान्यत् । इह च संविन्मात्रं स्वयं प्रकाशितं, अर्थोऽपि तद्वशात्, ज्ञानसम्बन्धसतु केन प्रकाशितः । सोऽपि तयैव संविदा प्रकाशित इति चेत् । न तदुत्पत्त्यवस्थायां सम्बन्धस्यानिष्पन्नत्वात् । प्रकाशकत्वमेव हि संविदा विषयेण - सम्बन्धो नान्यः, तेन जातायां संविदि विषये च प्रकाशिते निष्पद्यमानः सम्बन्धो न तया संविदा शक्यते विषयकर्तुम्, विरम्यव्यापारासंभवात् । न हि प्रथममर्थं प्रकाश्य पुनः सम्बन्धं प्रकाशयितुमर्हति क्षणिकत्वात् । अथ सम्बन्धोऽपि स्वयं प्रकाशत इति मन्येथाः नात्र प्रमाणमस्ति । तस्मान्मानसप्रत्यक्षगम्योऽर्थेन सहात्मनः सम्बन्धो ज्ञानं कल्पयतीति रमणीयम् ।, वही, पृ. ५६

९. अनुमितेऽपि चार्थे, ज्ञातो मयाऽग्निरिति अग्निं ज्ञातमनुसंधत्तेऽस्तत्त्वं वक्तव्यं, ज्ञाने प्रमाणमुच्यते ज्ञानक्रियाजनितो ज्ञातुज्ञर्येयेन सहाऽऽप्तत्वसंबन्ध.... ।'' न्यायरत्नाकर - व्याख्या, मीमांसादर्शनम् पृ. २६३.

१० अर्थगतो वा ज्ञानजनयोऽतिशय. कल्पयति ज्ञानम्, शास्त्रदीपिका, पृ. ५६-५७.

११ स च प्रकाश-पदार्थो घटसमानाधिकरणः । स एव ज्ञानस्य कल्पकः, ज्ञानाच्च भिन्न । तस्य ज्ञानरूपत्वे घटसामानाधिकरण्यमनुपपन्नं स्यात् । ज्ञानं हि आत्मसमवेतमात्मसमानाधिकरणतयैव भासमानं कथं घट समानाधिकरणं स्यात्? अन्य समवेतस्यान्यसमानाधिकरणत्वेऽतिप्रसङ्गात् । शब्दप्रयोगबलादपि ज्ञानप्रकाशयोर्भेदो भवति । 'घटो भाति' इतिवन्न 'घटोजानाति' इति प्रयोगः। 'घटं जानाति' इतिवच्च न 'घटं भाति' इति प्रयोगः । ज्ञान-प्रकाशयोरेकरूपत्वे जानाति-पर्यायाणां भातिपर्यायाणाञ्च साङ्कर्यं भवेत् । न चैतदस्ति । अतश्च

भानप्रकाश पदार्थो न ज्ञानपदार्थः । अतिरिक्तश्च प्रकाश-पदार्थः ज्ञानस्य कल्पक इति सिध्यति । (मीमांसा-दर्शन-विमर्शः, पृ.८६, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९७६

१२. सा च संक्षेपतो द्विविधा । अनुभवःस्मरणञ्च । अनुभवोऽपि द्विविधो, यथार्थोऽयथार्थश्चेति । अयथार्थस्तु अर्थव्यभिचारी, अप्रमाणजः । स त्रिविधः । संशयस्तर्को विपर्ययश्चेति ।'' तर्कभाषा, पृ.५४७

१३. प्रकरण-पञ्चिका, पृ.४८ से ६२, काशी-हिन्दु-वि.वि. प्रकाशन, वाराणसी

१४. बुद्धिर्ज्ञानम् । सा द्विधा । अनुभवः स्मृतिश्च । अनुभवोद्विधा यथार्थोऽयथार्थश्च। आद्यःप्रमाणजन्य । सैव प्रमा । मीमांसाकुतूहलम्, पृ. ७२, सम्पूर्णानन्द संस्कृत-विश्वविद्यालय, वाराणसी १९८७

१५. तस्माद् दृढं यदुत्पन्नं नापि संवादमृच्छति ।
ज्ञानान्तरेण विज्ञानं तत् प्रमाणं प्रतीयताम् ।। श्लोकवार्तिक २.८०, मीमांसादर्शनम् भारतीय विद्या-प्रकाशन, वाराणसी, १९७९, पृ. ५३

१६. लक्षणलक्षितो गुणः रूपरसगन्धस्पर्श-संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वस्नेह बुद्धिसुखदुःखेच्छा - द्वेष - प्रयत्नसंस्कारध्वनिप्राकट्यशक्तिभेदाच्चतुर्विंशतिविध।'' - मानमेयोदय, पृ. २४०, थियोसोफिकल पब्लिशिंग हाऊस, अड्यार मद्रास, १९३३

१७. बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्ना आत्मविशेषगुणाः । वही, पृ. २४८

१८. बुद्ध्यादयस्तु विशेषगुणाः । गुणत्वे सत्येकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वाद्, रूपवत् अतो न दिगादिगुणाः । तस्मादेभ्योऽसृभ्यो व्यतिरिक्तोबुद्ध्यादीनां गुणानामाश्रयो गुणी वक्तव्यः स एवात्मा । तर्कभाषा, पृ. २५७

१९. तेन जन्मैव विषये बुद्धेर्व्यापार इष्यते ।
तदेव च प्रमारूपं तद्वती करणं च धीः ।। श्लोकवार्त्तिक, अ.१., पा. १ सू.४, वा. ५६

२०. क्रियास्वभावत्वे तस्य प्रत्यक्षत्वमेव स्यात् न त्वनुमेयत्वम् । उत्क्षेपणादयः क्रियास्सर्वा अपि प्रत्यक्षाः ज्ञानक्रिया परमप्रत्यक्षमिति विभागो न मुक्तिसंगतः। - मीमांसा-दर्शन-विमर्शः पृ.९०

२१. किञ्च यागादिनिष्ठं यत्करणत्वं तदप्यपूर्व-साधनत्वेनैवोपपादनीयम् । यागो व्यापारः कामं भवतु प्रत्यक्षः किन्तु तत्र विद्यमानमपूर्वसाधनत्वमतीन्द्रियमेव अतएव यागत्वेन यागो न धर्मः किन्त्वपूर्वसाधनत्वमतीन्द्रियमेव अतएव यागत्वेन यागो

न धर्मः किन्त्वपूर्वसाधनत्वेनैव सो धर्मः । श्रेयस्साधनता ह्येषां नित्यं वेदात्प्रतीयते (श्लो. वा. इति वार्तिककार वदन्ति । एत्रञ्चोत्क्षेपणादीनां क्रियाणां प्रत्यक्षत्वेऽपि काश्चन क्रिया अप्रत्यक्षा अपि स्वकर्तव्या एव । .... । विक्लत्तिरूपा च क्रिया न प्रत्यक्षेण सिध्यति, किन्तु फलेनौदनेन साऽनुमीयते अत्र स्थालीपुलाकनयायोऽप्यानुकूल्यमावहति । अङ्गुलिभिः पुलाकं स्पृशन्तो लोका वदन्ति विक्लित्तिर्न जाता पक्वमोदनञ्चानुभवन्तो जाता विक्लत्तिरिति । एवञ्चानुमेया अपि क्रियायास्सत्वात् ज्ञानस्यापि क्रियास्वाभाव्येऽनुमेयत्वमवयाहतमिति । वही, पृ.९१, पंक्ति ६ से २३

२२. 'यजेत स्वर्गकाम' इति वाक्यावबोधितस्य यागस्वर्गयोस्साध्यसाधन-भावस्योपप त्तयेऽर्थापत्तिप्रमाणेन मध्येऽपूर्वं कल्पयते । तच्चापूर्वं साध्यमपि भवति साधनमपि। वही, पृ. ९०, पं. २६ सं. पृ.९१, पं. २

२३. तस्माद्धर्मार्थिभिः पूर्वं प्रमाणैर्लोकसम्मतैः ।
अर्थस्य सदसद्भावे यत्नः कार्यः क्रियां प्रति ।। श्लो. वा. अ. १, पा.१ सू.५ वा.४, मीमांसादर्शनम् पृ. १७९

२४. दृष्टव्य न्यायरत्नाकर व्याख्या, मीमांसादर्शनम्, पृ. १८० पं. ७ से १६

शांकरदर्शन में मानव व्यक्ति का महत्त्व

भारतीय समाज का पारम्परिक जीवन-मूल्य मूलत: आध्यात्मिकता पर ही अधिष्ठित रहा है तथापि भौतिकता का अनिवार्यत: पूर्ण निषेध समाज में कभी स्वीकृत नहीं रहा। फिर, जब जीवन के प्रति दृष्टिकोण की चर्चा हो तो, आध्यात्मिकता और भौतिकता का अनिवार्य सह-सम्बन्ध भी अनदेखा नहीं किया जा सकता। इस पर भी समाज-मानसिकता से पृथक् व्यक्तियों द्वारा दार्शनिक चिन्तन की प्रक्रिया में ऐसी दर्शन परम्पराएँ मुखर हुई हैं जो भौतिकता का सत्ता और मूल्य, दोनों हीं प्रकार से निषेध करती हैं। शांकर दर्शन भी उनमें से एक है। लेकिन शांकर दर्शन की जिस विशेषता पर हम यहाँ विचार करना चाहते हैं वह दार्शनिक दृष्टि से भौतिकता का आध्यात्मिक निषेध मात्र नहीं वरन् निषेधात्मक आध्यात्मिक की सहज परिणति के रूप में प्राप्त जीवन दृष्टि है जिसे हम 'नियतिवाद' मानते हैं। या फिर यह कहा जा सकता है कि हमने शांकर दर्शन को नियतिवादी दृष्टि से समझने का प्रयास किया है।

शांकरदर्शन में व्यक्ति स्वरूपत: ब्रह्म ही है। साक्षीरूप व्यक्ति ब्रह्म या शुद्ध चैतन्य है। सुख-दु:खादि द्वन्द्वों से मुक्त संसार से निर्लिप्त एवं तटस्थ द्रष्टारूप व्यक्ति 'प्रतीत- व्यक्ति' ब्रह्मत्व की अभिव्यक्ति है। जन्म-मृत्यु सुख-दुखादि में लिप्त अहंभाव युक्त व्यक्ति प्रतीति मात्र है। ब्रह्म ही सत् है, अद्वैत है। अत: ब्रह्म या शुद्धचैतन्य से अन्यथा प्रतीत जो कुछ भी है — सब अन्त:करण के कारण प्रतीति है। इस प्रतीति को सत्यासत्य की कोटियों में रखा नहीं जा सकता। यह इसकी विलक्षणता है। इसी से इसे मिथ्या कहा जाता है। सृष्टिकर्ता कौन है, सृष्टि क्यों हुई या सृष्टिकर्ता कोई है भी या नहीं; आदि प्रश्न व्यर्थ हैं क्योंकि इनके उत्तर एक ऐसे उत्तरदाता की अपेक्षा रखते हैं जो स्वयं सृष्टि से पूर्व और परे हो। जहाँ तक दार्शनिक जिज्ञासा का संबंध है, अपनी पूर्वमान्यताओं के अनुरूप कोई भी संतोषजनक उत्तर स्वीकार कर सकते हैं, लेकिन यह संतोष, उत्तरों की संगतता के कारण नहीं बल्कि बुद्धि की क्षमता की सीमा के कारण होगा। लेकिन शांकर-वेदान्त के लिए ये प्रश्न महत्त्वपूर्ण नहीं-केवल परम्परा का निर्वहण और मोक्ष-शास्त्र की पृष्ठभूमि मात्र है। शांकरवेदान्त का संबंध व्यक्ति के जीवन में मृत्यु-भय, दु:ख और अतृप्ति

से भरे अनवरत संघर्ष से मुक्ति हेतु मार्ग-प्रशस्ति से है । समस्त बौद्धिक ज्ञान, अहंकारजन्य व्यवहार, शांकरवेदान्त की दृष्टि में अविद्याजन्य है । विद्या ब्रह्मज्ञान को माना गया है और ब्रह्म बुद्धि से अचिंत्य है । अत: अविद्या का अर्थ बौद्धिक ज्ञान ही होगा । मुक्ति, चूँकि ब्रह्मसाक्षात्कार है, अत: अविद्यानाश या, मुक्त होना ही जीवन में व्यक्ति का एक मात्र साध्य है ।

शांकरवेदान्त का जो स्वरूप हमने स्वीकार किया है तदनुसार ब्रह्म ही सत् है, सब कुछ ब्रह्म ही है, शेष सब जो ब्रह्म से अन्य प्रतीत होता है — मिथ्या है, व्यर्थ है । इस स्वीकृत अर्थ में शांकरवेदान्त में व्यक्ति का कोई महत्त्व नहीं रह जाता है क्योंकि इसमें व्यक्तिगतता को भी मिथ्या माना गया है । अत: ऐसा सिद्धांत व्यक्ति को कोई संतोषजनक स्थान नहीं प्रदान करता है, जबकि व्यक्ति निर्गुण और उदासीन न होकर क्रियाशील और सृजनशील है न कि माया के हाथों नाचने वाला असहाय प्राणि ।

मानव, जगत् में अपने महत्त्व प्रतिपादन हेतु बडा ही सजग रहता है और यह सजगता केवल अहंकारवश ही होती है । प्राय: यह मान लिया जाता है कि जगत् में 'मानव व्यक्ति' विशेष महत्त्व रखता है, उसमें रचनात्मकता अथवा सृजनशीलता है। मान्य उपलब्धियों के आधार पर यह माना जाता है कि व्यक्ति में स्वतंत्रत: अपने अस्तित्व को बनाये रखने और विभिन्न प्रतीकों में स्वयं को अभिव्यक्त करने की क्षमता है । प्रमाणस्वरूप मानव समाज का इतिहास प्रस्तुत किया जा सकता है । प्राय: मानव व्यक्ति के महत्त्व प्रतिपादन में मानवाहंकार ने युगों से अनेक प्रयास किये हैं और ऐसे शब्दों का निर्माण किया है जिनसे उसके अहंकार की अभिव्यक्ति होती है । प्रगति, विकास, उच्च, निम्न आदि भावनाएँ आज संस्कारों के रूप में प्राप्त हो रही हैं और स्थिति यह है कि मानव की धारणाएँ, मान्यताएँ और उसके शब्द सभी अर्थवान् हैं, स्वीकृत हैं । इनके मिथ्यात्व को स्पष्ट करने हेतु वे ही शब्द हैं। सदियों से चली आ रही मानवाहंकारजन्य निर्धारित और स्वीकृत भ्रान्त विश्वासों का निराकरण कठिन है ।

मानव व्यक्ति का महत्त्व निर्धारण मानवाहंकारजन्य व्यामोह का परिणाम है । इससे किसी शाश्वत मूल्य की प्राप्ति संभव नहीं है । लेकिन मूल्य की शाश्वतता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता । जब तक, व्यक्ति सीमित है, अहंकारयुक्त है, शाश्वतता की खोज से स्वयं को वह मुक्त नहीं रख सकता है । यह उसकी नियति है । "सहज में चेतना अपने को अविद्या और भव में ही पाती है वही उसका उपलब्ध रूप भी है किंतु साथ ही वह इस उपलब्ध रूप से मुक्त होने को प्रयत्नशील

भी रहती है ।''[१] व्यक्ति को अतिक्रमण की प्रेरणा मिलती है शाश्वत होने की इच्छा से लेकिन कर्मों से प्राप्त फल उसे शाश्वतता की ओर नहीं ले जाते । कर्म, अविद्या या अज्ञानप्रेरित है । कर्मक्षेत्र जहाँ अविद्या का क्षेत्र है वहीं मोक्ष उससे निवृत्ति है । अतः मोक्ष-प्राप्ति के लिए सीमाओं से परे जाना होगा, अहंकार और व्यक्तित्व से परे जाना होगा । व्यक्तित्व का नाश किये बिना स्वरूप को जाना नहीं जा सकता । संभवतः इसीलिए मोक्ष को प्रेयस् न कहकर श्रेयस् कहा गया है। श्रेयस् का चयन करने के लिए व्यक्ति बाध्य है । अज्ञानवश प्रेयस् समझकर ही वह उनका चयन करता है जो प्रिय तो है किन्तु उनका महत्त्व क्षणिक् और अपूर्ण है । अहंबोध, कर्तव्य और अपनी श्रेष्ठता को जब तक व्यक्ति स्वीकार किए रहता है, तब तक वह भेद और अनेकता में सापेक्ष व्यक्तित्व ही निर्मित कर पाता है । व्यवहार में वह अपनी संकीर्णताओं से मुक्त नहीं हो सकता है । अधिक से अधिक एक प्रकार की संकीर्णता से निकलकर अन्य किसी प्रकार की संकीर्णता में फँस सकता है । स्वरूपतः व्यक्ति शुद्धचिन्मय ब्रह्म ही है । शरीर आदि उपाधियों के कारण स्वयं को मनुष्य बुद्धिमान, कर्ता-भोक्ता, आदि अर्थों में समझता और व्यक्ति होता है । इस तरह व्यक्त होना व्यक्ति है । अविद्या नष्ट होते ही वह निष्काम, अकर्ता-साक्षी ही रह जाता है । बुद्धिजीवी, मूर्ख, कर्मठ और पापी आदि सभी सापेक्ष मान्यताएँ हैं, व्यक्तित्व के रूप हैं जो अहंकार के बाह्य विषयों के संबंध से निर्मित होते हैं । व्यक्ति का मानव रूप अविद्याजन्य भेद-दृष्टि से उत्पन्न प्रतीति है । व्यक्ति का निर्माण होता है कर्म से । कर्म अविद्याजन्य है, अविद्या बन्ध की जननी है । अतः व्यक्तित्व ही व्यक्ति का बंधन है ।

शांकरदर्शन में व्यक्ति के महत्त्व हमने दो अर्थों में समझने का प्रयास किया है। प्रथमतः शांकरदर्शन में व्यक्ति को कितना महत्त्व दिया गया है और द्वितीयतः इसमें व्यक्ति के स्वीकृत स्वरूप का जगत् में क्या महत्त्व है । प्रथम अर्थ में यही कहा जा सकता है कि शांकरदर्शन केवल व्यक्ति का ही दर्शन है । यह मान लेना कि वह मायावाद या ब्रह्मवाद ही है, व्यक्ति की चर्चा प्रसंगवश और गौण है, उचित नहीं है। ब्रह्म, ईश्वर, जगत्, माया और अविद्या आदि धारणाएँ केवल व्यक्ति के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये ही प्रस्तुत हुई हैं । ब्रह्मवाद या मायावाद उक्त दर्शन में परमतत्त्व के स्वरूप और उससे उत्पन्न जगत् के स्वरूप के आधार पर दी गई उपमाएँ हैं । हमारे विचार से किसी भी दर्शन को किसी वाद में बाँधा जाए यह उस दर्शन के उद्देश्य पर निर्भर होना चाहिए । शांकर वेदान्त का लक्ष्य ब्रह्म की संख्या या ब्रह्म का तार्किक निरूपण अथवा जगत् की खोज करना नहीं बल्कि जगत् में व्यक्ति को

समस्याओं का मूलभूत कारण- उसका बंधन दूर करना ही है । इसके लिए व्यक्ति के बौद्धिक और आनुभविक पक्षों का विश्लेषण करते हुए व्यक्ति के वास्तविक स्वरूप की खोज की गई है । इस तरह खोज के पश्चात् व्यक्ति, जिसे व्यवहार में सुख-दुखादि में फँसा हुआ माना जाता है, को पूर्ण आप्तकाम और निरपेक्ष सत्ता के रूप में उपलब्ध कराया जाता है । इसे हम व्यक्तिवाद कहते हैं क्योंकि इस दर्शन में आरंभ से अंत तक व्यक्ति ही प्रधान है । जगन्मिथ्यात्व प्रतिपादन का उद्देश्य है मिथ्यात्व या असारत्व के ज्ञाता रूप व्यक्ति की सत्ता को निरूपित करना, 'जीव मिथ्यात्व' का उद्देश्य यह बताना है कि स्वरूपत: व्यक्ति संसार-चक्र में अनवरत संघर्षरत सीमित प्राणिमात्र नहीं वरन् सीमितता, जीवात्मा मात्र प्रतीति है, व्यक्ति वास्तव में चिन्मयानन्द है । ब्रह्म की चर्चा का उद्देश्य किसी तत्त्वमीमांसा का निर्माण करना या बुद्धिविलास मात्र नहीं है, बल्कि यह दर्शाना है कि व्यक्ति जीवनभर जिसे पाने के लिए व्याकुल रहता है, निरंतर संघर्ष करता है, वह उसका ही स्वरूप है जो शाश्वत है जिसे पाने के उपरान्त अन्य कुछ भी पाने योग्य नहीं रहा जाता है । समस्त इच्छाओं की पूर्णता के साथ व्यक्ति के अतिक्रमण का विराम हो जाता है । व्यक्ति का मुक्त स्वरूप अपने आप में स्तर या प्राकारिक भेद से परे होता है, लेकिन उसका जीवन बद्ध व्यक्ति के लिए आदर्श होता है यही उसका महत्त्व है। जगत् में मुक्त व्यक्ति का स्थान बद्ध व्यक्ति की अपेक्षा से और बद्ध व्यक्ति की दृष्टि में ही है ।

महत्त्व-विचार की द्वितीय दृष्टि अर्थात् प्रतीत मानव के महत्त्व की दृष्टि से प्राय: अन्य अद्वैतेतर वेदान्तों के विशेष मतभेद नहीं है । मानव के महत्त्व-निर्धारण में या तत्संबंधी विचार करते समय जिस बात का विशेष आग्रह प्राय: विद्वानों में पाया जाता है, वह है स्वातंत्र्य । जगत् में मानवेतर प्राणियों की अपेक्षा मानव को, विशिष्ट श्रेष्ठ इसीलिए माना जाता है कि वह बुद्धिमान् है, केवल मूल प्रवृत्तियों से नियंत्रित न हो कर विवेक के प्रयोग में स्वतंत्र होता है । कर्म-स्वातंत्र्य प्राय: अनेक दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत मत है । ऐसे समस्त दर्शन-सम्प्रदाय जो मानव के कर्तव्य को स्वाभाविक स्वीकार करते हैं - स्वतंत्रता और परतंत्रता पर विचार कर सकते हैं और यह असंगत भी नहीं होगा, लेकिन शांकरदर्शन में अविद्याजन्य जीव में स्वतंत्रता या परतंत्रता को मानना असंगत प्रतीत होता है ।

आचार्य शंकर जीव को स्वतंत्र कर्ता मानते हैं । उनके अनुसार यदि जीव स्वतंत्र कर्ता नहीं है तब शास्त्रों के उपदेश व्यर्थ सिद्ध होंगे । अत: जीव को स्वतंत्र स्वीकार करना पडता है ।[२] बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य में वे कहते हैं कि पुरुष यथारुचि कार्य करते हैं ।[३] लेकिन यह कहकर कि जीव के कर्म ईश्वर ही करता है,

ईश्वर नियंतृत्व और जीव के कर्तृत्व को भी मिथ्या और अविद्याजन्य कहकर वे असंगति से स्वयं को मुक्त कर लेते हैं। उनके अनुसार जीव अविद्याजन्य होने से कर्म करने को विवश है। जब तक अविद्याग्रस्तता है तब तक जीव परतंत्र है। परतंत्रता में वह अहंकारवश स्वतंत्रता की कल्पना कर लेता है। जब ऐसी स्थिति है नि:संकोच भाव से स्वतंत्रता को अस्वीकार क्यों न कर दिया जाय? क्या वास्तव में अपनी श्रेष्ठता की अहंभावजन्य मान्यता ही इस स्वीकृति में अवरोध नहीं है? यहाँ हम मध्व के कथन को सर्वथा उचित मानते हैं कि "उसे स्वातंत्र्य की जो प्रतीति होती है वह बुद्धिकृत मोह के कारण है।"[४]

स्वतंत्र शब्द का अर्थ होगा स्व के तंत्र में आबद्ध। यद्यपि महत्त्व शाब्दिक अर्थ के बजाय व्यवहृत अर्थ का होता है, तथापि इस शब्द के अर्थ की सुनिश्चितता न होने से 'स्व के तंत्र में आबद्धता' से ही प्रारंभ करना हमें उचित प्रतीत हुआ। तंत्र शब्द यहाँ व्यवस्था के अर्थ में स्वीकार किया गया है और हमारे विचार से इसमें अधिक विवाद के लिए स्थान नहीं। विवाद है तो केवल स्व के अर्थ पर। "स्व" जिसके तंत्र या व्यवस्था में आबद्धता अभिप्रेत है, का व्यवहार जडचेतनयुक्त प्राणि द्वारा किया जाता है 'मैं' के रूप में। सामान्य व्यवहार में इसी अर्थ में स्वतंत्रता शब्द की सार्थकता है। इच्छा-स्वातंत्र्य आदि प्रयोग ही प्राय: स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति के माध्यम होते हैं। 'मैं' के जिस अर्थ में "मैं दुखी हूँ, कर्ता हूँ, मोटा हूँ, विचार करता हूँ, जानता हूँ" आदि प्रयोग होते हैं उसी अर्थ में प्राय: 'स्व' को स्वीकार किया जाता है। स्वतंत्रता के अर्थ को समझने के लिए इन्हीं अर्थों में स्व को स्वीकार करना होगा।

क्या यह स्व कोई वस्तु है जिसे हम जानते हों या कोई सत्ता है जो किसी व्यवस्था का निर्माण करता है? हमारे विचार से स्व न कोई वस्तु है और न ही कोई सत्ता। स्व अपनी अभिव्यक्ति हेतु पूर्णत: शरीर पर आश्रित होता है। ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती है जिसमें स्व हो, पर शरीर न हो। इसका कारण यह है कि स्व शरीर, अन्त:करण और चैतन्य का मिथुनीकृत हमारी अन्य जड प्रतीतियों की भाँति एक प्रतीति है। लेकिन स्व के तंत्र को या व्यवस्था को अभिव्यक्त करने का एकमात्र माध्यम भी वही है। शरीर परिवर्तनशील, नाशवान् और प्रतीत जगत् का ही एक अंश है। उसी की सीमाएँ जगत् के साथ बँधी हुई हैं। अत: स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति इसी बंधन चेतना के जगद्भाव की सीमा में होगी। डॉ. राधाकृष्णन् कहते हैं - मानवीय स्व विश्व की प्रक्रिया का एक उद्बद्ध पहलू है। यह स्वयं इस प्रक्रिया से भिन्न कोई द्रव्य नहीं है। - मानवीय स्व विभिन्न भागों से बनी हुई स्वीकृत

रचना है । मानवीय स्व का यह उद्‌बोधन मानवकृत नहीं बल्कि विश्व-प्रक्रिया का ही उद्‌बोधन है ।''[५] इसमें मानव के लिए गर्व करने का कोई कारण नहीं । जिस तरह एक पत्थर का अचेष्ट रहना विश्व-प्रक्रिया का एक प्रतीत तथ्य है उसी तरह मानव का सचेष्ट होना भी प्रक्रिया का एक तथ्य है । लेकिन यह भेद किसी तरह मानवीय स्व के श्रेष्ठता का परिचायक नहीं है । यह तो अहंकार है जो इसे श्रेष्ठ समझता है । शांकर दर्शन में स्व, 'मैं' या साक्षी को अकर्ता, अभोक्ता माना जाता है। प्रमातृत्व को ही स्व या 'मैं' मान लेना अविद्यावश चैतन्य पर अन्तःकरण का अध्यारोपण है । अतः स्वतंत्रता मात्र अविद्याजन्य ही होगी, सत्य नहीं । अविद्या शांकरदर्शन में एक ऐसा ब्रह्मास्त्र है जिसके द्वारा हर मूल प्रश्न से पलायन किया जा सकता है । ब्रह्म निर्गुण है तब उसकी प्रतीति अन्यथा रूप में क्यों होती है, किसे होती है आदि प्रश्नों का उत्तर है अविद्या । यह वास्तव में प्रश्न का उत्तर नहीं है । जीव अविद्या की उत्पत्ति है अतः उसे अविद्या के लिए उत्तरदायी नहीं कहा जा सकता । ब्रह्म निर्गुण है अतः उसमें अविद्या अकल्पनीय है । अविद्या के विषय में उठाई जाने वाली शंकाएँ अविद्याजन्य हैं । जब तक अविद्या है तब तक इन प्रश्नों का उत्तर समझ में नहीं आता है और अविद्या निवृत्ति हो जाय तो प्रश्न ही नहीं रह जाता । ऐसी स्थिति में स्वतंत्रता-परतंत्रता जैसे शब्द व्यर्थ की कल्पनाएँ होंगी । जीव दशा में सम्पन्न समस्त व्यवहार अविद्या कल्पित है । स्वयं जीव भी अविद्या कल्पित है । अतः जीव का स्वयं को स्वतंत्र समझना अविद्या कल्पित मात्र या ब्रह्म की लीला मात्र है ।

जिस तरह स्वतंत्रता की अवधारणा प्रमाता और साक्षी दोनों के लिए व्यर्थ और असंगत है, उसी तरह परतंत्रता की अवधारणा भी असंगत है । परतंत्रता तब संगत होती है जब व्यक्ति से परे या अन्य कोई व्यक्ति वस्तु या सत्ता होती है जो उसके कर्म, इच्छा आदि पर नियंत्रण रखती हो । सृष्टि का एक अंग जिस तरह व्यक्ति है उसी तरह सृष्टि का हर वह पक्ष जिसके अधीन या जिससे स्वयं को संबधित मानता समझता है - भी सृष्टि का ही अंश है । किसी पूर्ण का एक अंश, किसी अन्य अंश के अधीन नहीं होता है । सृष्टि में ऐसा कुछ भी नहीं है जो उसका अंश न हो और जिसका व्यक्ति पर आधिपत्य हो । सृष्टि स्वयं में एक सत्ता नहीं है, बल्कि सत् की अभिव्यक्ति है और यह अभिव्यक्ति भी प्रतीति है । इसी तरह सृष्टि को जानने का प्रयास करने वाला व्यक्ति भी प्रतीत अभिव्यक्ति है । शांकरवेदान्त के अनुसार सब कुछ ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है । इस अभिव्यक्ति में जितना महत्त्व पत्थर, वृक्ष, पशु आदि का है; उतना ही महत्त्व मानव का भी है । शंकर तो बडे

साहस के साथ स्वीकार करते हैं कि "समान: पश्वादिर्भि: पुरुषाणां प्रमाण प्रमेय व्यवहार:" (शां.भा. उपोद्घात्)। व्यापक अर्थ में व्यक्ति एक सत्ता नहीं, व्यक्त होने की प्रक्रिया है । व्यक्ति के प्रति अहंकार भी अभिव्यक्ति ही है । समस्त प्रतीत अभिव्यक्तियों का आधारभूत तत्त्व शाश्वत होने से मानव व्यक्ति का अहंकार भी शाश्वत प्रतीत होता है । संभवत: यही कारण है कि वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदाय जीव को अज मानते हैं । हमारे विचार से जीव मिथ्या होने से उसका 'आदि' विषयक ज्ञान संभव नहीं होता है । आदि के इस अगम्यता की स्वीकृति ही अनादि मानने की अपेक्षा संगत होगी । जिस तरह सृष्टि अचिंत्य है, उसी तरह व्यक्ति या जीव भी अचिंत्य है । सृष्टि में वस्तुत: मैं और मेरा या अस्मद् युष्मद् का प्रश्न असंगत है । सभी कुछ ब्रह्म की ही व्यक्ति होने से व्यक्ति में से एक स्वयं को अलग समझे और किसी को मेरा कहें, इसके लिए स्थान नहीं है । लेकिन अविद्याजन्य अहंकारवश ऐसा माना जाता है । जिस तरह मैं-मेरा के लिए स्थान नहीं है फिर भी माना जाता है इसी तरह अविद्या और उसके आश्रय के लिए भी स्थान नहीं है । फिर भी अहंकारवश जीव की अविद्या कही जाती है । अभिप्राय यह है कि जो कुछ बुद्धि जान पाती है उसमें ऐसा कुछ भी नहीं है जिस आधार पर किसी को श्रेष्ठ, किसी को निम्न अथवा शासक और शासित कहा जा सके । सब अविद्यावश प्रतीति है । प्रतीति के रूप में मानव, और अजीव पदार्थों में कोई स्तर-भेद नहीं है । अहंकारवश मानव उनसे अपने संबंधों को अर्थ देता है । यह भी अज्ञानवश ही होता है । जगत् परिवर्तनशील है, मानव में परिवर्तन हो रहें हैं । मानव भाषा में कुछ परिवर्तन कर्म कहलाते हैं, कुछ इच्छा और कुछ विकास । ये शब्द मानव प्रदत्त हैं । इसी तरह संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि मानवेतर प्राणियों की भाषा में भी ऐसे ही कुछ संकेत होंगे । मानवाहंकार जिन परिवर्तनों को स्वयं से जोड लेता है, उन्हें वह अपना कर्म या भोग समझ लेता है, लेकिन कर्म, कर्ता, भोग, भोग्य आदि सभी भेद अविद्याजन्य होने से उसका व्यवहार न तो उसकी स्वतंत्रता है, न ही परतंत्रता । यह मात्र विश्व की प्रतीत-प्रक्रिया का सहज रूप है । विश्व की इस प्रक्रिया का एक अंतिम स्थल या विराम जिसे पूर्णता कह सकते हैं - तो हो सकता है, लेकिन प्रक्रिया के अर्थों में स्वतंत्रता या परतंत्रता संभव नहीं ।

व्यक्ति के समस्त व्यापारों का लक्ष्य है शाश्वत होना । यही उसकी नियति है। शाश्वतता की ओर उन्मुखता को हम नियति इसलिए कहते हैं क्योंकि शाश्वतता व्यक्तित्व निर्मित या अर्जित लक्ष्य नहीं वरन् व्यक्ति से परे ब्रह्मत्व का लक्षण है । इसे स्वीकार करने या न करने का विकल्प नहीं है । जबकि स्वतंत्रता की अवधारणा के

मूल में तंत्रों के विकल्पों की अनिवार्यता निहित है । इस दृष्टि से व्यक्ति अपने जीवन में न कहीं स्वतंत्र है और न कहीं परतंत्र । सहज रूप से व्यक्ति अपने शाश्वत स्वरूप को पाने का प्रयास करता है । जो व्यक्ति इस सत्य को जान लेता है वह फिर केवल तटस्थ होकर परिवर्तन का द्रष्टा बन जाता है लेकिन अज्ञानवश जो यह नहीं जानता है वह अपने व्यापार का तात्कालिक लक्ष्य मानकर लक्ष्यों की अनेकता में स्वयं को जकडा हुआ अनुभव करता है, यही बंधन है । तो, बंधन केवल व्यक्ति के अज्ञान के कारण ही प्रतीत होता है । वास्तव में बंधन तो कभी होता ही नहीं, व्यक्ति नित्यमुक्त है ।

व्यक्ति अज्ञान और आत्मविस्मृति के कारण ही सहज रूप से होने वाले कार्यों को अपनी विवशता मान लेता है । प्रतीत तात्कालिक लक्ष्यों में भटकते हुए व्यक्ति वांछित परिणाम न पाकर भाग्य, ईश्वरकृपा आदि धारणाओं का पोषण करने लगता है । यद्यपि जो कुछ होता है वह केवल इसीलिए होता है क्योंकि उसे होना था, लेकिन उस 'होनी' से अपने संबंध को न समझ पाने के कारण और अपनी सीमित क्षमता के कारण यह उन्हें आकस्मिक मान लेता है, तथापि आकस्मिक कुछ भी नहीं होता है । सृष्टि की इस सहज प्रक्रिया में सब कुछ सहज भाव से ही होता है । लेकिन चूंकि अपनी वास्तविकता का ही व्यक्ति को ज्ञान नहीं रहता है, अत: सहजता में भी उसे आकस्मिकता दिखाई पडती है । सृष्टि की कुछ घटनाओं को जिन्हें वह स्वयं से नहीं जोड पाता है, व्यक्ति आकस्मिक मान लेता है, यथा सृष्टि की घटना । वास्तव में सृष्टि हुई या नहीं, और हुई भी तो क्यों हुई, कैसे हुई ये सभी व्यर्थ के प्रश्न हैं। लेकिन इनके उत्तर तरह-तरह से दिए जाते हैं.। अद्वैतवेदान्तपरम्परा यह मानती है कि यह प्रतीत सृष्टि ईश्वर की माया है, लीला है । ऐसा ही ईश्वरवादी अन्य सम्प्रदाय भी मानते हैं । यदि हम इन समाधानों की गहराई में विचार करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ये केवल आकस्मिकता की स्वीकृति-सूत्रक ही हैं । जगत् में प्रतीत विषमता अविद्याजन्य व्यक्ति को आकस्मिक और निष्प्रयोजन ही प्रतीत होंगी। लेकिन बुद्धिजीवी होने के कारण अहंकारवश आकस्मिकता और प्रयोजनहीनता को स्वीकार करना व्यक्ति के लिए कठिन होता है । साथ ही प्रयोजन और कारण को जान पाना बुद्धि के लिए संभव नहीं । अत: लीला, माया आदि शब्दों द्वारा और बौद्धिक संतोष प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है । लेकिन निरीश्वरवादी लीला या माया जैसे शब्दों के बजाय आकस्मिकता को ही स्वीकार कर सकता है, जिसका स्वाभाविक परिणाम चार्वाक की तरह भौतिकवादी, या आजीवकों की तरह कठोर नियतिवादी दर्शन के रूप में होता है । आकस्मिकता वास्तव में एक ही बात का संकेत करती

है कि बुद्धि सीमित है । लेकिन मानवाहंकारवश अपनी सीमितता को परोक्ष रूप से ही स्वीकार किया जाता है ।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण में हमारा अभिप्राय केवल इतना ही है कि जिस या जिन कारणों से माया, लीला या आकस्मिकता को स्वीकार किया जाता है वे ही कारण नियति की स्वीकृति में भी हैं । आजीवकों का दर्शन कठोर नियतिवाद माना जाता है साथ ही इसे मृतप्राय दर्शन माना जाता है । हमारे विचार से नियतिवाद के प्रति हेयदृष्टि का कारण है मानवाहंकार । स्वयं को कर्ता और भोक्ता मानने वाला मानव स्वयं को मूर्ख कहा जाना सहन नहीं करेगा, जब कि आजीवक स्पष्टरूप से कहते हैं कि स्वयं को अपने दुखों का उत्तरदायी समझने वाला मूर्ख है, बुद्धिमान् स्वयं को अपने दुखों का कारण नहीं मानते ।[६] यह एक कटु सत्य है । कर्म सिद्धांत यह तो कह देता है कि अपने कर्मों के अनुसार ही फल मिलता है लेकिन यह तो केवल मध्य की स्थिति है । सृष्टि आरंभ से ही विषम रही है । जिसके लिए मानव स्वयं जिम्मेदार नहीं कहा जा सकता । जन्म-जन्मान्तर की अनंत श्रृंखला ही क्यों न मानें, लेकिन यह प्रश्न तो फिर भी बना ही रहता है कि क्यों मनुष्य जान बूझकर दुःखद स्थिति को निमंत्रण देता है । ईश्वरवादी के लिए सृष्टिकर्ता ईश्वर है ही, साथ ही नियन्ता भी है । अपने जन्म के लिए मनुष्य अंतिम रूप के कारण मानता है । तब अज्ञानियों की सृष्टि ही क्यों हुई । ऐसे मूल प्रश्न का ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई उत्तर नहीं देता है । वे यद्यपि मानव कर्तृत्व के स्वातंत्र्य को स्वीकार करते हैं तथापि अंतिम कारण या उत्तरदायित्व ईश्वर पर ही डाल देते हैं । आचार्य शंकर भी इसके अपवाद नहीं हैं। शां. भा. २.३, ४१-४२ में वे 'प्रेरक' और 'कर्ता' का भेद कर प्रेरक के रूप में ईश्वर को स्थान देते हैं । श्रुतिप्रमाण देकर वे एक ओर ईश्वराधीन कर्तृत्व निरूपित करते हैं तो दूसरी ओर जीव की अत्यन्त परतंत्रता मानने को भी असंगत ठहराते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वराधीनता और मानवाहं दोनों को स्वीकार करने की कोई विवशता हो ।

आजीवक भी यही कहते हैं । उनके अनुसार यद्यपि व्यावहारिक धरातल पर यह माना जाता है कि व्यक्ति के कर्म उसके भविष्य का निर्धारण करते हैं तथापि पारमार्थिक रूप से नियति ही जिम्मेदार हैं ।[७] अर्थात् व्यक्ति में जब तक अहंकार है तब तक वह यही समझता है कि उसके कर्म ही उत्तरदायी हैं, लेकिन वास्तविकता ऐसी नहीं है । शांकरवेदान्ती भी यही मानते हैं कि कर्तृत्वादि अविद्याजन्य उपाधिवश उत्पन्न व्यवहार है, मिथ्या है । इसमें भी यही प्रतिध्वनित होता है कि अंतिम रूप से व्यक्ति के दुखों का कारण अविद्या है, जिसका कारण कम से कम स्वयं मनुष्य या

जीव तो नहीं है । व्यक्ति स्वरूपत: नित्यमुक्तचैतन्य है । वह क्यों और कैसे विद्याग्रस्त होता है इस प्रश्न का उत्तर ही अंतत: व्यक्ति का या सृष्टि का कारण होगा जो व्यक्ति के दुखों का उत्तरदायी होगा और वह कारण कम से कम दुखों में जकडा हुआ बद्धजीव या कर्ता व्यक्ति तो नहीं है । उस कारण को 'माया' कहकर क्या शब्द-भेद से नियतिवाद का ही समर्थन नहीं किया गया ? सृष्टि चाहे मिथ्या-प्रतीति हो, इस प्रतीति का जिम्मेदार तो मनुष्य नहीं है । फिर भला मिथ्याबंधन का उत्तरदायित्व व्यक्ति पर क्यों ? जिस मूल अज्ञान के कारण व्यक्ति बंधन का अनुभव करता है- वह अज्ञान व्यक्ति-निर्मित नहीं है । फिर कब व्यक्ति को जगन्मिथ्यात्व का ज्ञान होगा ? कब वह शास्त्रों का वास्तविक अर्थ समझ कर मोक्षहेतु प्रवृत्त होगा ? और कब मुक्त होगा ? वह सब मात्र जीवन के घटना क्रम के संदर्भ में संयोग या आकस्मिक ही तो हैं जिन्हें 'ईश्वर-कृपा' नाम दिया जाता है । सामान्य जीवन में भी हर वह कथित उपलब्धि जिसे मानवीय उपलब्धि के रूप में स्वीकार किया जाता है, मात्र संयोग या आकस्मिक ही तो है । जब जो होना है, वह होगा । 'क्यों' का इस संदर्भ में कोई अंतिम उत्तर यदि कोई हो सकता है तो वह है 'नियति' । इसी को ईश्वर कहें, भाग्य कहें या जो भी शब्द उचित जान पडता हो कह लें, परन्तु वस्तुस्थिति में कोई अन्तर नहीं आता ।

नियतिवाद का सीधा संबंध व्यक्ति के कर्ता, भोक्तारूप व्यक्तित्व के स्थान और महत्त्व से है । शंकर के अनुसार व्यक्ति का यह रूप मिथ्या अविद्याजन्य है । स्पष्ट है नियति अविद्या के अर्थ में ही होगी । नियतिवाद की स्वीकृति उसीलिए होती है, क्योंकि व्यक्ति स्वयं को कर्तारूप में परिभाषित करना चाहता है जिसमें उसे सफलता नहीं मिलती है । फलस्वरूप वह एक सीमा में स्वतंत्र कर्ता बन जाता है। लेकिन यह कर्तापन केवल अहंकारजन्य ही है । वास्तव में वह अकर्ता, द्रष्टा मात्र है । अत: सीमित स्वतंत्रता और अधीनता दोनों ही अज्ञानवश हैं । जब तक व्यक्ति अविद्याग्रस्त है तब तक ही नियतिवाद व्यक्ति को स्वीकार करना होगा । अविद्या निवृत्ति के उपरांत विनष्ट अविद्या किस की थी ? यह प्रश्न ही नहीं रहेगा और तब व्यक्ति चूँकि ब्रह्मभाव को प्राप्त हो चुका होगा, नियति भी अपना अर्थ खो चुकेगी। शांकर-वेदांत के अनुसार ब्रह्म सच्चिदानंद स्वरूप नित्य, निर्गुण, अविकारी शुद्धचैतन्य ही है । केवल ब्रह्म ही सत् है । ब्रह्म से अन्य प्रतीत जो भी है सब मिथ्या है । ब्रह्म क्यों माया से युक्त प्रतीत होता है ? क्यों सृष्टि की प्रतीति होती है ? किसे प्रतीति होती है ? आदि प्रश्नों का अंतत: एक ही उत्तर है -सृष्टि होनी थी, सो हुई । बस इस उत्तर को लीला, माया या नियति कुछ भी कह सकते हैं ।

एक प्रक्रिया के रूप में, समष्टि के रूप में सृष्टि का न तो कोई प्रयोजन है, न वह प्रयोजनशून्य है । सृष्टि में व्यक्ति न तो महत्त्वपूर्ण है न महत्त्वहीन है, न उसके जीवन का कोई लक्ष्य है, न वह लक्ष्यहीन है । न व्यक्ति स्वतंत्र है, न परतंत्र है । इस रूप में देखना ही व्यक्ति का 'साक्षिभाव' है जिसे शांकर-वेदांत में व्यक्ति की वास्तविकता स्वीकार की गई है । प्रयोजन, लक्ष्य और महत्त्व अहंबुद्धि में है । यदि व्यक्ति में 'कर्ता-अहं' की भावना है तो उसके लिए उसके कर्मों का प्रयोजन-और लक्ष्य भी होगा । इनकी प्राप्ति या निकटता के अनुरूप उसका महत्त्व भी होगा । अहंभावयुक्त व्यक्ति ही जीवन में बंधन को अनुभव करता है । अन्यथा वास्तव में-

न निरोधो न चोत्पतिर्त्तन बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ।।
(विवेकचूडामणि-५७५)

बी. कामेश्वर राव

तुलनात्मक धर्म एवं दर्शन अध्ययनशाला
पं. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय,
रायपूर (म.प्र.)

टिप्पणियाँ

१. यशदेवशल्य, मूल्य तत्त्वमीमांसा, पृष्ठ १६९,
२. शारीरक भाष्य २-३-३९
३. बृ. भा. २-१-१०
४. स्वातंत्र्यस्थितिकाले कदाचित् बुद्धि मोहतः । द्वैत वेदान्त का तात्त्विक अनुशीलन में डॉ. कृष्णकान्त चतुर्वेदी द्वारा उद्धृत
५. दृष्टव्य : जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, पृ. - २०७
६. A.L. Basham - History and Doctrine of the Ajivakas p. 233
७. वही पृ. २४१.

परामर्श (हिंदी) प्रकाशन

आत्मस्वीकृति – ले. प्रो. सुरेंद्र बारलिंगे
अनु. प्रा. राजमल बोरा
सं. डॉ. सुभाषचंद्र भेलके

पृ. ८८ मूल्य रु. ६०।-

मनुष्य और समाज के गौरवशाली अस्तित्व की प्रस्थापना में दर्शन किस तरह अपनी भूमिका अदा कर सकता है ? दार्शनिक का भावविश्व एवं विचार-विश्व किस तरह का होता है ? दार्शनिक अपना जीवन किस तरह व्यतीत करता है ? इन प्रश्नों की खोज का समाधान दिलानेवाली यह पुस्तक अवश्य ही पाठकगण के लिए नयी दृष्टि प्रदान करेगी ।

नव्यन्याय के पारिभाषिक पदार्थ (प्रथम खंड)

ले. डॉ. बलिराम शुक्ल

पृ. २१० मूल्य : रु. १६०।-

नव्यन्याय के अध्ययन के लिए पारंपरिक शिक्षा की आवश्यकता है । लेकिन प्राथमिक स्तर पर तथा तौलनिक अभ्यासकों के लिए नव्यन्याय के पदार्थों का मौलिक परिचय होना जरूरी है । इस दृष्टि से यह पुस्तक पाठकों की सहायता करेगी ।

आचार्य अकलंक की प्रमाण-मीमांसा व सत्यता की कसौटी

आचार्य अकलंक के अनुसार- प्रमाण शब्द "भाव, कर्तृ और करण" इन तीनों अर्थों में प्रयुक्त होता है । जब भाव की प्रधानता होती है तो प्रमा को प्रमाण कहते हैं, कर्तृ अर्थ में प्रमातृत्व-शक्ति की प्रधानता होती है जब कि करण अर्थ में प्रमेय और प्रमाण की भेद विवक्षा होती है । इनमें से विवक्षानुसार अर्थ ग्रहण किया जाता है ।[१]

प्रमाण के भाव-साधन और कर्तृ-साधन के रूप पर कुछ आपत्तियाँ उठाई गयी थीं, जिनका समाधान अकलंक ने किया है । यदि प्रमाण को भाव-साधन के अर्थ में लिया जाये तो चूँकि प्रमा ही प्रमाण है और प्रमा ही फल है अतएव, प्रमा के फल का अभाव हो जायेगा । इस शंका का समाधान करते हुए अकलंक कहते हैं कि आत्मा को इन्द्रियों द्वारा जो ज्ञान होता है वही उसका फल है । अतः प्रमाण का मुख्य फल अज्ञान-निवृत्ति ही है ।[२]

प्रमाण को यदि कर्तृ-साधन माना जाय तो प्रमाण प्रमाता-रूप हो जाता है । अन्य शब्दों में, प्रमाता आत्मा अर्थात् गुणी और उसका गुण-रूप ज्ञान भिन्न-भिन्न होंगे क्यों कि गुणी और गुण में भेद होता है । परन्तु ऐसी धारणा जैन दर्शन के उस आधारभूत सिद्धान्त के विपरीत जाती है जिसके अनुसार ज्ञान आत्मा से पृथक् नहीं है । इस सन्दर्भ में अकलंक का कहना है कि आत्मा का गुण ज्ञान है । ज्ञान और आत्मा अपनी स्वाभाविक पूर्ण-अवस्था में एक-दूसरे से पृथक् नहीं रह सकते । यदि ज्ञान को आत्मा से सर्वथा भिन्न माना जाता है तो आत्मा "पाट" की तरह "अज्ञ" ज्ञानशून्य जड हो जायेगी ।[३] कुंदकुंद का कथन है कि यदि ज्ञानी और ज्ञान को सदा एक दूसरे से भिन्न पदार्थान्तर माना जायेगा तो दोनों अचेतन हो जायेंगे । क्यों कि ज्ञान के बिना आत्मा नहीं रह सकती । अतः ज्ञान आत्मा है ।[४]

'यदि प्रमाण और प्रमेय भिन्न भिन्न है तो क्या यह संभव है कि कोई प्रमेय प्रमाण हो जाय' इसके उत्तर में अकलंक कहते हैं यदि प्रमाण स्वयं अपना प्रमेय नहीं बन सकता, तो इसका अर्थ होगा उसे अपनी सत्ता सिद्ध करने के लिए दूसरे

प्रमाण का सहारा लेना पडता है, दूसरे प्रमाण को तीसरे प्रमाण का और इस प्रकार अनवस्था-प्रसंग उपस्थित हो जायेगा । यदि ज्ञान को दीपक की तरह "स्व" और "पर" का प्रकाशक माना जाये तो प्रमाण और प्रमेय के संघर्ष की उपर्युक्त समस्या का हल हो जाता है ।[५] प्रमेय निश्चित रूप से प्रमेय ही है, किन्तु प्रमाण-प्रमाण भी है और प्रमेय भी ।[६]

ज्ञान की प्रमाणता :

जैन-दर्शन सिद्धान्ततः प्रमाण को कई अर्थों में प्रयोग करता है लेकिन फिर भी उसको मुख्यतः ज्ञान के अर्थ में ही प्रयोग किया जाता है । ऐसा मानने का कारण क्या है, इसे स्पष्ट करने के लिये प्रमाण का लक्षण जानना अपेक्षित है । अकलंक के अनुसार जो प्रमा का साधकतम कारण हो या जिसके द्वारा अच्छी तरह से जाना जाता है, वह प्रमाण है ।[७]

माणिक्यनन्दि के विचार में हेय (त्याज्य) एवं उपादेय (ग्रांह्य) रूप-पदार्थों की संसिद्धि ज्ञान-प्रमाण से होती है ।[८] अर्थ-संसिद्धि के प्रधान कारणभूत प्रमाण से वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है । अतः स्पष्ट है कि प्रमाण का कार्य वस्तु के यथार्थ रूप को प्रदर्शित करना है । प्रमाण के इस कार्य में ज्ञान सहायक होता है । अन्य दर्शनों द्वारा मान्य सन्निकर्ष, इन्द्रियवृत्ति, योग्यता आदि ज्ञान की उत्पादक सामग्री में तो सम्मिलित किये जा सकते हैं, किन्तु वे स्वयं अचेतन होने के कारण प्रमांण के साक्षात्करण नहीं हो सकते ।[९] प्रमाण का साक्षात्करण तो चेतन ज्ञान ही हो सकता है ।

लघीयस्त्रय की विवृत्ति में इसी ज्ञान की प्रमाणता का समर्थन करते हुए अकलंक देव ने लिखा है कि आत्मा को प्रमिति-क्रिया या स्वार्थविनिश्चय में, जिसकी अपेक्षा होती है, वही प्रमाण है और वही साधकतम रूप से अपेक्षणीय ज्ञान है ।[१०]

प्रमाण संप्रत्यय के विकास में अकलंक का योगदान :

प्रमाण संप्रत्यय के विकास में अकलंक के योगदान को देखने के लिए प्रमाण-विषयक ऐतिहासिक विवेचनों को देखना होगा । उमास्वाति ने ही सर्वप्रथम, ज्ञान और प्रमाण का स्पष्ट निरूपण किया था । अतः उमास्वाति की प्रमाण-परिभाषा का विश्लेषण आवश्यक है । इनके मत में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ज्ञान के प्रमाण के पांच प्रकार हैं ।[११] उमास्वाति के ही मत में सम्यक्-ज्ञान ही प्रमाण है ।[१२] जिसका अर्थ है जो प्रशस्त हो, अव्यभिचारि हो और संगत हो ।

उस्मास्वाति के पश्चात्वर्ती विचारकों ने प्रमाण के लक्षण में "ज्ञान" पद को तो स्थान दिया, किन्तु उस ज्ञान के "सम्यक्" विशेषण के स्थान पर अन्य विशेषणों का प्रयोग किया। सिद्धसेन[१३] ने "स्वपरावभासि" व "बाधाविवर्जित"[१४] ज्ञान को प्रमाण कहा।

अकलंक देव ने प्रमाण संप्रत्यय का विकास करते हुए एक नया लक्षण दिया "अविसंवादी"।[१५] उनके अनुसार अविसंवादी ज्ञान प्रमाण है, क्योंकि स्वसंवेदन तो ज्ञान सामान्य का लक्षण है। प्रमाणता और अप्रमाणता का निर्णय अविसंवाद और विसंवाद के आधार पर करना चाहिये। अकलंक-द्वारा प्रमाण के इस नवीन लक्षण का औचित्य यही है कि कोई भी ज्ञान एकान्त रूप से प्रमाण नहीं होता। चूँकि इन्द्रियाँ सीमित शक्ति वाली होती हैं, इसलिए इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान सदैव सत्य नहीं होता। रेल से बाहर दिखाई देने वाले वृक्ष, मकान, पहाड आदि के अस्तित्व के विषय में कोई विसंवाद न होने के कारण उन चीजों का ज्ञान अविसंवादी है किन्तु चलती रेल से वृक्ष, मकान, आदि का चलना विसंवादी होने से अप्रमाण है। सभी भ्रमपूर्ण ज्ञान विसंवादी होने से अप्रमाणही है। अविसंवादी ज्ञान को प्रमाण मान लेने पर अविसंवादी ज्ञान के अर्थ का स्पष्टीकरण आवश्यक है। अकलंक के अनुसार, अविसंवादी ज्ञान का अर्थ है ऐसा ज्ञान जिससे बाह्य वस्तु जैसी है वैसी ही ज्ञान में प्रकट हो जाय। अन्य शब्दों में बाह्य वस्तु का यथावत् ज्ञान में प्रकटीकरण ही अविसंवाद है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अकलंक अविसंवादी ज्ञान को प्रमाण मानते हुए उसे अनधिगतार्थग्राही भी कहते हैं।[१६] प्रमाण के इस नवीन लक्षण का अभिप्राय है- ऐसा ज्ञान प्रमाण होगा जिसका किसी दूसरे प्रमाण से निर्णय न किया गया हो। प्रमाण का विषय "अपूर्व" हो।

माणिक्यनन्दि अकलंक देव के प्रमाण के उपरोक्त नवीन लक्षण का समर्थन करते प्रतीत होते हैं जब वे प्रमाण को "अपूर्वार्थ" विश्लेषण देते हैं। साथ ही कहते हैं कि "स्व" अर्थात् अपने आपके और "अपूर्वार्थ" अर्थात् जिसे किसी अन्य प्रमाण से नहीं जाना जा सकता ऐसे पदार्थ के निश्चय करने वाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।[१७]

प्रमाण की परिभाषाओं के विश्लेषण से यह स्पष्ट होगा कि जैन दार्शनिकों द्वारा प्रमाण के लक्षण के रूप में विविध पद प्रयोग किये गये-सम्यक् अविसंवादी, अनधिगतार्थग्राही, स्वपूर्वार्थव्यवसायी और बाधाविवर्जित, स्वपरावभासी। यहाँ स्वाभाविक रूप से प्रश्न उठता है कि प्रमाण के विषय में यह मतभेद क्यों है ? वस्तुतः शब्दों

की इन विभिन्नताओं के पीछे सत्यता की कई कसौटियाँ छिपी हैं ।

प्रमाण की सत्यता की कसौटी

पूर्व विवेचना से स्पष्ट हो चुका है कि जैन-दार्शनिकों के अनुसार (अकलंक भी सम्मिलित है) ज्ञान प्रमाण है, लेकिन चूँकि सभी ज्ञान प्रमाण नहीं माने जा सकते, इसलिये यहाँ ज्ञान के "सत्यापन" का प्रश्न उठता है । सत्यापित ज्ञान ही प्रमाण है । ज्ञान की परीक्षा किस आधार पर की जा सकती है, "सत्य" का अर्थ है, इसी की व्याख्या के लिए जैन-दार्शनिकों-द्वारा सम्यक् अविसंवादी, स्वपरावभासिक, स्वपूर्वार्थव्यवसायी, अनधिगतार्थग्राही, और बाधाविवर्जित आदि विविध पदों का प्रयोग किया गया है । इन मापदण्डों द्वारा ही उन्होंने "सत्य" के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है । सत्यता के इन मापदण्डौं में आपस में कोई संगति प्रतीत नहीं होती है । यह बात यदि पाश्चात्य-दर्शन में सत्यता के स्वरूप और कसौटियों के अध्ययन के सन्दर्भ में जैन-दर्शन की सत्यता के स्वरूप और कसौटियों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाये तो अधिक स्पष्ट होगी ।

पाश्चात्य-दर्शन में मुख्यत: सत्यता की तीन कसौटीयाँ हैं — संवादिता (या अनुकूलता) का सिद्धान्त (correspondance theory), अबाधिता (अथवा सामंजस्य) का सिद्धान्त (coherence theory) और अर्थक्रियावादी (या उपयोगितावादी) सिद्धान्त (pragmatic theory)।[१८]

सत्य के संवादिता सिद्धान्त के अनुसार सत्य वह है जो यथार्थ से मेल खाये, जो वास्तविकता के अनुरूप हो । इस प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार अनुकूलता को सत्य का लक्षण ही नहीं वरन् सत्यता की कसौटी भी माना गया है ।

जैनदर्शन सत्यता की इस कसौटी से वहाँ सहमत प्रतीत होता है जहाँ प्रमाण का लक्षण सम्यक्त्व (उमास्वाति) और अविसंवादित्व (अकलंक) माना गया है। सम्यंवत्व को परिभाषित करते हुए उमास्वाति ने कहा हैं सम्यक् ज्ञान वह है जो पदार्थ को न्यूनतारहित एवं अधिकतारहित ज्यों का त्यों जानता है । इसी प्रकार अविसंवादित्व का लक्षण करते हुए अकलंक कहते हैं- वह ज्ञान जिसका तथ्य या यथार्थता से विसंवाद न हो, ऐसा ज्ञान जिसमें बाह्यार्थ की यथावत् उपलब्धि हो। बाह्यार्थ की यथावत् प्राप्ति व अप्राप्ति पर अविसंवाद और विसंवाद निर्भर है । अतः इससे यहाँ यह निष्कर्ष निकलता है कि ज्ञान सत्य (या, दूसरे शब्दों में प्रमाण) हो सकता है जो सम्यक् हो (उमास्वाति तथा हेमचन्द्र के अनुसार) तथा अविसंवादी हो (अकलंक के अनुसार), और वस्तु का यथातथ्य चित्रण अथवा यथार्थता की यथावत् ज्ञान में उपस्थिति ही सत्यता की कसौटी है ।

सत्य की इस कसौटी को यदि मान लिया जाये, तो इसमें कुछ कठिनाइयाँ सामने आती हैं, जैसा कि इस कसौटी को मानने वाले पाश्चात्त्य दार्शनिकों के सामने भी ये कठिनाइयाँ आती रही हैं। ज्ञान की यथार्थता से अनुरूपता उस तरह नहीं मापी जा सकती, जिस तरह कोई भौतिक वस्तु मापी जाती है। इसके अतिरिक्त, कोई किसी तथ्य का संवादी है- यह कैसे कहा जा सकता है? ज्ञान तथ्य के अनुकूल है- यह कहना तभी सार्थक है, जबकि हमें उस तथ्य का, उस ज्ञान से कोई स्वतंत्र पूर्वज्ञान हो चुका हो। लेकिन प्रश्न उठता है जिसका पूर्वज्ञान हो चुका हो उसके फिर से ज्ञात होने का क्या औचित्य है? यहाँ वस्तुतथ्य का पूर्वज्ञान होना प्रमाण के अनधिगतार्थग्राही लक्षण के विरुद्ध है क्योंकि इस लक्षण के अनुसार प्रमाण का कार्य प्रमाणान्तर से अनिर्णित अर्थ का निर्णय करना होता है। फिर यह कहना कि "पत्तियाँ हरी हैं" तथ्य के साथ संवाद रखता है जो पुनरुक्ति मात्र है, क्योंकि तथ्य स्वयं ज्ञात विषयों में हुआ करते हैं। तथ्य तथा सत्य एक बात है। अत: मात्र संवादित्व से प्रत्येक ज्ञान के सत्य की सिद्धि नहीं की जा सकती। एक ज्ञान का वस्तु तथ्य से संवाद स्थापित करना ही असंभव है, फिर यदि वस्तु तथ्य की हमारी धारणा गलत है तो संवाद भी गलत होगा जिसके परिणामस्वरूप मिथ्या ज्ञान भी सत्य सिद्ध हो जायेगा।

कुछ जैन-दार्शनिकों ने प्रमाण के तीन लक्षण बताये हैं- अबाधित्व, अव्यभिचारित्व और संगति। जैसा कि पूर्व विवेचना से स्पष्ट हो चुका है उस ज्ञान को प्रमाण मानेंगे जिस ज्ञान से संगति हो। इसका आशय है कि कुछ दार्शनिकों ने सत्यता कि कसौटी संगति मानी है। पाश्चात्त्य दर्शन में भी आदर्शवादी दार्शनिक जिनमें हेगेल, ग्रीन, बोसांके और ब्रेडले प्रमुख हैं, ने संगति को सत्यता की कसौटी माना है। इनके अनुसार हमारे ज्ञान की सत्यता शेष ज्ञान के साथ संगति में निहित है। यदि हमारा वर्तमान ज्ञान पूर्व ज्ञान के विपरीत है तो हो सकता है हमारा वर्तमान ज्ञान गलत हो। यद्यपि कभी कभी ऐसा भी होता है कि नवीन खोजों एवं अनुसंधानों द्वारा हमारा पूर्व ज्ञान गलत सिद्ध कर दिया जाता है और नवीन ज्ञान को सत्य। किन्तु यहाँ पर स्पष्ट है कि नवीन ज्ञान और पूर्व ज्ञान में संगति स्थापित कर दी गयी और दोनों में विरोध समाप्त कर दिया गया। इसका तात्पर्य है कि किसी भी स्थिति में बाधित ज्ञान सत्य नहीं माना जा सकता। ज्ञान में संगति, ज्ञान की सत्यता के विश्वास के लिए आवश्यक है। ज्ञातव्य है कि सत्यता की यह कसौटी अकलंक और माणिक्यनंदि के "अपूर्व" विश्लेषण की विरोधी है।

सत्यता की इस कसौटी में भी कई कठिनाईयाँ हैं। तर्कशास्त्र में अबाधिता

(non-contradiction) विश्लेषणात्मक परामर्शों की सत्यता की कसौटी है। विश्लेषणात्मक परामर्शों का अर्थ- ऐसे परामर्श जो कोई नवीन ज्ञान तो नहीं देते हैं परन्तु इन परामर्शों में विधेय उद्देश्य का स्पष्टीकरण मात्र करते हैं। विश्लेषणात्मक परामर्श को उदाहरण से स्पष्ट कर सकते हैं जैसे त्रिभुज के तीनों कोणों का योग दो समकोणों के बराबर होता है, इस विश्लेषणात्मक परामर्श में उद्देश्य त्रिभुज के तीनों कोणों के योग से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि विधेय दो समकोण के बराबर होगा। किन्तु ज्ञान विधेय- द्वारा उद्देश्य के स्पष्टीकरण तक सीमित नहीं है। अत: ज्ञान को विश्लेषणात्मक परामर्शों तक सीमित नहीं किया जा सकता। ज्ञान में विधेय को उद्देश्य में कुछ नई बातें जोडनी चाहिये। जिस परामर्श में विधेय उद्देश्य में कुछ नई बातें जोडता है उस परामर्श को संश्लेषणात्मक परामर्श कहते हैं।

अत: स्पष्ट है कि यदि सत्यता की कसौटी अबाध का नियम मान लिया जाये तो ज्ञान सिर्फ विश्लेषणात्मक परामर्शों तक सीमित रह जायेगा और सम्पूर्ण ज्ञान संदेह युक्त हो जायेगा। पाश्चात्त्य-दर्शन में डेविड ह्यूम ने इसी प्रकार मात्र अबाध नियम को सत्य की कसौटी मानकर सम्पूर्ण ज्ञान को संदेहयुक्त सिद्ध किया था। ह्यूम के पश्चात्वर्ती जर्मन दार्शनिक इमैन्युअल कांट ने ह्यूम के मत का तर्कपूर्ण खंडन कर दिया था। कांट ने दिखाया कि संश्लेषणात्मक परामर्श की सत्यता पर संदेह नहीं किया जा सकता। ज्ञान सिर्फ यह नहीं है कि "चौकोर गोल नहीं है", वरन् इस ज्ञान की सत्यता में किंचित् नहीं किया जा सकता कि अमुक मेज एक विशिष्ट आकार और विशिष्ट रंग की है।

यदि संगति और अबाधिता को ज्ञान की सत्यता की कसौटी माना जाये तो जिस प्रकार सत्य ज्ञानों में सामंजस्य स्थापित किया जाता है, उसी प्रकार असत्य ज्ञानों में सामंजस्य स्थापित करके असत्य ज्ञानों का समूह बना लेना असंभव नहीं होगा। तात्पर्य यह है कि संगति और अबाधिता को सत्य की कसौटी मानने पर सत्य और भ्रमपूर्ण ज्ञानों में अंतर नहीं किया ज़ा सकता क्यों कि भ्रमपूर्ण ज्ञानों में भी संगति स्थापित की जा सकती है। माणिक्यनन्दि द्वारा बताये गये प्रमाण के लक्षण का विश्लेषण करने पर सत्यता की एक अन्य कसौटी सामने आती है- **अर्थक्रियावादी कसौटी**। इस कसौटी के अनुसार कोई ज्ञान तभी सत्य कहा जा सकता है जब मानव-व्यवहार द्वारा निरीक्षण-परीक्षण द्वारा उस ज्ञान को परख लिया जाये। डिवी के अनुसार सत्य का केवल एक अर्थ है- परीक्षित। अर्थक्रियावादी विलियम जेम्स के अनुसार केवल उन्हीं प्रत्ययों को सत्य कहा जा सकता हैं जो प्रयोग द्वारा प्रमाणित किये जा सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि ज्ञान अनुभवाश्रित परीक्षण के पश्चात्

ही सत्य सिद्ध हो सकता है ।

इस सिद्धान्त में भी कई कठिनाईयाँ हैं । सर्वप्रथम तो सत्य का निर्णय सदैव परीक्षण नहीं होता, दूसरे, उपयोगिता की अनुभूति में भ्रम हो सकता है । इसके अतिरिक्त यह आवश्यक नहीं है कि जो उपयोगी वह यथार्थ है । कभी किसी परिस्थिति में झूठ बोलना उपयोगी हो सकता है, किन्तु उस उपयोगिता से उस झूठ की यथार्थता सिद्ध नहीं की जा सकती । उपयोगिता और सत्यता में अनिवार्य संबंध नहीं है ।

उपर्युक्त विवेचना से यही सिद्ध होता है कि प्रमाण सत्यता की कसौटी पर परखा हुआ ज्ञान है । **प्रमाण ज्ञान मात्र** नहीं है, अपितु **परीक्षित** ज्ञान है, सत्यापित ज्ञान है ।

अकलंक देव ने प्रमाण का एक लक्षण दिया—"अनधिगतार्थग्राही" और माणिक्यनन्दि ने भी प्रमाण का एक लक्षण दिया - "स्वपूर्वार्थव्यवसायी" । अकलंक के अनुसार, अनधिगत का अर्थ है ऐसा ज्ञान प्रमाण होगा जो प्रमाणान्तर से अनिर्णित अर्थ का निर्णय करे । इसी प्रकार माणिक्यनन्दि के "स्व" अर्थात् अपने और "अपूर्वार्थ" अर्थात् जिसे किसी अन्य प्रमाण से नहीं माना गया है, ऐसे पदार्थ के निश्चय करने वाले ज्ञान को प्रमाण कहा है । यदि प्रमाण के ये "अपूर्व" और "अनधिगत" विश्लेषण मान लिये जाते हैं तो इसका अर्थ कि प्रमाण सत्यापित ज्ञान नहीं वरन् प्रत्युत ऐसा ज्ञान है जिसको पहले किसी प्रमाण से नहीं जाना गया है । अत: प्रमाण के लक्षण परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं ।

इस प्रकार उमास्वाति, अकलंक, सिद्धसेन, माणिक्यनन्दि आदि दार्शनिकों के प्रमाण के लक्षण विवेचन से स्पष्ट होता है कि इनके द्वारा प्रमाण के लक्षण-कथन में सत्यता की विविध कसौटियों को माना गया है । साथ ही, पाश्चात्त्य-दर्शन की सत्यता की विविध कसौटियों से इन दार्शनिकों के प्रमाणलक्षण की तुलना करने पर नई बात सामने आई कि जहाँ पाश्चात्त्य-दार्शनिकों द्वारा सत्यता की नई विविध कसौटियों को परस्पर विरोधी माना गया है और किसी एक कसौटी को ही अंतिम रूप से चुना गया वहीं इन दार्शनिकों द्वारा प्रमाण के रूप में एक ही सत्यता ने ये विविध कसौटियाँ स्वीकार कीं ।

प्रश्न उठता है कि इन दार्शनिकों द्वारा प्रमाण के लक्षण में एक साथ सत्यता की ये विविध कसौटियाँ क्यों मानी गयीं? इसका उत्तर खोजा जा सकता है— दर्शन की विशिष्ट तत्त्वमीमांसा में, जिसका अनिवार्य सार निकलता है उनकी **अनेकान्तवादी दृष्टि, जो इसके सम्पूर्ण दर्शन** में व्याप्त है । इस अनेकान्तवाद के सिद्धान्त के

अनुसार वस्तु में विरुद्ध प्रतीत होने वाले अनन्तधर्म रह सकते हैं क्यों कि वस्तु अनन्तधर्मात्मक है । वस्तु में जितने विरोधी धर्म हैं सब सत्य है क्योंकि वस्तु-विषयक सम्पूर्ण यथार्थता का ज्ञान उन विरोधी धर्मों के समन्वय मे निहित है । अत: वस्तु के विषय में सभी मत उपयोगी हैं क्योंकि वे वस्तु के विविध पहलुओं का कथन करते हैं और वस्तु के विषय में सम्पूर्ण तथ्य को जानने में सहायक होते हैं। वस्तुओं के विषय में जो नाना मत-मतान्तर हैं, उनका कारण वस्तु का अनेक धर्मात्मकस्वरूप है ।[१९]

पाश्चात्त्य-दार्शनिक वस्तु और सत्यता की एक कसौटी मानते हैं और दूसरी कसौटी को उस कसौटी को उस कसौटी का विरोधी सिद्ध करते हैं क्योंकि उनके मत में सत्ता का स्वरूप अपरिवर्तनशील हैं । इसके विपरीत, जैन-दार्शनिक वस्तु का विवेचन एक विशिष्ट रूप में करते हैं, वस्तु-विषयक सभी दृष्टियाँ उस विशिष्ट दृष्टिकोण के संबंध में सत्य हैं । सभी दृष्टियाँ सत्य को जानने के सम्भावित माध्यम हैं । इससे सिद्ध होता है कि इन दार्शनिकों द्वारा प्रमाण के जो विभिन्न लक्षण दिये गये हैं वे सम्भव हैं क्योंकि वस्तु में विभिन्न गुण संभव हैं ।

बच्छराज दुगड
विभागाध्यक्ष
अहिंसा एवं शान्ति अध्ययन विभाग
जैन विश्व भारती संस्थान
(मान्य विश्वविद्यालय)
लाडनू (राजस्थान)

टिप्पणियाँ

१. तत्त्वार्थवार्तिक, अकलंक, सं. पं. महेन्द्रकुमार, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५३, १.१०-१
२. वही १.१०-६-७
३. वही, १.१०-८-९
४. पञ्चास्तिकाय समयसार, कुंदकुंद, निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई, १९१६, गाथा ४८, ४९
५. तत्त्वार्थवार्तिक, १.१०-१२
६. वही, १.१०-१४

७. वही, पृ.२९७
८. परीक्षामुख, माणिक्यनंदी, सेन्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ, १९४०,१.२
९. प्रमाण मीमांसा, हेमचन्द्र, अंग्रेजी अनुवाद, प्रो. सत्कारि मुखर्जी, तारा पब्लिकेशन, वाराणसी, १९९०,१.८
१०. न्यायकुमुदचन्द्र, (अकलंक की लघीयस्त्रय पर टीका) प्रभाचन्द्र, सं. पं. महेन्द्रकुमार, मानिकचन्द्र, दिगंबर जैन सीरीज, मुंबई, १९३८, १.३
११. मतिश्रुताऽवधिमन: पर्ययकेवलानिज्ञानम्, तत्त्वार्थसूत्र, १.९
१२. तत्प्रमाणे/ वही १.१०
१३. प्रमाणं स्वपरावभासि ज्ञानं बाधाविवर्जितम् । न्यायावतारवार्तिक, सिद्धसेन, सिंधी जैन ग्रंथमाला, भारतीय विद्याभवन, मुंबई, १९४९,१.२
१४. न्यायावतार, १, २
१५. अष्टसाहस्त्री, (अकलंक की अष्टशती पर टीका) विद्यानंदी, निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई, १९१५, पृ. १७५
१६. वही, पृ. १७५
१७. स्वपूर्वार्थव्यवसायात्मकज्ञानं प्रमाणम् । परीक्षामुख, १.१
१८. Dictionary of Philosophy, Ed. Dogobert D. Runes, Philosophical Library, New York, 1942, page 321-22
१९. पंचास्तिकाय, गाथा ८.

गीता और मानववाद

"मानववाद" पद के अंग्रेजी पर्याय "ह्यूमनिज्म" का प्रयोग पश्चिमी विचार-परम्परा के अन्तर्गत एक खास तरह के दृष्टिकोण को सूचित करने के लिए ही किया गया है।[१] इस प्रकार "मानववाद" उस दृष्टिकोण की संज्ञा है जो सत्, ज्ञान और मूल्यों के क्षेत्र में मानव-व्यक्ति, उसके अनुभव और प्रयोजनों को ही केन्द्र में रखने का पक्ष लेता है। यह दृष्टिकोण एक दार्शनिक मत के रूप में सर्वप्रथम यूनान के सोफिस्टों के चिन्तन में अभिव्यक्त हुआ था। तब से लेकर आज तक, यह प्राय: सत्, ज्ञान और मूल्य तीनों के विषय में निरपेक्षवाद का विरोधी और सापेक्षवाद का समर्थक रहा है। इसने सत्य, वास्तविकता और मूल्यों के साधारण मानवीय अनुभव और समझ से परे होने का सदैव विरोध किया है।[२] यही नहीं बल्कि आधुनिक मानववाद ने तो ईश्वर की सत्ता का भी मनुष्य के हित में विरोध किया है और एक अच्छे जीवन की प्राप्ति के लिए मनुष्य के अपने साधनों और सामर्थ्य पर ही विश्वास किया है।[३]

अब मानववादी दृष्टिकोण के सम्बन्ध में उपर्युक्त विवेचना को दृष्टिगत रखकर यह लग सकता है कि गीता और मानववाद में विरोध का रिश्ता ही हो सकता है। इसके बावजूद प्रस्तुत निबन्ध का विषय इस विचार का प्रतिपादन करना है कि गीता के मूल सिद्धान्त और मानववादी दृष्टिकोण में समन्वय की आशा करना युक्तिसंगत हो सकता है। लेकिन यह तभी सम्भव हो सकेगा, जब हम गीता और मानववाद दोनों को देखने के अपने तरीके में कुछ परिवर्तन लाएँगे। इस परिवर्तन की आवश्यकता के प्रमाणस्वरूप पहले हमें यह स्पष्ट करना होगा कि गीता में अनेक धारणाएँ ऐसी हैं जिनके परिप्रेक्ष्य में मानववादी दृष्टिकोण की एक खास अवधारणात्मक तल पर गीता के साथ सचमुच संगति नहीं बैठती है।

गीता और मानववाद में असंगति

मानववादी दृष्टिकोण के अनुसार साधारण मनुष्य के अनुभव और प्रयोजनों को बडा महत्त्व दिया जाता है। यहाँ तक कि मानववादी विचारक साधारण मनुष्य के अनुभव और प्रयोजनों के आधार पर अपने विभिन्न सिद्धातों को स्थापित करने का भी प्रयास करते हैं। जब कि गीता की दृष्टि में साधारण मनुष्य के अनुभव और

प्रयोजन ''आसुरी'' सम्पत्ति के सूचक हैं । गीता का कथन है :-

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुमकम ।।[४]

(अर्थात् वे (आसुरी व्यक्ति) कहा करते हैं कि जगत् आश्रयरहित, असत्य (धार्मिक कर्मों का मूल्यहीन होना) और बिना ईश्वर के अपने आप केवल स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न हैं । अत: काम ही इसका कारण है, और कोई कारण नहीं है।) इस तरह के व्यक्ति दम्भ, मान और मद से युक्त होते हैं, कभी पूरी न होने वाली कामनाओं पर आश्रित होते हैं, अज्ञान से मिथ्या सिद्धान्तों को ग्रहण करके और भ्रष्ट आचरणों को धारण करके संसार में विचरते हैं ।[५] उन्हें मृत्युपर्यन्त असंख्य चिन्ताएँ सताती रहती हैं । वे विषय-भोगों के भोगने में तत्पर रहते हैं । ''जो कुछ है वह इतना ही है'' ऐसा निश्चय करने वाले होते हैं ।[६]

मानववाद में ज्ञान के जिस सापेक्षवादी और भेदपरक रूप का समर्थन किया गया है, उसे गीता में उत्तम श्रेणी के सात्त्विक ज्ञान से भिन्न राजस ज्ञान ही कहा जाता है । देखिए –

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ।।[७]

(अर्थात् जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण भूतों में अलग-अलग अनेक भावों को अलग-अलग रूप से जानता है, उस ज्ञान को तू राजस जान ।) मानववादी दृष्टिकोण के अनुसार जो ज्ञान निरपेक्ष होने के कारण मनुष्य के लिए मूल्यरहित समझा गया है, गीता में उसे उत्तम कोटि का ज्ञान मानकर ''सात्त्विक ज्ञान'' कहा जाता है । यह वह ज्ञान है ''जिससे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतों में एक अविनाशी सत्ता को विभागरहित देखता है'' ।[८] स्पष्ट है कि अगर सभी भूतों में एक ही अविनाशी सत्ता अविभक्त रूप में विद्यमान है, तो विश्व-व्यवस्था में मानव के लिए तात्त्विक दृष्टि से न तो किसी विशिष्ट स्थान को माना जा सकेगा और न मानवीय बुद्धि और इन्द्रियानुभव पर आधारित उस ज्ञान को पूर्णरूपेण सत्य कहा जा सकेगा, जो जगत् की वस्तुओं में नानात्व को प्रदर्शित करता है । अत: यहाँ भी गीता के सिद्धान्त की मानववादी सिद्धान्त के साथ संगति नहीं दिखाई देती ।

मानववाद अपने सापेक्षतावादी आग्रह के कारण ज्ञान को व्यक्ति की अपनी धारणाओं तथा अनुभव पर आश्रित मानकर एक ज्ञानमीमांसीय किस्म के उदारतावाद का समर्थन करता है । गीता की दृष्टि में इस तरह के उदारतावाद को उचित नहीं माना जाता है । श्रीकृष्ण कहते हैं :-

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनदन ।
बहुशा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ।।[९]

(हे अर्जुन ! इस (कर्मयोग) में निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही होती है । किन्तु अस्थिर विचार वाले मनुष्यों की बुद्धियाँ निश्चय ही बहुत भेदों वाली और अनन्त होती हैं ।)

यहाँ गीता में कर्मयोग के संदर्भ में ज्ञानमीमांसीय सापेक्षवाद को अस्वीकार किया गया है । ऐसा इसलिए कि यहाँ सापेक्षवाद को स्वीकार करने का परिणाम यह होता है कि निष्काम कर्म की संभावना ही सिद्धान्ततः असम्भव हो जाती ।

मानववादी नीतिशास्त्रीय सापेक्षवाद के अनुसार नैतिक आदर्शों अथवा मूल्यों को मानवीय इच्छाओं, प्रयोजनों, संवेगों आदि मनोवैज्ञानिक तथ्यों से निगमित करने का प्रयास किया जाता है । इसके विपरीत, गीता के सिद्धान्तानुसार माना जाता है –

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।।[१०]

(अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष जो जो आचरण करता है, दूसरे पुरुष भी वैसा ही आचरण करते हैं । वह जो कुछ प्रमाण कर देता है अर्थात अपने आचरण से जो भी मानदंड स्थापित कर देता है, समस्त मनुष्य समुदाय उसी का अनुकरण करता है ।) इसका मतलब है कि नैतिक श्रेष्ठता का मानदंड नैतिक रूप से श्रेष्ठ मनुष्य ही है । कहा यही जा रहा है कि नैतिक सदाचरण को तथ्यों से निगमित नहीं किया जा सकता; क्योंकि यह पूछे जाने पर कि कोई कर्म कर्तव्य क्यों है, गीता के अनुसार यही कहा जाएगा "क्योंकि श्रेष्ठ अर्थात् आदर्श पुरुषों ने ऐसा किया है" । अब यह कहना कि "आदर्श पुरुषों ने ऐसा किया है" कोई तथ्यात्मक कथन नहीं है बल्कि एक ऐसा कथन है जो पुनः "आदर्श" अर्थात् "मूल्य" के ही विषय में है । गीता में अन्यत्र शास्त्र को भी आदर्शों, मूल्यों अथवा कर्तव्यों के विषय में मानदंड स्वीकार किया है ।[११] शास्त्र और श्रेष्ठ पुरुष दोनों को एक साथ मानदंड स्वीकार करने में कोई भेद नहीं है, क्योंकि लगता है कि श्रेष्ठ पुरुष जो कहते हैं वही शास्त्र बन जाता है और जो शास्त्र के अनुसार चलते हैं वे श्रेष्ठत्व को प्राप्त कर लेते हैं । शास्त्र को ईश्वरकृत भी कहा गया है । अव्यय ईश्वर स्वयं "उत्तम पुरुष" अथवा "पुरुषोत्तम" है ।[१२] दूसरे श्रेष्ठ पुरुष भी इसीलिए श्रेष्ठ हैं, क्योंकि उन्होंने ईश्वर के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को समझ लिया है । अतः कर्तव्यों अथवा मूल्यों का मानदंड चाहे श्रेष्ठ पुरुषों को माना जाए या शास्त्र को माना जाए या ईश्वर को माना जाए, बात एक ही है । गीता को किसी भी स्थिति में यह मान्य नहीं होगा कि आदर्श अथवा कर्तव्य अपनी व्याख्या के लिए किसी तरह के निर्नैतिक तथ्यों पर आश्रित होते हैं । समकालीन दर्शन की

शब्दावली में कहें, तो गीता के अनुसार ''चाहिए'' को ''है'' से निगमित नहीं किया जा सकता। स्पष्ट है कि इस बिन्दु पर भी गीता के सिद्धान्त की मानववाद के सिद्धान्त के साथ संगति नहीं है।

उपर्युक्त चर्चा के आधार पर यह मानना उचित लगता है कि अगर गीता और मानववाद को हम एक विशेष अवधारणात्मक ढाँचे में देखते हैं, तो इनके सिद्धान्तों में असंगति दिखाई देगी। परन्तु इन्हें देखने का एक दूसरा अवधारणात्मक ढाँचा भी हो सकता है। प्रसिद्ध प्रयोजनवादी दार्शनिक शिलर ने संकेत किया है कि मानववाद का निरपेक्षवाद के साथ समन्वय हो सकता है, बशर्ते कि यह दिखाया जा सके कि निरपेक्षवाद के पास यथार्थ मानवीय आवश्यकताओं का जवाब है।[१३] अब यह तो ज्ञात नहीं कि स्वयं शिलर इस बात को मानेंगे अथवा नहीं कि निरपेक्षवाद के पास यथार्थ मानवीय आवश्यकताओं के जवाब हो सकते हैं, या हो सकते हैं तो वे किस तरह के होंगे। तथापि शिलर के सुझाव में एक बात अन्तर्निहित रूप से मानी जा रही लगती है कि मानववादी दृष्टिकोण के पास मानवीय आवश्यकताओं के जवाब होने चाहिए।

मानववादी दृष्टिकोण ने हमेशा यह दावा किया भी है कि उसके सापेक्षतावादी तथा अनीश्वरवादी सैद्धान्तिक तंत्रों के पास मानवीय आवश्यकताओं के जवाब हैं और निरपेक्षतावादी तथा ईश्वरवादी सैद्धान्तिक तंत्रों के पास उन मानवीय आवश्यकताओं के युक्तिसम्मत जवाब नहीं हैं। जो भी हो, इतना तो किया ही जा सकता है कि गीता और मानववाद दोनों को मानवीय आवश्यकताओं के सामान्य अवधारणात्मक ढाँचे में रखकर देखा जाए। इस संदर्भ में यह कहना युक्तिसम्मत दिखाई देता है कि गीता और मानववाद दोनों ही का सम्बन्ध दो ऐसे दृष्टिकोणों से है जो मानवीय आवश्यकताओं के जवाब ढूँढना चाहते हैं। मानववाद ने मनुष्य की **बाहरी आवश्यकताओं** को अपना केन्द्र-बिन्दु बनाया है, जब कि गीता ने मनुष्य की **अन्दर की आवश्यकताओं**[१४] को अपना केन्द्र बिन्दु बनाया है। भारतीय आध्यात्मिक दृष्टि के अनुसार मनुष्य की बाहरी आवश्यकताओं को ही ''अनित्य'' और अन्दर की आवश्यकताओं को ''नित्य'' कहा गया है। बाहरी आवश्यकताओं को उनकी उपेक्षा करने के मंतव्य से ''अनित्य'' नहीं कहा गया है, बल्कि उन्हें इसलिए अनित्य कहा गया है कि उनकी पूर्ति जिन चीजों से होती है उनका स्वभाव बदलने वाला है। दूसरी ओर, ''नित्य'' उन आवश्यकताओं को कहा गया है जिनकी पूर्ति किसी नित्य अवस्था अथवा सत्ता के अनुभव के बिना नहीं हो सकती। मनुष्य की आधारभूत आवश्यकताओं का विचार ही चतुर्विध पुरुषार्थों की व्यवस्था (मोक्ष, धर्म, अर्थ और काम) के रूप में

व्यक्त हुआ है। चतुर्विध पुरुषार्थों की व्यवस्था की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि मानववाद का सम्बन्ध "अर्थ" और "काम" से है, जब कि गीता का सम्बन्ध मनुष्य की "मोक्ष" नामक आवश्यकता से है। अब देखने की मुख्य बात यह है कि चतुर्विध पुरुषार्थों की इस व्यवस्था में जिस चीज को "धर्म" कहा गया है, उस पर गीता और मानववाद दोनों ने पर्याप्त रूप से ध्यान दिया है। मोटे तौर पर "धर्म" से अभिप्राय उन चीजों से है जिन्हें आजकल हम मनुष्य के नैतिक सामाजिक कर्तव्य, आदर्श अथवा मूल्य कहते हैं। अब यह देखने योग्य बात है कि हमारे प्रस्तुत साध्य में "धर्म" ही वह सूत्र बन सकता है जिसके द्वारा गीता और मानववाद में समन्वय की आशा की जा सकती है। इसका कारण साफ-साफ यह है कि गीता और मानववाद दोनों ही मनुष्य के कर्तव्यों, आदर्शों अथवा मूल्यों पर पर्याप्त ध्यान देते हैं। गीता का तो सम्पूर्ण सिद्धान्त ही मनुष्य के कर्तव्य की समस्या के संदर्भ में उद्भूत हुआ है। पर मानववाद ने भी अपने ढंग से मनुष्य के नैतिक जीवन की समस्याओं पर कम ध्यान नहीं दिया है। लोकतंत्र, समाजवाद, धर्म-निरपेक्षता, विश्व -बंधुत्व, मानवीय समता, मानवाधिकार आदि नैतिक-सामाजिक अवधारणाओं के सैद्धान्तिक आविर्भाव में मानववादी विचारधारा की महती भूमिका रही है। इसके बावजूद गीता और मानववाद दोनों ने मनुष्य के नैतिक जीवन की समस्या पर अपने-अपने ढंग से विचार किया है। गीता में यह विचार मनुष्य की अन्दर की आवश्यकता अर्थात् मोक्ष या ईश्वरानुभूति तथा तदनुरूप साधनों (जैसे श्रद्धा आदि) को ध्यान में रखकर किया गया है। यही गीता का अपना वैशिष्ट्य भी है मनुष्य अपने कर्मशील नैतिक जीवन का सम्यक्रूपेण निर्वाह करता हुआ भी मोक्ष या ईश्वरानुभूति को प्राप्त कर सकता है। यही नहीं बल्कि मनुष्य का कर्मशील नैतिक जीवन वैराग्यादि पर आधारित समझ से युक्त रहते हुए मोक्ष-प्राप्ति में एक सक्षम साधन बन सकता है, बशर्ते कि वह यह सीख ले कि भीतरी आसक्ति का त्याग करते हुए भी बाहर से कर्तव्य-कर्मों को कैसे किया जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि गीता में अन्दर की आवश्यकता को ध्यान में रखकर मनुष्य के कर्तव्य-पक्ष पर विचार किया गया है। यही कारण है कि गीता को एक विशेष प्रकार का तत्त्वमीमांसीय, ज्ञानमीमांसीय तथा नीतिशास्त्रीय सैद्धान्तिक तंत्र स्वीकार करना पडता है। दूसरी ओर, मानववाद में मनुष्य की बाहरी आवश्यकताओं, परिस्थितियों तथा तदनुरूप साधनों को ध्यान में रखकर उसके जीवन के नैतिक-सामाजिक पक्ष पर विचार किया जाता है। इस प्रकार, मानववाद को अपने प्रयोजन के अनुरूप सैद्धान्तिक तंत्र में विश्वास करना होता है। निरपेक्षवादी और ईश्वरवादी सैद्धान्तिक तंत्र का उसके

लिए कोई उपयोग नहीं है । कहने का अभिप्राय यह है कि जिस विचारक का जैसा प्रयोजन होता है, उसे उसी तरह की सैद्धान्तिक व्यवस्था में विश्वास करना होता है। अत: दो तरह के मतों में सचमुच विरोध है या नहीं, अथवा वे एक दूसरे के पूरक हैं या नहीं इन प्रश्नों पर सैद्धन्तिक तंत्रों को आधार बनाकर विचार करने का कोई औचित्य नहीं है । हाँ, यदि दो मतों में प्रयोजन की दृष्टिं से कोई विरोध हो, या वे एक-दूसरे के पूरक हों, तो ही उनमें सचमुच विरोध या समन्वय की स्थिति को स्वीकार करना चाहिए ।

अब चूँकि गीता और मानववाद दोनों के प्रयोजन भिन्न-भिन्न हैं, अत: उनमें कोई विरोध नहीं दिखाई देता । जहाँ तक दोनों मनुष्य के नैतिक जीवन पर विचार करते हैं (भले ही अलग-अलग ध्यान-बिन्दुओं से ही सही)। दोनों में मेल-मिलाप का बिन्दु ढूँढा जा सकता है । इसका एक कारण यह भी होना चाहिए कि "धर्म" के लिए न तो यह कह सकते कि यह एकान्तिक रूप से कोई अन्दर की ही आवश्यकता है और न यह कह सकते कि यह एकान्तिक रूप से कोई बाहर की आवश्यकता है । वस्तुत: "धर्म" दोनों तरह की आवश्यकताओं को एक सूत्र में जोडने वाली चीज का नाम है । गीता के दृष्टिकोण के आधार पर तो ऐसा कहा ही जा सकता है । ऐसा यदि है तो हम न केवल यह कह सकेंगे कि गीता और मानववाद के दृष्टिकोणों में कोई विरोध नहीं है, बल्कि यह कहना भी युक्तिसम्मत होगा कि उनमें समन्वय भी हो सकता है । इस दृष्टि से यह देखा जा सकता है कि मानववाद के प्रयोजन की पूर्ति में गीता का मूल सिद्धान्त सहायक सिद्ध होता है। इतना ही नहीं बल्कि गीता के मूल सिद्धान्त को स्वीकार किए बिना मानववाद का प्रयोजन भी निर्बाध रूप में पूरा नहीं हो सकता । मानववाद मनुष्य के अनेक उच्चादर्शों को स्वीकार करता है । मानववादी दृष्टिकोण के अनुसार उन आदर्शों के औचित्य को मनुष्य के "काम" और "अर्थ" जैसी आवश्यकताओं के आधार पर प्रदर्शित किया जाएगा । इसमें कोई हर्ज नहीं । पर सवाल यह है कि व्यक्ति को जो करना चाहिए उसके योग्य उसका भीतरी पक्ष कैसे निर्मित हो सकेगा ? इस प्रश्न का मानववाद के पास कोई संतोषजनक उत्तर नहीं हो सकता । हमारा मानवीय अनुभव ही हमें बताता है कि हम बाहर से चाहे नैतिक दीखें अथवा अनैतिक, बाहर से चाहे हम कैसा भी कर्म करें, हमारे भीतरी प्रेरक नहीं बदलते, हमारा मूल स्वार्थमय स्वभाव नहीं बदलता । गीता में कहा भी गया है कि बाहर से संयमी दिखाई देने वाले व्यक्ति के केवल विषय ही निवृत्त होते हैं, उन विषयों में रहने वाली आसक्ति नहीं निवृत्त होती ।[१५] कहने का तात्पर्य है कि नैतिक-सामाजिक उच्चादर्शों को प्राप्त

करने में एक बडी बाधा व्यक्ति के अपने स्वभाव द्वारा भी प्रस्तुत की जाती है । वह आंतरिक बाधा व्यक्ति को कभी भी उसके कर्तव्य के मार्ग से च्युत कर सकती है । इस आंतरिक बाधा के निराकरण पर ध्यान दिए बिना मानववाद को अपने प्रयोजन में पूर्ण सफलता नहीं मिल सकती है । इसका मतलब यह नहीं है कि मानववादी अपने मूल कार्य को छोडकर इस समस्या को सुलझाने में लग जाए या अपने मूल कार्य में इसे भी शामिल कर ले । कहने का अभिप्राय सिर्फ इतना ही है कि मानववाद अपनी सीमाओं को पहचाने । उसे अपनी मान्यताओं के सम्बन्ध में निरपेक्ष और एकांगी दावों से बचना चाहिए । उसे सिर्फ इतना पहचान लेना चाहिए कि उसके प्रयोजन की पूर्ति के लिए उसे जिस तरह के मनुष्य की आवश्यकता है, उसका पूरा निर्माण उसकी अपनी सैद्धान्तिक सीमाओं के अन्तर्गत सम्भव नहीं हो सकता । कहना न होगा कि जिस तरह का मनुष्य मानववाद को सिद्धान्ततः चाहिए उसके निर्माण में गीता के मूल सिद्धान्त का काफी योगदान हो सकता है । गीता ही हमें यह आश्वासन देती है कि मनुष्य के नैतिक जीवन में आने वाली आंतरिक बाधा के निराकरण का उसके पास उपाय है । इस दृष्टि से यह कहना अयुक्तियुक्त नहीं कि गीता और मानववाद में न केवल कोई विरोध नहीं है, बल्कि उनमें समन्वय की भी आशा की जा सकती है ।

नरेन्द्र नाथ गुप्ता

रीडर दर्शनशास्त्र विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय
कुरुक्षेत्र (हरियाना)

टिप्पणियाँ

१. देखिए एन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, भाग ६, पृ. ८३०-८३१ ।
२. वही, पृ. ८३० ।
३. देखिए न्यू स्टेण्डर्ड इन्साइक्लोपीडिया, भाग ६, पृ. २८३ ।
४. भगवद्गीता, अध्याय १६, श्लोक ८ ।
५. वही, अध्याय १६, श्लोक १० ।
६. वही, अध्याय १६, श्लोक ११ ।
७. वही, अध्याय १८, श्लोक २१ ।

८. वही, अध्याय १८, श्लोक २० ।

९. वही, अध्याय २, श्लोक ४१ ।

१०. वही, अध्याय ३, श्लोक २१ ।

११. वही, अध्याय १६, श्लोक २४ ।

१२. वही, अध्याय १५, श्लोक १७ तथा १८ ।

१३. देखिए एन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, भाग ६, पृ.८३०।

१४. अन्दर की आवश्यकताओं से हमारा तात्पर्य ''मनोवैज्ञानिक'' कही जाने वाली आवश्यकताएँ नहीं है, अपितु आध्यात्मिक आवश्यकताएँ ही है ।

१५. भगवद्गीता, अध्याय २, श्लोक ५९ ।

इतिहास की भारतीय अवधारणा पर पुनर्विचार

रूपांतरकारी समस्त इतिहास वर्तमानस्थ इतिहास है क्योंकि सिवाय ऐसे इतिहास के और कुछ भी हमारे गहन अनुभव का विषय नहीं हो सकता। सतही तौर पर यह धारणा एक ऐसी उत्तर-आधुनिक धारणा प्रतीत हो सकती है जो गहराई में 'इतिहास' को ही खारिज या विखंडित करने की कोशिश कर रही हो। इतिहास के अन्त की घोषणाओं वाले दौर में ऐसा संशय बाजिब है, परन्तु वैज्ञानिक तल पर उसे पूरी तरह मुनासिब नहीं माना जा सकता। सापेक्षता से उद्भूत आइंस्टीनियन विज्ञान हमें समय के वास्तविक द्वंद्वात्मक स्वरूप को समझने और ग्रहण करने के करीब ले आया है। ऐसे में समय की आध्यात्मिक-अमूर्त धारणाएँ खारिज तो नहीं होतीं परन्तु पुनर्विचार के दायरे में जरूर चली आती हैं और हम उनकी पुनर्व्याख्या करते हुए उनके भौतिक सारतत्त्व को डीकोड करने के नजदीक चले आते हैं। ब्रह्माण्ड के छाविक अथवा रेडियोग्रामिक नक्शे तैयार करते हुए खगोलविद् अचानक एक विचारणीय बिन्दु तक आ पहुँचे हैं। वे ब्रह्माण्ड के उन सुदूर ग्रहें-नक्षत्रों के चित्र खींच सकते हैं जिनसे चलीं किरणें तब की हैं जब हमारे सौर मंडल का जन्म हो रहा था, यानी आज हम उस समय के ब्रह्माण्ड की एक तस्वीर तो देख ही सकते हैं जब 'हमारा समय' अस्तित्व में आ रहा था। हमारा वह 'आदिम समय' अभी तक खोया नहीं है, वह आज भी स्थान की अतल दूरियों में मौजूद है। इसका अर्थ है : काल भौतिक रूप में अतिनश्वर हैं क्योंकि स्थान (आकाश) अतल और असीम है। समय की यह द्वन्द्वात्मक वैज्ञानिक रूप उसे सही मायनों में वर्तमानस्थ बना देता है। वर्तमान के इस बिन्दु में हमारा तमाम अतीत मौजूद है और भविष्य भी क्योंकि हम उसके बीज हैं। हम भविष्य के तमाम क्षणों का किसी न किसी रूप में अतीत हैं और सदा रहेंगे। इस अर्थ में 'इतिहास के अन्त' की बात एक असंभावता से ज्यादा कुछ नहीं। दूसरी तरफ जब माओ यह कहते हैं कि इतिहास का इस्तेमाल वर्तमान के लिये होना चाहिए न कि इतिहास को वर्तमान का इस्तेमाल करने की छूट देनी चाहिये - तो वे इतिहास की वर्तमानस्थता के सार्वत्रिक द्वन्द्वात्मक सत्य के काफी क़रीब दिखाई देते हैं। हालाँकि उनके उद्देश्य और सरोकार उतने व्यापक नहीं। मार्क्सवाद के तहत द्वन्द्वात्मक पद्धति का इस्तेमाल हमारे समाजार्थिक इतिहास के नक्शे बनाता है जो बाद में भविष्य की अपनी अवधारणा के लिये

इतिहास का सरलीकरण करने की समस्या से उबरता-उलझता चलता है । इस तरह मार्क्सवाद से लेकर मौजूद संशोधक या नवमार्क्सवादी रूपों तक इतिहास की वर्तमानस्थता विशेष संदर्भों से सीमित और उसे भविष्य-बीज की तरह इस्तेमाल करने की दृष्टि से थोडी सरलीकृत होती भी दिखाई देती है । यदि ठीक से समझा जाए तो इतिहास की वर्तमानस्थता दरअसल इतिहास की वर्तमान-मुक्ति है क्योंकि वर्तमान उसे अक्षुण्ण-निरन्तर जीवन्तता प्रदान करता है । वर्तमान के अंतर्गत जीवन्त इतिहास ही वास्तविक इतिहास होता है । इतिहास के इस्तेमाल की अवधारणा जब इतिहास पर हावी होती है तो धीरे धीरे उसकी जीवन्तता को नष्ट कर उसे एक जड़ वस्तु बना देती हैं । अत: इस्तेमाल की जीवन्तता का कोई विकल्प नहीं है - ऐसा समझना चाहिये । परन्तु क्या इतिहास की जीवन्तता की बात हमें उसकी जैव अवधारणा की ओर तो नहीं ले जाती?

एक बात तो तय है कि यदि हम इतिहास के विकास की धारणा की बाबत आश्वस्त हैं तब कहीं न कहीं जैवीयता का कोई तत्त्व या अंश तो उसमें है ही; क्योंकि विकास जीवन का लक्षण है, जड का नहीं । (हालाँकि जड भी किसी प्रसुप्त-सुषुप्त जीवन की संभावना से एकदम इन्कार करना अब संभव नहीं रह गया है, परन्तु वह अवान्तर प्रसंग है) जैवीय विकास के तौर पर जब हम जन्म-विकास-मृत्युवाली चक्रीयता को इतिहास पर लागू करते हैं तो उसका यथास्थितिवादियों द्वारा इस्तेमाल होना आसान होने लगता है । यह जैवीयता की उथली समझ का नतीजा है । जैवीयता की द्वन्द्वात्मक समझ हमें अप्रासंगिक के ह्रास व विनाश और प्रासंगिक के बीज रूप हो दोबारा जन्म लेने की अनवरतता के करीब ले जाती है और विकास की जीवननुमा जटिलता और अनिश्चितता से दो-चार होना सिखाती है । इस रूप में जैवीयता भी इतिहास के अनवरत विकास का पर्याय बन जाती है ।

इतिहास के जैवीय सिद्धान्त में निहित उसकी द्वन्द्वात्मक अंतस्संभावना का विकास करना मुझे इसलिये प्रासंगिक लगता है क्योंकि इतिहास की भारतीय अवधारणा जैवीय सिद्धान्त के काफी करीब है और साथ ही समय अथवा काल की अमूर्त आध्यात्मिक धारणाओं में उलझी हुई है । सो, पहले तो इस उलझाव के परे हटाकर आध्यात्मिक और भौतिक की परस्पर-विरोधी कोटियों का अतिक्रमण करने वाले अविरोधी सार-तत्त्व तक पहुँचना होगा और फिर इसमें द्वन्द्वात्मक विकासन की अंतस्संभावना को विकसित करना होगा । यह कार्य खासी मुश्किलों से भरा है परन्तु इसे दरकिनार कर अगर हम इस विरासत को आध्यामिकता या जैवीयता की वजह से रद्द करके रूसी-यूरोपीय इतिहास की वैज्ञानिक-द्वन्द्वात्मक अवधारणाओं

को आरोपित करते जाने का वही पुराना आसान तरीका अख्तियार किये रखेंगे तो 'हमारा इतिहास' दिमाग तक रह कर 'उनके रक्त में बहते इतिहास' से कन्नी कतराता रहेगा - उसे कभी अपदस्थ करने में कामयाब न होता हुआ बात मार्क्सवादी इतिहास पर बादल मंडराने से या इतिहास की अन्तवादी व्याख्याओं से पैदा हुए खतरों को कुछ ज्यादा ही तूल दे कर भयवाद का सहारा लेने से नहीं सुलझेगी क्योंकि न्यायपूर्ण समसमाज की स्थापना के लिये तो अंततः रक्त में बहते इतिहास का विकास ही काम आयेगा। इसके लिये मैं उपर्युक्त दो विचार-धुरियाँ प्रस्तावित करता हूँ। एक है इतिहास की वर्तमानस्थता की द्वन्द्वात्मक सापेक्षिक समझ और दूसरी है इतिहास की जैवीयता की द्वन्द्वात्मक अंतस्संभावना का विकास। ये दोनों बातें एक दूसरे से सम्बद्ध है। इतिहास के इस जैव-दार्शनिक सिद्धान्त के पहले पक्ष से हम अपने इतिहास के सांस्कृतिक एवं विभाजनकारी सांप्रदायिक रूपों के बुनियादी रूप होने की वजहों को समझने की चेष्टा करेंगे और दूसरी से अपने इतिहास के समूचे रूप या संरचना को पकडते हुए उसे अतीतवाद से निजात दिलाकर भविष्यमुख कर पाने का प्रयास करेंगे।

भारत में एक अर्से तक कोई इतिहास नहीं लिखा गया। आरम्भिक इतिहास के जो थोडे बहुत विवरण मिलते हैं वे भारत यात्रा पर आये विदेशियों के हैं। बाद में यानी तुर्क-मुगल काल में अथवा अंग्रेज काल में जो इतिहास लिखे गये वे 'भारतीय इतिहास' के बुनियादी ढाँचे से मेल नहीं खाते थे, परन्तु 'इतिहास' अपना अर्थ ग्रहण करने के लिये बार बार उसी बुनियादी रूप - यानी सांस्कृतिक रूप की ओर लौटता था जिस की वजह से अंततः इन कालों के इतिहास विभाजनकारी एवं सांप्रदायिक रूप लेने को विवश हो गये। ये इतिहास खंडित सांस्कृतिक चेतना की शक्ल में आई इतिहास - चेतना से युक्त होने की वजह से सांप्रदायिक हो जाते हैं और इस तरह अंग्रेज कालीन इतिहास की परिणति भारत-पाकिस्तान विभाजन की शक्ल में होती है। इतिहास की यह विभाजनकारी प्रक्रिया अभी तक बदस्तूर जारी है क्योंकि हमारे रक्त में बहती हमारी अपनी इतिहास चेतना पंगु हो कर सामाजिक-राजनैतिक रूपांकन पाने में असमर्थ रहती है और विदेशी (औपनिवेशिक) इतिहास चेतना उसकी बेबसी की हालत का फायदा उठा कर अपना काम करती चली जाती है... यदि हम औपनिवेशिक इतिहास के सांप्रदायिक होने के कारणों की तह में जाएँ तो हम आसानी से यह बात जान सकते हैं कि इसकी वजह हमारी अपनी इतिहास चेतना का बुनियादी तौर पर सांस्कृतिक होना है। औपनिवेशिक दौर में जो इतिहास इस पर लादा गया उसकी चेतना बुनियादी रूप में समाज-राजनैतिक थी। समाज

-राजनैतिक चेतना वाला इतिहास सत्ता पर काबिज वर्गों के हितों से बावस्ता था अत: हमारी सांस्कृतिक चेतनावाले इतिहास द्वारा उसका परिपूर्ण आत्मसातीकरण नहीं हो पाता था । एक तरफ यह अधूरा आत्मसातीकरण और दूसरी तरफ सत्ताधारी इतिहास द्वारा उसका अपने पक्ष में इस्तेमाल करने का प्रयास - ये दोनों मिल कर इतिहास को सांप्रदायिक व विभाजनकारी बनाने की ओर अग्रसर हुए।

भारतीय इतिहास चेतना के बुनियादी रूप में सांस्कृतिक होने के संदर्भ में इतिहास की वर्तमानस्थता के एक विशिष्ट रूप से देखा जा सकता है । यह इतिहास का ऐसा आध्यात्मिक रूप है जिसका आधार एवं सारतत्त्व भौतिक है परन्तु जहाँ इस आधार का इस कदर आदर्शीकरण कर लिया गया है कि उसकी भौतिकता लगभग अग्राह्य हो गयी है । यहाँ अतीत (इतिहास) का वर्तमान के पक्ष में इस कदर आत्मसातीकरण हुआ है कि उसका लगभग लोप हो गया है और इसी कारण उसे केवल चिह्नों, प्रतीकों, कूटों की डीकोडिंग के जरिये ही कठिनाई से हासिल किया जा सकता है । आदर्शीकरण का इतना प्रबल आग्रह भौतिक उत्पादनशील शक्तियों - शिल्पियों, श्रमिकों, दासों, कृषकों, शूद्रों, आदि - को भी इसीलिये उच्च वर्गों विशेषत: ब्राह्मणों के पक्ष में लगभग पूरा खपाने का कार्य भी करता है । दूसरी तरफ जो विदेशी आक्रान्ता यहाँ आ कर अंतत: काबिज होते हैं वे अपने साथ अपना इतिहास - अपने अतीत की श्रेष्ठता के भाव के साथ - लाते हैं और वर्तमान को उससे संचालित-व्यवस्थित करने की कोशिश करते हैं । इस तरह साथ ही आती है भारत में अतीत (इतिहास) और वर्तमान के दरम्यान विच्छिन्नता की स्थिति । उनके मुकाबले हीन (विषमतामूलक, जातिवादी, वर्णवादी) सामाजिक इतिहास वाले भारत का अतिविकसित सांस्कृतिक चेतनावाला इतिहास-बोध भी विदेशी इतिहास-बोध के सामने पराजित-सा महसूस करता है । यह पराजय बोध उसे अपने वर्तमान को बचाने के लिये अतीत /इतिहास/विरासत को खंगालने और अपनी अस्मिता को तलाशने व पुन:स्थापित करने की ओर ले जाता है .. सत्ता पर काबिज औपनिवेशिक इतिहास चेतना भारत के इस नये अतीतवादी इतिहास बोध का मुकाबला इस अतीत के सांप्रदायिक विभाजनकारी रूपों को शह दे कर/उभर कर करती है । इस तरह इतिहास के दो अतीतवादी रूप सामने आते हैं । एक रूप है मध्य-एशियाई और यूरोपीय जिसमें जैव (जातिगत/कुलीनता जात) श्रेष्ठता को प्रमाणित करने के लिये वर्तमान में आक्रान्ता की तरह प्रवेश किया जाता है । जैव अतीत की श्रेष्ठता शुद्ध रक्त अथवा आर्य रक्त के नाम पर लगभग सारे मध्य काल में वर्तमान की छाती पर अपनी विजय का झंडा गाडने को बेताब नजर आती है । वर्णसंकरता से खुद को

बचाती विशुद्ध क्षात्र शक्ति की संघर्ष गाथा हमारे यहाँ भी महाभारत में मौजूद है परन्तु उसे भगवद्गींता के माध्यम से एक गहन आध्यात्मिक वर्तमानस्थता (समभाववाली स्थितप्रज्ञता) के पक्ष में पचा लिया गया है । इस तरह पहली सदी के आसपास ही हमारा इतिहास अंतर्मुखी हो जाता है । अतीत का अतिशय आदर्शीकरण उसे धीरेधीरे पतनशील बनाता है और फिर वह सातवीं आठवीं सदी के बाद से लगातार एक विशिष्ट अतीतवादी इतिहास द्वारा पराजित व पराभूत होता चलता है । इस चुनौती का सामना औपनिवेशिकता से पराभूत भारत एक दूसरी तरह की अतीतजीविता से करता है जो उसके अतीत गौरव के पुनरुत्थान से जुडी है । औपनिवेशिकता के भी यहाँ दो रूप हैं । मध्य-एशियाई इतिहास चेतना पर्याप्त समाज-राजनैतिक ऊर्जा न होने से अंततः हमारे ही इतिहास बोध का हिस्सा हो जाती है परन्तु उसमें सांप्रदायिक विभेदकत्व एक हद तक बना रहता है । यूरोपीय अतीतवाद अपनी अति-भविष्यमुखता के कारण कभी हमारा वर्तमान नहीं हो पाता जिससे उसे यहाँ से रुख्सत होना पडता है । अतीतवादिता के दरअसल कुल मायने यही हैं कि यह वर्तमान को जीत कर भविष्य पर अधिकार करना चाहती है । मध्य एशियाई अतीत जीविता ने धीरे धीरे अपना भविष्य खो दिया इसलिये वह वर्तमानस्थ होने के करीब आ गयी लेकिन यूरोपीय अतीतजीविता अभी तक उस मरहले पर नहीं पहुँची । इसलिये अभी वह इस या उस अर्थ में विश्वविजय का सपना देख सकती है । वैसे उसके मार्क्सवादी, आधुनिकतावादी, उत्तरआधुनिकतावादी वैश्विक मॉडेल जब जब अति-भविष्यमुखी हुए हैं और अपने अपने विश्व-विजय अभियानों से जुडे हैं, परास्त ही हुए हैं । हालाँकि मार्क्सवाद के तहत वैज्ञानिक द्वन्द्वात्मक पद्धति उसे इतिहास की वर्तमानस्थता के काफी करीब लाती है लेकिन जल्दही व्यावहारिक तल पर समाजैतिहासिक सरलीकरण उसे अतीत व भविष्य की द्वन्द्वात्मकता के जाल में उलथी कर खारिज कर देते हैं और हमारे हाथों में पूँजीवाद की पराजय और समाजवादी वर्गहीन समाज की स्थापना के नारे कभी मारक हथियार बन जाते हैं तो कभी दम तोडते दिखाई देने लगते हैं । यह अतीत की वर्तमान को लाँघ कर भविष्य में प्रवेश की हडबडी की वजह से होता है ।

गैर-औपनिवेंशीकरण की प्रक्रियाओं से दो चार होता भारत अपने साथ एक तो अस्मिताबोधक पुनरुत्थान वादी इतिहास चेतना ले आया है जो अब मौका पाकर अपने सांप्रदायिक चरित्र के मुताबिक-आक्रमक होना चाहती है और दूसरी तरफ उसके पास भविष्यमुखी मार्क्सवादी समाजवादी मॉडल है । ये दोनों मिल कर उसे-यूरो-अमरीकी नव-औपनिवेशीकरण का मुकाबला करने का साहस व आधार

प्रदान करते हैं : पहला राष्ट्रीय चेतना का प्रतीक बन कर ओर दूसरा इसे तीसरी दुनिया के औपनिवेशिकता विरोधी प्रारूप का एक अहम हिस्सा बना कर आगे की ओर धकेल रहे हैं लेकिन चूँकि ये दोनों मॉडल कई अर्थों में एक दूसरे से टकराते भी हैं इसलिये इनके अंतर्विरोध जब उभरते हैं तो वे इसके विकास की ओर कदमो की जंजीरें भीं बन जाते हैं। पहला मॉडल विदेशी औपनिवेशिक इतिहास चेतना का प्रतिरोध करते हुए पनपा। इसलिये उसका चरित्र कुछ सीमा तक प्रतिक्रियावादी भी है। और दूसरा मॉडल एक अर्थ में हमारा हो कर भी हमारा नहीं हो पाता क्योंकि उसकी भविष्यमुखता हमारी इतिहास चेतना के लिये अजनबी या पराई है और जिसके लिये उसे अपने महान् सांस्कृतिक अतीत को एक अर्थ में तिलांजली देनी पडती है कि वह अति आदर्शीकरण का शिकार लगता है। यही वजह है कि राष्ट्रवादी इतिहास चेतना को समाजवादी भविष्य विरासत-विरोधी लगता है और समाजवादी इतिहास चेतना को विरासत (सांस्कृतिक इतिहास) अंतर्विरोधग्रस्त। यहाँ ऐसा इसलिये हुआ है क्योंकि ये दोनों ही हमारी बुनियादी इतिहास चेतना से न तो ठीक से संपर्क साधती हैं और न ही उसके सम्यक् विकास में ज्यादा रुचि दिखाती हैं। क्योंकि विश्वसनीय रुचि का अर्थ है एक गहन दायित्व का स्वीकार और बारीक बुनियादी मुद्दोंसे उलझाने का साहस जो हमारे तमाम स्वीकृत दर्शनों/विचारधाराओं/मॉडलों को या तो अपदस्थ कर सकते हैं पर फिर हमें उन पर पुनर्विचार कर उन्हें अपनी तरह से पुनर्निमिती करने की ओर ले जा सकते हैं। यह बात ही घबराहट पैदा करनेवाली है कि हम मनु, कृष्ण, बुद्ध, गांधी, मुहम्मद या मार्क्स जैसा होने दिखने की कोशिश भी करें। लम्बे औपनिवेशिक काल ने हमारी मौलिक चिंतन क्षमता कों लगभग नेस्तनाबूद करके रख दिया है।

भौतिक सामाजिक उत्पादक शक्तियों का ब्राह्मणवादी इतिहास द्वारा जो अति-आदर्शीकरण हुआ, उसने हमारे समाज को विषमतावादी (जातिवादी/वर्णवादी) बनाकर अमानवीय शोषणकारी स्थितियों की तरफ धकेल दिया। हालाँकि इस आदर्शीकरण का स्रोत समत्व-बुद्धि ही थी जों व्यावहारिक तल पर सम-सामाजिक चेतना का रूप ही ग्रहण कर सकती थी, परन्तु ऐसा हुआ नहीं। ऐसा इसलिये नहीं हुआ कि हमारी इतिहास चेतना यथार्थ का आदर्शीकरण तो करती थी आदर्श का यथार्थीकरण नहीं। आदर्शीकरण ने उसे ऐसी गहरी अनुभूति-मूलक वस्तु बना दिया, जिसका यथार्थ में अवतरण एक दुर्लभ अलभ्य वस्तु बनता चला गया। यह अवतरण मात्र अवतारी पुरुषों की उपस्थिति अथवा उद्बोधन तक सीमित होने लगा और हम समसमाज (राम राज्य) की स्थापना अथवा पुनस्स्थापना के लिये राम के

होने या उसके पुनः पुनः अवतार लेने की उम्मीद या प्रतीक्षा में गर्क होते रहे । कृष्ण के मुँह से हमने भगवद्गीता में पुनः पुनः अवतरित होने की आश्वासन भी ले लिया। हमारी समसमाज की अवधारणा रामराज्य, शिवपुरी, बेगमपुरा (रैदास-वाणी से), त्रिपुर, आनन्दधाम आदि के रूप में आधुनिक काल तक (कामायनी के कैलाशधाम और गांधी के रामराज्यतक) अबाध रूप में विकसित, प्रवाहित होती आई है । ठीक से समझें तो हम चौथीं पाँचवीं शती तक की इतिहास चेतना को वैदिक आदिम (भौतिक-दैवीय रूप) धरातल से ऊपर उठते हुए यथार्थ के आदर्शीकरण की प्रक्रिया के रूप में देख सकते हैं । उसके बाद संक्रमण की स्थितियाँ हैं जो सातवीं आठवीं शती में यथार्थ के मायावादी-मिथ्यावादी रूप के प्रकट होने से अतिआदर्शीकरण के चरमोत्कर्ष (आदि शंकराचार्य ; ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या) को छू कर आदर्श के यथार्थ में अवतरण की ओर मुड जाती हैं । इस तरह आदर्श का आंशिक यथार्थीकरण ही होता है जो अवतारवाद और भक्ति के विविध रूपों में भक्ति आचार्यों से ले कर पूरे भक्ति आंदोलन तक व्याप्त है । यह आंशिक यथार्थीकरण हमें इस काल में सामाजिक विषमता (जातिवाद/वर्णवाद) विरोधी सांस्कृतिक प्रतिरोध तक ले जाता है । गुरु गोविन्द सिंह तक आते आते इसके राजनैतिक प्रतिरोधक रूप भी प्रकट होते हैं । और गांधी में आधुनिक रूप । इस तरह यह तमाम सफर आदर्श के यथार्थीकरण की दिशा में होता प्रतीत होता है । अब कहीं आ कर हमने मार्क्सवाद के सहारे से और समाजवादी समाज की स्थापना से सजग सम्बद्ध होने से इस यथार्थीकरण की प्रक्रिया को उसके चरमोत्कर्ष तक पहुँचाने की कोशिश करनी आरम्भ कर दी है । परन्तु हो यह रहा है कि जिस तरह आदि शंकराचार्य ने जगत् के मिथ्यात्व की बात दार्शनिक तट पर उठा कर उसका समग्र आदर्शीकरण करने की कोशिश की थी उसी तरह आज के मार्क्सवादी आदर्श के मिथ्यात्व से आश्वस्त हो उसका सम्पूर्ण यथार्थीकरण करने की कोशिश करते हैं । इस सोच के तहत कबीर की जातिविरोधी ब्राह्मणविरोधी चेतना तो उन्हें रास आती हैं परन्तु उसकी भक्ति उन्हें उस दौर का विरोधाभास या अन्तर्विरोध प्रतीत होती है। और आदि शंकराचार्य से बडा दूसरा दुश्मन दिखाई नहीं देता । इसी तरह यदि बुद्ध एक अर्थ में कुछ स्वीकार्य लगते हैं तो शून्यवादी बुद्धवादी कटघरे में खडा करने लायक प्रतीत होते हैं । यह सोच विवेकानन्द, अरविन्द आदि के नव-आदर्शीकरणों की वजह से उन्हें नवजागरण का श्रेय देने से हिचकिचाती है । यह सोच पर्याप्त रूपेण द्वन्द्वात्मक सोच्च नहीं है । यह इतिहास के इकहरे सांस्कृतिक सरलीकरण का प्रयास है जो यथार्थ की उथली समझ से उपजता है । इसके उलट होना यह चाहिये

कि हम आदर्श के यथार्थीकरण की प्रक्रियाओं को बारीकी से समझते हुए अवतारक व भक्ति की पुनर्व्याख्या करें और यथार्थीकरण की प्रक्रिया को तेज करते हुए अपनी पूरी विरासत को अपने पक्ष में पचा कर आत्मसात करते हुए अपने तरीके से विकसित करें। खण्डन मन्डन के अभाव में एक दृष्टिहीन उत्तेजना का पर्याय हो जाता है और हम 'अंधे अंधा ठेलिया, दून्यूं कूप पडन्त' (कबीर) वाली स्थिति में जा गिरते हैं।

इतिहास की वर्तमानस्थता इतिहास को प्रतीकों में ढाल देती है तब इतिहास प्रतीक-कुंजियों की तरह उद्‌बोधनकी वस्तु बन जाता है जिसे उपलब्ध करना पडता है। इस तरह मंत्रों का रहस्य इस बात में विहित प्रतीत होता है कि वे प्रतीक अथवा कूट-निबद्ध इतिहास होते हैं। इतिहास को इस तरह का रूप लेने की आवश्यकता इस वजह से होती है कि वह अति-व्यापक होता है। इतिहास का आरंभिक रूप भौतिक शक्तियों के अंतस्संबंधों व अंतस्संघर्षों के साथ साथ जीवन के उद्‌भव व विकास का जैव इतिहास होता है। मंत्रों में भौतिक शक्तियाँ देव-रूप हैं और जैव विकास प्रक्रिया अथवा ज्ञान-प्रविधि की तरह है जिसे हम उस मंत्र का ऋषि कहते हैं। इस तरह वैदिक सूक्त एक जटिल इतिहास के कूट, निबद्ध नक्शों की तरह सामने आते हैं। दरअसल वर्तमान की गहराइयों में छिपा हमारा ऐतिहासिक विकास इसी तरह की जटिल अभिव्यक्ति पा सकता है — हालाँकि यह जरूरी नहीं कि हम वेदों को इसी रूप में रचित या व्याख्यायित मानें। होता यह है कि इतिहास के जीवन्त आकलन समय के विराट विस्तार में धीरे धीरे अपनी भौतिक सामाजिक तथ्यपरकता से मुक्त हो कर मिथक अथवा मंत्र (मनन करते हुए तर जाने के उपक्रम) बन जाते हैं तब इन्द्र वृत्र संग्राम प्रतीक रूप में आत्मा और मनोविकारों का संग्राम बन सकता है - इसमें कोई कठिनाई नहीं है। वेदों में संसार-वृक्ष पर भोक्ता और साक्षी दोनों मौजूद हैं — यह एक तरह से सामाजिक इतिहास (भोक्तृव) और जैव-आध्यात्मिक विकास (साक्षीभाव) दोनों की स्वीकृति का आभास देता है। यम या सूर्य और पृथ्वी की आकलंन भी हैं और आत्म-संयमी पुरुष व लुभानेवाली स्त्री की कथा भी. इस तरह हम देख सकते हैं कि आदिम इतिहास चेतना में (उनके लिये न भी हो, हमारे लिये कम- अज कम) भौतिक एवं जैव इतिहास दोनों किसी वर्तमानस्थ उद्‌बोधन द्वारा प्राप्य हैं। बाद में हमें कम से कम तीन विशिष्ट सांस्कृतिक पद्धतियाँ मिलती हैं। जिन में इतिहास की वर्तमानस्थता के विविध रूप मौजूद हैं। पहली शिव के डमरु की द्वन्द्वात्मकता में है जहाँ मध्य भाग (वर्तमान) से दो सूत्र निकल एकसाथ विरोधी दिशाओं में (भूत - भविष्य) में जाते हैं और

कभी इस ओर से तो कभी उस ओर से 'नाद' करते हैं । दूसरी का संबंध पतंजली की प्रति - प्रसव की धारणा के साथ है । यह इतिहास की जैव धारणा है । कालान्तर में योग पद्धतियों के बहुत अधिक प्रचलित होने से पतंजलि निरन्तर नये नये रूपों में प्रासंगिक बने रहे । यह धारणा इस तथ्य की स्वीकृति में छिपी है कि हमारा समस्त जैव - इतिहास हमारे भीतर ही मौजूद है (आज डी. एन. ए. कूटों का पता चलने पर और रीढ और मस्तिष्क के रहस्यों से अधिक परिचय होने पर पतंजलि की बहुत सी धारणाएँ खाली हैरानी में डालती हैं) इसलिये अपने (वास्तविक रूप अथवा इतिहास) के परिचय के लिये हमें अपना प्रति-प्रसव करना पडता है — पीछे की ओर लौटते हुए वह सब जिस से हो कर हम अब तक गुजरे हैं, उसे जानना पडता है । ऐसा करने पर हम अपनी अज्ञान - ग्रंथियों को छिन्न भिन्न कर सकते हैं । यह विधि वर्तमान में समस्त इतिहास के गहराई में मौजूद होने के तथ्य की ओर ले जाती है । तिसरी पद्धती बुद्ध के जाति-स्मरण की है जो पतंजली का विकास या विस्तार प्रतीत होती है ; यह हमें हमारे पिछले जन्मों की स्मृति में प्रवेश कराने की विधि है । पिछले जन्म न कहें — सामूहिक सांझा अचेतन कह लें तो बेहतर होगा - जिसमें अब तक का घटित सब कुछ पडा है । कृष्ण की इतिहास पद्धति को मैं ने यहाँ मूल-पद्धतियों में इसलिये शामिल नहीं किया क्योंकि उनमें इन सब का समाहार एवं विकास है । वे अपने भीतर मौजूद विराट रूप को प्रकट करते है जिसमें भूत - भविष्य दोनों वर्तमानस्थ अनुभव की तरह दृश्य हो जाते हैं । वस्तुत: यह विराट रूप उनका इतिहास-रूप ही है । इस तरह हमारे यहाँ इतिहास को समाज - राजनैतिक घटनाओं के कालक्रमिक आकलन की बजाये किसी वर्तमानस्थ विराट अनुभव की तरह देखा गया और उसे बारंबार उद्बुद्ध करने, उपलब्ध करने की बात ही नहीं की गयी, उसके लिये जाने कितनी विधियों-प्रतिधियों की विकास भी किया गया । हालाँकि इससे इतिहास की तथ्यपरकता की, उसके भौतिक शक्ति होने की संभावना की हानि हुई । इससे कृष्ण-बुद्ध-पतंजलि के काल के बाद के दौरों में इतिहास के भौतिक-सामाजिक-रूप की अवहेलना होने लगी और हम शून्य अथवा यथार्थातिक्रमी ब्रह्म की धारणा का विकास करने को प्रवृत्त हो गये । क्यों हुए? संभवत: इसके पीछे विदेशी आक्रान्ताओं के द्वारा बारंबार पददलित होने की कोई भूमिका रही होगी । हम विराट समाज - राजनैतिक चुनौतियों की सामना करने में इसलिये असमर्थ होने लगे क्योंकि इतिहास के समाज-राजनैतिक रूपों का विकास करने की बजाय हमने उसे सांस्कृतिक धारणा के तौर पर विकसित करना शुरू कर दिया और जब सांस्कृतिक निष्कर्ष महत्त्वपूर्ण होने के बावजूद विषमतामूलक

समाज में सामाजिक शक्ति की तरह विकास न पाते अथवा विदेशी आक्रान्ताओं के द्वारा पराजित हो जाते तो हम समाज-राजनैतिक स्तर को नकारने अथवा उसकी उपेक्षा करने की ओर बढते । होना उलट चाहिये था कि हम एक समसमाज की निर्माण करते हुए अपनी समाज-राजनैतिक शक्ति का संचय करते, जब कि हम उसे ही रुकावट मानकर (मिथ्या माया के खेल की तरह) नकारने लगे। इस तरह हमारा इतिहास वर्तमानस्थ न रह कर वर्तमान की अमूर्त अनुभूति गत सामर्थ्य मात्र बन गया। इस से व्यक्तिगत रूप में समाधि की उपलब्धि तो हो सकती थी परन्तु इस के परिणाम स्वरूप सामूहिक रूपांतर के लिये द्वार न खुल पाये । आदि शंकराचार्य का ब्रह्म पारमार्थिक सत्य के तल पर पूर्ण उद्‌भासित होता था परन्तु व्यावहारिक सत्य के तल पर उसे अडचन होती थी । वह माया जो उसी की शक्ति अथवा उसका आवर्त मात्र थी, अपने अंतर्विरोधों सहित स्वीकार होने लगी । उसके अंतर्विरोधों को जैसे उसका स्वरूप ही मान लिया गया जिनका रूपांतर संभव न जान कर उनके अतिक्रमण मात्र की संभावना का विकास किया गया । इस तरह इतिहास की वर्तमानस्थता का लोप होने लगा और उसकी जगह वर्तमान की इतिहास हीनता या रहितता की बात आने लगी। वर्तमान के अनुकूल इतिहास का अमूर्त अनुभूतिगत रूपांतर व्यक्तिगत तौर पर तो संभव था परन्तु सामूहिक साँझे तौर पर तो ऐसा संभव नहीं हो सकता था । इसलिये भक्ति की अवधारणा में ब्रह्म के अवतरण की बात प्रकट हुई जो इतिहास की भौतिक -सामाजिक शक्तियों के रूबरू खडा हो कर संघर्ष करता हुआ उन्हें रूपांतरित कर सकता हो । इस स्थिति में इतिहास की वर्तमानस्थता व्यक्ति (अवतारी इतिहास- पुरुष) के प्रतीक में ढल कर सामने आती है जिससे भक्ति /प्रेम/समर्पण के माध्यम सें संपर्क साधा जा सकता है । गुरु गोविन्द सिंह तो ऐसे संघर्षशील अवतारी पुरुषों का पूरा इतिहासागार ही रच डालते हैं । परन्तु भक्ति काल से ले कर अंग्रेज काल तक इस सांस्कृतिक समाधान के सामने निरन्तर यह दिक्कत बनी रहती है कि कैसे राम एवं मुहम्मद अथवा अल्लाह की तात्त्विक एकता स्थापित की जाय और रक्त में बहते (वर्तमानस्थ) इतिहास के सांप्रदायिक विभाजन से बचा जाय । अब जो स्थिति सामने आई उस में केवल 'ना को हिन्दू ना मुसलमान' की चेतनावाला व्यक्ति ही अपने लिये एक अखण्ड अविभाजित इतिहास को उपलब्ध कर सकता था । लेकिन इस स्तर तक उठने, रूपांतरित होने वाले व्यक्ति कितने हो सकते थे? यह बात इसलिये विचारणीय हो जाती है कि अपने इतने यत्नों के बावजूद गांधी अंतता भारत के सांप्रदायिक विभाजन को रोक नहीं पाते । दूसरी तरफ आज़ाद भारत में वैज्ञानिक द्वन्द्वात्मक

समझ के विकास के साथ हम जिस समाज-राजनैतिक इतिहास के रूबरू खडे हो गये है, उसके साथ दिक्कत यह है कि वह इतिहास हमारा वर्तमानस्थ अनुभव बन कर रक्त में प्रवाहित नहीं होता, हमारी श्रद्धाएँ नहीं जगाता, ऐसे प्रतीकों / कूटों / मंत्रों में नहीं ढलता जिन का उद्बोधन संभव हो सके ।

लेकिन ऐसा क्यों हुआ कि इतिहास की सांस्कृतिक वर्तमानस्थ रूप सांप्रदायिक विभाजन में खण्डित होने के बाद विकसित नहीं हो पाता और इस स्थिति का फायदा कुछ राजनैतिक दलों को मिलता है जो बिना किसी गहरी सांस्कृतिक दृष्टि के रामराज्य का उथला इस्तेमाल कर के ही जन का ध्यान खींचने में सफल होने लगते हैं । संभवत: ऐसा इसलिये हुआ कि हमने इतिहास के सांस्कृतिक वर्तमानस्थ रूप के वैज्ञानिक द्वन्द्वात्मक विश्लेषण में रुचि नहीं ली और उसका विकास करने की बजाय उसे सरलीकृत सामाजिक इतिहास में विभाजित करना चाहा । हमने उसमें शोषक और शोषित के ध्रुवीकरणों को खोजा अथवा आरोपित किया और इस तरह इस सांस्कृतिक इतिहास चेतना को शोषक ब्राह्मणवादी और प्रगति कामी खेलों में आमने सामने रख दिया । इस कसौटीपर किसी ने तुलसी को स्वीकार किया और किसी ने उसे गालियाँ दीं । कोई बुद्ध के साथ हो गया और कृष्ण को वर्णवादी कह कर नकारने लगा । इस तरह के समाजैतिहासिक सरलीकरण संस्कृति की वैज्ञानिक व्याख्या करने में असमर्थ होने से धीरे धीरे केवल बौद्धिक वर्ग के कौतूहल की वस्तु बने रहे और पूरी बात अकादमिक हो कर निपट जाने की गवाही देने लगी । हमने कभी जिक्र नहीं की कि हम कैसे सांप्रदायिक विभाजन को पाटनेवाली अखण्ड अविभाज्य सांस्कृतिक इतिहास दृष्टि और परंपरा को खोज निकालें और उसका विकास करें? सूफी बुल्लेशाह जैसे लोग इसकी फिक्र करते थे जो अपनी चेतना को 'विच्च मसीत समाज गुजारे,.बुतखाने जा वडदा' के धरातल तक उठाने में कामयाब हो पा रहे थे । हमारे पास तो और बडी वजहें थीं । हम जानते थे कि यह सांप्रदायिक विभाजन औपनिवेशिक चेतना को बरकरार रखता है, हमें विभाजित कर हमारी समाज-राजनैतिक शक्ति को कुंद करता है और इसके विरोध में खडे हो एक पूर्ण अखण्ड राष्ट्रीय व्यक्तित्व का निर्माण करने का मतलब होगा - विश्व साम्राज्यवाद के खिलाफ खडे होने का, गैर औपनिवेशीकरण की प्रक्रियाओं को एक मुकाम तक पहुँचने का साहस दिखाने के लिये जगह पाना । राम, कृष्ण, पतंजलि, बुद्ध, शंकराचार्य, कबीर, फरीद, नानक, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, गांधी आदि की विरासत के प्रगतिशील सांप्रदायिकता विरोधी समसामाजिक जाति-वर्ण-विरोधी चरित्र का, ऐसे तत्त्वों का विकास विस्तार करना लाजिमी था । इस तरह के विकास

में उनके सामाजिक आंतर्विरोध विगलित हो कर एक व्यापक प्रगतिकामी इतिहास चेतना का हिस्सा हो सकती है । ऐसा करना इसलिये संभव हो सकता है क्योंकि इन सांस्कृतिक नायकों के व्यवहार में एक समाज-राजनीति-अतिक्रमी चेष्टा मौजूद है जो इन्हें त्याग, तप, साधना की ओर ले जाती है और सुविधाभोगी होने से बचाती हुई वर्गान्तरित करती है । ऐसा नहीं कि उनके समाज-राजनैतिक अंतर्विरोधों की तरफ ध्यान ही न दिया जाये, लेकिन यकीनन उनकी वजह से उनके अधूरे रह गये कार्यों के विकास की बात हमें एक सकारात्मक दृष्टिबंध में लाती है । नकार और सकार की संतुलन साधे बिना हमारे लिये विकास का कोई उपाय नहीं बनता है । नकार बहुत हो ली, अब सकार की गहन चुनौती और दायित्व का बोझ उठाना होगा ।

कुल मिलाकर अब हम इस भारतीय इतिहास चेतना के रूपाकार को उसके विकासात्मक रूप में पकड सकते हैं । यह चेतना चतुर्युगी चक्रीय ह्रासपरक चेतना मानी जाती रही है । लेकिन क्या सचमुच?

बात यदि सांस्कृतिक तल पर मौजूदा दौर के कलियुग होने की है तो वह ह्रासोन्मुख नहीं, सीधे विकासोन्मुख समय है क्योंकि उससे हो कर तो हमें सतयुग में प्रवेश करना है । विकासोन्मुखता के अभाव में तो ऐसा नहीं हो सकता कि हम अचानक इतिहास के सर्वोच्च सर्वोत्कृष्ट काल या दौर में प्रविष्ट हो जायें । ह्रास की पतनशीलता की बात हमारी औपनिवेशिक अथवा संकटकालीन धारणा है जिससे छुटकारा पाना संभव है । सतयुग की अगर तमाम धारणाएँ व व्याख्याएँ ध्यान से देखी जाएँ तो वे एक वर्गविहीन समतामूलक न्यायपूर्ण मुक्तिदायक समाज की धारणाएँ हैं । क्या यही हमारा वैज्ञानिक द्वन्द्वात्मक हासिल भी नहीं है? तब इस धारणा से परहेज क्यों? क्यों नहीं इसका भरपूर इस्तेमाल कर हम एक नये समाज व इतिहास को रचाने के लिये एक विकसित सांस्कृतिक चेतना के निर्माण की ओर अग्रसर होते? वैसे भी जिस सांस्कृतिक चेतना की विरासत हमारे पास है वह अपने आप में ही एक सामाजिक शक्ति है - जन जन के रक्त में बहने वाली शक्ति और उन के संवहन के केन्द्र हैं धर्मस्थल .जिनकी बौद्धिक सजग व्यक्तियों द्वारा की गयी अपेक्षा ने उन्हें सामान्य/नासमझ/शातिर/स्वार्थी तत्त्वों के हाथों में दिया है और शिक्षण-केन्द्र तो पहले से ही निरीअकादमिक कसरत कर हो कर रह गये हैं । मार्ग प्रशस्त है, उपयोग करना बाकी है ।

८१३/७ हाऊसिंग बोर्ड कालोनी, जी.टी.बी. नगर, जालन्धर - १४४००३

विनोद शाही

भारतीय संस्कृति तथा तकनीकी समाज : एक मूल्यपरक विश्लेषण

प्रस्तुत आलेख में मैंने दार्शनिक धरातल पर तकनीकी समाज एवं भारतीय संस्कृति के संबंध को दर्शाया है । प्राय: सामान्य लोगों का यह विचार बनता है कि भारतीय संस्कृति और तकनीकी समाज एक दूसरे के विरोधी हैं । भारतीय संस्कृति को जीवित रखने के लिए हमें तकनीकी समाज को भूलना पडेगा । किंतु मेरे दृष्टिकोण से तार्किक धरातल पर तकनीकी समाज एवं भारतीय संस्कृति परस्पर विरोधी नहीं हैं । भारतीय संस्कृति समग्रता की संस्कृति है । यह तकनीकी समाज को सांस्कृतिक मूल्यों के साथ संबद्ध करती है । सर्वप्रथम तकनीकी शब्द का विश्लेषण करते हुए इसे मैंने प्रोद्योगिकी के अर्थ में लिया है ।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि तकनीक (Technique) तथा तकनीकी (Technology) में सूक्ष्म अन्तर है । वस्तुत: तकनीक की व्यवस्था को तकनीकी कहते हैं । प्रारंभिक समाज में तकनीक थी, किनतु सुव्यवस्थित तकनीकी नहीं थी । आज तकनीक के विकसित रूप को तकनीकी का नाम दिया जाता है । मैंने तकनीक एवं तकनीकी शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग किया है । परन्तु साधारण बोलचाल की भाषा में तकनीक और तकनीकी को समानार्थक रूप में प्रयोग किया जाता है ।

यहाँ तकनीकी समाज (Technological society) जैसी अभिव्यक्ति का स्पष्टीकरण आवश्यक है । तकनीकी समाज किसी ऐसे विशेष समाज की ओर संकेत नहीं करता है जो तकनीकी दृष्टि से प्रगतिशील है । इसका अर्थ तकनीकी मनोवृत्ती से है । तकनीकी मनोवृत्ती आधुनिक समाज का द्योतक है । वर्तमान भारतीय सभ्यता की जड विज्ञान तथा तकनीकी में है । यह तकनीकी को सर्वोपरि मानता है । यह जीवन के हर क्षेत्र में सफलता को महत्त्व देता है । तकनीकी समाज का अर्थ ''मशीनी समाज'' के अर्थ में नहीं समझना चाहिए । ९वीं शताब्दी में यूरोप का औद्योगिक समाज ''तकनीकी समाज'' का तात्पर्य ''मशीनी समाज'' से समझता था। परन्तु भारतीय परिप्रेक्ष्य में तकनीकी समाज मशीनी समाज से भिन्न अर्थ में लिया गया

है । औद्योगिक समाज में मशीन मानव के विलगाव (Alienation) का कारण माना जाता था । किन्तु तकनीकी समाज मशीन को समाज के साथ जोडकर देखता है । मशीन मानव को विलगाव की त्रासदी देता है; परन्तु तकनीक मानव को मुक्ति देता है । इस तरह "तकनीकी समाज" उस मनोवृत्ति का द्योतक है जो आधुनिक मानव की जीवन शैली तथा उसके सामाजिक व्यवहार को प्रभावित करता है ।

भारतीय संस्कृति मूल्यों का संघात है जो भारतवासियों को अत्यंत प्रिय है। मूल्य के दो स्तर हैं- एक आध्यात्मिक और दूसरा लौकिक । आध्यात्मिक मूल्य एक आदर्श को ध्यान में रखता है । लौकिक मूल्य हमारी अभिरुचि एवं चुनाव से संबंधित है जो सदैव परिवर्तनशील है । जब हम भारतीय संस्कृति की बात करते हैं तो हम भारतीय नैतिक मूल्य की भी बात करते हैं । मूल्यपरक विश्लेषण का अर्थ है जीवन एवं समाज के मूल्यों से संबंधित विश्लेषण । मूल्यपरक का अर्थ किसी एक विशिष्ट मूल्य से नहीं बल्कि सामान्य मूल्य से है । मूल्य संबंधी शास्त्र को अर्थविज्ञान (Axiology) भी कहते हैं । इस आलेख में तकनीकी समाज एवं भारतीय संस्कृति की व्याख्या एवं विश्लेषण अर्थ-विज्ञान के दृष्टिकोण से की गई है। मानव जीवन के सभी स्तर पर मूल्य की महत्ता है । व्यक्ति तथा समाज की क्रिया-कलाप किसी न किसी तरह मूल्ययुक्त होती हैं । मान प्रमुखत: मूल्यचेतन एवं मूल्ययुक्त प्राणि है । व्यक्ति और समाज किसी न किसी आदर्श या मूल्य से जुडा रहता है। मानव मूल्यों में विश्वास करता है तथा नये मूल्यों का सृजन भी करता है । यह तथ्य हमें संस्कृति एवं तकनीकी समाज के मूल्यपरक विश्लेषण करने के लिए प्रेरित करता है ।

वर्तमान मानव समाज एक विरोधाभास से ग्रसित है । विरोधाभास इस बात को लेकर है कि यदि मानव समाज तकनीकी स्तर पर प्रगतिशील है तो अशुभ है तथा यदि वह तकनीकी स्तर पर पिछडा हैं तो भी अशुभ है । तकनीकी प्रगति अशुभ है क्योंकि मानव अपने मानवपन को खो देता है । तकनीकी पिछडापन भी अशुभ है क्योंकि मानव गरीबी रेखा से उपर बिना तकनीकी के उठ नहीं सकता है । यह सर्वविदित है कि अविकसित तकनीकी एक प्रकार का अशुभ है, क्योंकि यह पिछडेपन का द्योतक है । नये तकनीक का आविष्कार पिछडेपन से मुक्ति के लिए किया जाता है । इस तरह तकनीकी मानव त्रासदी से मुक्ति का साधन है । परन्तु ठीक इसके विपरीत तकनीकी विकास मानव समाज में व्याप्त वर्तमान अशुभ एवं बुराई का कारण है । यद्यपि तकनीकी क्षेत्र में हमने प्रगति की है परन्तु एक दार्शनिक इनकार नहीं कर सकता है कि तकनीकी विकास के साथ-साथ सामाजिक बुराइयाँ

भी बढी हैं। यह सत्य है कि तकनीकी समाज अमानवीयकरण एवं सांस्कृतिक पतन का कारण है, तकनीक ने मानवीय संबंधों को छिन्न-भिन्न कर दिया है। परन्तु इसका भावात्मक पक्ष यह है कि संचार तकनीकी ने पूरे विश्व को एक सूत्र में बाँधने का प्रयास किया है। इस तरह से मानवीय संबंध तथा जीवन-मूल्य में परिवर्तन आया है। तकनीकी को हम मानव कल्याण के लिए प्रयुक्त करते हैं। आर्थिक संकट से छुटकारा पाने के लिए भी तकनीकी विकास आवश्यक है। पोखरण में "न्युक्लीअर एक्सप्लोजन" के कारण भारत अपने को " न्यूक्लीअर पावर" के रूप में स्थापित कर चुका है। तकनीक को आत्मसुरक्षा एवं विकास के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। पूर्व प्रधानमंत्री स्व. लालबहादुर शास्त्री ने कहा था, "जय जवान, जय किसान"। वर्तमान प्रधानमंत्री श्री. अटलबिहारी वाजपेयी ने उसमें "जय विज्ञान" जोड दिया है। उन्होंने इस नारो को एक नया आयाम दिया हैं। यह भारत की वर्तमान वैज्ञानिक एवं तकनीकी नीति पर प्रकाश डालता है।

तकनीकी समाज में तकनीक मानव एवं समाज के विकास की दिशा निर्धारित करती है। वह मूल्यों को भी निर्धारित करती है। परन्तु मेरी समझ में तकनीकी अपने आप में मूल्ययुक्त नहीं है। तकनीकी नैतिकता-निरपेक्ष और मूल्यमुक्त है। तकनीकी का लाभ उसके तकनीकी प्रयोग एवं उपयोग में ही है। तकनीक का प्रयोग उसका मूल्य निर्धारित करता है। तकनीकी समाज से संबंधित कोई मूल्यपरक निर्णय हम नहीं ले सकते। हम यह नहीं कह सकते कि तकनीकी समाज अच्छा है या बुरा है। महात्मा गांधी जो स्वदेशी संस्कृति के पुरोधा माने जाते हैं उन्होंने अपनी पुस्तक "हिन्द स्वराज" में कहा है कि भारत तकनीकी एवं जीवन रक्षक दवायें विदेश से मँगा सकता है। यह हमारी स्वदेशी संस्कृति को प्रभावित नहीं करता है क्योंकि इसके पीछे भारत एवं भारतीय जनता का कल्याण निहित है। इस तरह स्वदेशी संस्कृति के अनुकूल यह संभव है कि हम अति आवश्यक विदेशी तकनीकी तथा जीवन रक्षक दवाओं का आयात करें तथा उसे मानव कल्याण से जोडकर अपनी स्वदेशी संस्कृति के अनुरूप ढाल दें।

भारतीय मानसिकता संस्कृति-आबद्ध है। हम संस्कृति क्षेत्र में काफी धनी है। भारतीय संस्कृति एवं तकनीकी समाज के साथ अनेक प्रश्न जुडे हैं। भारतीय संस्कृति एवं तकनीकी समाज का परस्पर विरोध तथा तकनीक का भारतीय सामाजिक जीवन पर प्रभाव एक विवादास्पद विषय रहा है। इस आलेख का मुख्य बिन्दु यह विचार करना है कि तकनीकी प्रगति का भारतीय संस्कृति एवं अस्मिता पर क्या प्रभाव पडा है। हम २१ वीं सदीं में प्रवेश की तैयारी कर रहे हैं। इस सदी

में मानव बिना तकनीक के नहीं रह सकता है । २१वीं सदी का सामाजिक जीवन एवं संबंध तकनीकी रिश्तों पर आधारित होगा । इस तकनीकी विकास की विडम्बना यह है कि जो आज प्रासंगिक है, हो सकता है कि वह तकनीक कल प्रासंगिक न हो । यदि हम नयी पीढी को आगे आनेवाले युग के लिए तैयार नहीं कर पाते हैं तो हमारी नयी पीढी पीछे छूट जायेगी ।

तकनीक जब सामाजिक क्रिया-कलापों के साथ जुडती है तब वह मूल्ययुक्त होती है । वस्तुत: तकनीक समाज में ऐसी अवस्था पैदा करती है जिससे नयी जीवन शैली तथा नये मूल्य उत्पन्न होते हैं । तकनीक के परिवर्तन के साथ हमारे जीवन मूल्य भी बदल जाते हैं । तकनीक मानवता की सेवा का साधन है । मूल्यमुक्त कहने का तात्पर्य यह है कि तकनीक अच्छी या बुरी नहीं होती है । यह एक साधन है, साध्य नहीं । इसका उपयोग इसे अच्छा या बुरा बना देता है । यदि तकनीक मानव-कल्याण के लिए प्रयुक्त होती है तो वह अच्छी है और यदि तकनीक मानव विनाश के लिए प्रयुक्त होती है तो बुरी है । तकनीक नये शब्दों को गढती है तथा नये अर्थ देती है । इस तरह तकनीक नये मूल्य सृजित करती है । यह नयी भाषा का निर्माण करती है । तकनीकी हमारे मूल्य-सिद्धान्त को प्रभावित करती है । तकनीक हमारी संस्कृति को भी प्रभावित करती है । नयी तकनीक उत्पन्न होने से नये मूल्य सृजित होते हैं । मानवीय रिश्तों को प्रगाढ करने में तकनीक हमारी सहायता करती है । तकनीक मानव संस्कृति का एक अंग है । मानवीय संस्कृति के विकास का एक महत्त्वपूर्ण कारक तकनीक है । यद्यपि तकनीक अपने आप मूल्यमुक्त है, किंतु यह ऐसी अवस्था का सृजन करती है जिससे नये मूल्यों का प्रादुर्भाव होता है । नये मूल्यों की सृजना से कुछ प्राचीन मूल्यों को त्यागना भी पडता है । उदाहरण के लिए बर्ट्रेंड रसेल "कार्यकुशलता" तथा "गति" जैसे मूल्यों की उत्पत्ति तकनीकी समाज की देन मानते हैं । मूल्य तथा नैतिक मूल्य में अन्तर है । "कार्यदक्षता" एक मूल्य है, किंतु यह एक नैतिक मूल्य नहीं है । "कार्यदक्षता" एवं "गति" इसलिए मूल्य हैं क्योंकि वे जीवन के लिए मूल्यवान् हैं । तकनीकी परिवर्तन के साथ सांस्कृतिक मूल्यों में भी परिवर्तन होता है । बी.डी. नाग-चौधरी ने कहा है, "मूल्य क्षरित होते हैं, मूल्य परिवर्तित होते हैं । समाज नये मूल्य को अंगीकार करता है"।[१] इस तरह सांस्कृतिक एवं मानवीय प्रगति तकनीकी की प्रगति से निर्धारित होती हैं । कहने का तात्पर्य यह है कि तकनीक हमारी संस्कृति को प्रभावित करती है । इस संदर्भ में लेसली वाइट ने अपनी पुस्तक "द इव्यूल्यूशन ऑफ कल्चर" में "टेक्नालोजिकल डिटरमिनेशन" के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है । वाइट के अनुसार "तकनीक

मात्र सांस्कृतिक विकास को ही निर्धारित नहीं करती बल्कि समाज के निर्माण की आधारशिला डालती है।''[२] तकनीकी समाज 'टेक्नालोजिकल डिटरमिनेशन'' के सिद्धान्त को स्वीकार करता है। 'तकनीकी नियंत्रणवाद' मानता है कि सामाजिक परिवर्तन का निर्धारक तकनीकी है। टालकाट पार्सन का मत है कि तकनीक एक क्षमता है, जो भौतिक पर्यावरण में आवश्यक परिवर्तन तथा नियंत्रण मानवीय आवश्यकता तथा माँग के अनुकूल करता है।[३] यदि हम यह कहते हैं कि तकनीक समाज को परिवर्तित करती है तो यह कहने के बराबर है कि तकनीक हमारे मूल्य सिद्धान्त में परिवर्तन करती है। यह सत्य है कि तकनीक हमारे समाज की देन है। मूल्यों का निर्माण भी समाज करता है। आज के भारतीय तकनीकी समाज का आधार प्राचीन भारतीय संस्कृति है। प्राचीन भारतवर्ष में आरंभ से ही तकनीक का प्रयोग होता रहा है। चिकित्साशास्त्र में तो हमारे देश की तकनीक एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। वस्तुत: सामाजिक विकास का प्रश्न तकनीकी और संस्कृति से संबंधित है। साधारणत: विकास का अर्थ हम आर्थिक विकास से समझते हैं। भारतीय समाज में विकास का अर्थ मात्र आर्थिक विकास नहीं है। विकास का अर्थ समग्र विकास है। समग्र विकास का तात्पर्य है विकास बहुआयामी प्रक्रिया है। विकास आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक आयामों को समग्रता में देखता है। विकास एक महत्त्वपूर्ण कारक है जिससे लोक-कल्याण संभव है। विकास एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है। एक ऐतिहासिक स्तर से दूसरे ऐतिहासिक स्तर तक जाना विकास कहलाता है। तकनीक का अभ्युदय बिल्कुल समाज से कट कर नहीं हुआ है। तकनीकी विकास भी एक सांस्कृतिक कार्य है। तकनीक सीधे हमारे सांस्कृतिक मूल्यों को तथा समाज में रहनेवाले मनुष्यों के व्यवहार को प्रभावित करती है। तकनीक हमारी नयी जीवन पद्धति एवं मूल्यों को सृजित करती है। मूल्य की अवधारणा को तकनीक परिमार्जित करती है। यह माना जाता है कि जो समाज अधिक उत्पादन करता है और अधिक उपभोग करता है, वह उतना ही समृद्ध समाज है। यह उपभोगतावादी समाज का लक्षण है। तकनीकी समाज एक अर्थ में उपभोगतावादी समाज है। समाज को विकास के लिए तैयार करना एक ऐतिहासिक आवश्यकता है। भारतीय समाज के विकास और प्रगति के लिए तकनीकी हस्तांतरण एक कारगर विधि हो सकती है। परन्तु स्वदेशी संस्कृति का आग्रह है कि विदेशी तकनीकी हस्तांतरण के स्थापन पर भारतीय सांस्कृतिक परिवेश के अनुकूल तकनीकी का विकास होना चाहिए। अपने देश की भूमि पर ही विकास के बीज बोना श्रेयस्कर होगा।

विकास कोई ऐसा पौधा नहीं है जिसे दूसरे देश से लाकर अपने देश में रोप दिया जाये । विकास को स्वदेशी तकनीक पर आश्रित होना चाहिए । संस्कृति तकनीक पर आश्रित होती है परन्तु तकनीकी पर नहीं । "हम बिना तकनीकी के जी सकते हैं, किंतु बिना तकनीक के नहीं जी सकते हैं ।"[४] यह कहना कि तकनीक और संस्कृति एक दूसरे से असंगत नहीं है, यह कहने के बराबर है कि तकनीकी और संस्कृति स्वतंत्र हैं । संस्कृति तकनीक की कल्पना करती है । तकनीक की व्यवस्था एवं सामंजस्य को ही तकनीकी कहते हैं । "बिना संस्कृति के तकनीक नहीं हो सकती, बिना तकनीक के संस्कृति नहीं हो सकती है ।"[५] संस्कृति बिना तकनीक की व्यवस्था के संभव नहीं हैं । संस्कृति तकनीक के अनुरूप होती है । तकनीक स्थायी एवं गतिशील संस्कृति की अभिव्यक्ति है । संस्कृति तकनीक के माध्यम से जीवित रहती है । "इस तरह कुम्हकार ने एक तकनीक का निर्माण किया है जिसको सांस्कृतिक दृष्टि से हम बर्तन कहते हैं । छोटे-छोटे बर्तन इसी तकनीक के फल हैं। बिना तकनीक के बर्तन नहीं बन सकते हैं, बिना इसके जीवन नहीं चल सकता ।"[६] तकनीक समाज में परिवर्तन लाती है । मानव सेवा के लिए यह एक भावात्मक साधन है; यह एक साधन है जो मानव कल्याण के लिए उपयोग किया जाता है। उदाहरण के लिए लेजर तकनीक का प्रयोग कर मोतियाबंद जैसे आँख के रोग का उपचार किया जाता है । इस अर्थ में लेजर मानव कल्याण के लिए प्रयुक्त होता है। यह शुभ है । परन्तु लेजर का प्रयोग "न्यूक्लियर बम" की दिशा तथा विस्फोट के लिए भी किया जा सकता है । यह प्रयोग अशुभ है । "सैटेलाइट्स" का प्रयोग शिक्षा तथा संस्कृति की प्रगति के लिए किया जा सकता है । यह प्रयोग शुभ है । परन्तु "सैटेलाइट्स" का प्रयोग अपसंस्कृति के प्रचार एवं प्रसार के लिए भी किया जा सकता है । यह अशुभ है । जब तकनीक मानव सेवा का साधन बनती है तब उसे नैतिक दृष्टि से शुभ माना जाता है । तकनीक प्राकृतिक संसाधन को अच्छे रूप में उपयोग करने में सहायता प्रदान करती है । यह सांस्कृतिक अस्मिता की सुरक्षा तथा राष्ट्र की एकता को बनाये रखने में सहायक हो सकती है । प्रो. रमाकांत सिनारी ने अपने आलेख "साइन्स, टेक्नॉलजी एण्ड हिन्दू वेल्टान्सच्यूग" में कहा है, "विज्ञान एवं तकनीक मानव को शक्ति सम्पन्न बनाता है- उसकी शक्ति की इच्छा को समारोपित करता है । मानव इस शक्ति को अपनी प्रगति तथा अस्तित्व को बनाये रखने के लिए उपयोग कर सकता है अथवा अपने विनाश के लिए भी कर सकता है ।"[७] मानव सदैव नयी तकनीक का विकास करता है । तकनीक का सही प्रयोग होना चाहिए जिससे हम इसके निषेधात्मक पक्ष से मुक्त रह सकें । परन्तु प्राकृतिक

संसाधनों को मानव कल्याण के लिए प्रयुक्त करने की दिशा में तकनीकी हमारी सहायता करता है । गैबरिल मार्शल ने इसे 'तकनीकी मानसिकता' की संज्ञा दी है। तकनीकी की उत्पति से मानव में पूर्ण स्वतंत्रता की चेतना पैदा होती है । तकनीक के कारण हम बहुत सारे प्राकृतिक बंधनों से मुक्त हुए हैं । प्राकृतिक अशुभ से हमें तकनीकी विकास के कारण मुक्ति मिली है । यह एक गलत धारणा है कि भारतीय संस्कृति की अस्मिता की रक्षा का तात्पर्य वर्तमान तकनीकी से विमुखता है । मानव जीवन की आवश्यकताओं को देखते हुए यह लगता है कि तकनीकी का उपयोग मानव कल्याण को बढाता है । तकनीकी रूप से प्रगतिशील समाज में मानव की अनेकानेक समस्याओं का जैसे भूख, बीमारी, गरीबी, महामारी, शारीरिक असंतोष, की समस्याओं का समाधान किया गया है । एक अर्थ में तकनीक हमारी संस्कृति की रक्षा करता है । तकनीक आधुनिक समाज एवं समय की माँग को पूरा करता है । तकनीक के उपहारों को हम संस्कृति की अस्मिता की रक्षा के लिए प्रयोग कर सकते हैं । तकनीक समाज के लिए लाभदायक है । किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि तकनीकी विकास के लिए हम अपनी संस्कृति का परित्याग कर दें । जब तकनीक को मशीन के रूप में देखते हैं तब यह मूल्यमुक्त है । परन्तु यदि इसे मानवीय क्रिया-कलाप से जोडकर देखते हैं तो यह मूल्ययुक्त है । तकनीक के प्रयोग के संदर्भ में विचार करते हैं तो यह मूल्ययुक्त है । तकनीक हमारे जीवन का अंग है । यह हमारी संस्कृति से जुडा है । अरनाल्ड पेसी ने अपनी पुस्तक "द कल्चर ऑफ टेक्नालाजी" में तकनीक संबंधी तीन पहलुओं पर विचार किया है ।

(१) **संगठनात्मक पहलू** जो डिजाइनर, इंजिनियर, कनज्यूमर तथा लेबर युनियन्स से जुडा अंतर कमी करा है।

(२) **तकनीकी पहलू** जो कार्य-दक्षता एवं तकनीकी ज्ञान तथा मशीन से संबंधित है ।

(३) **सांस्कृतिक पक्ष** जो लक्ष्य, मूल्य, प्रगति में विश्वास से संबंधित है तथा डिजाइनर की सृजनात्मकता से संबंधित है ।[९] आरनाल्ड पेसी का मत है कि साधारण मनुष्य तकनीक को "अवधारणा" के अर्थ में या सीमित प्रयोग के अर्थ में देखता है । जब तकनीक को उसके सीमित अर्थ में देखते हैं तब तकनीकी को तकनीकी के अर्थ में समझते हैं । यदि तकनीक को जीवन का अंग मान लेते हैं तो तकनीक को मूल्यमुक्त नहीं कह सकते हैं । तकनीक का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में मूल्यों पर, परम्परा पर तथा मानवीय जीवन पर प्रभाव पडता है । तकनीक हमारी सांस्कृतिक मूल्यों को परिवर्तित करता है । हमारी सभ्यता में परिवर्तन करता है ।

बीसवीं शताब्दी की तकनीकी संस्कृति ने मानव के प्रति दृष्टिकोण बदल दिया है। मनुष्य एक क्रिया का सम्पादक मात्र है तथा वह अन्य लोगों के बीच एक "वस्तु" मात्र बन कर रह गया है। वह "आत्मा" या मानवीय चेहरा युक्त नहीं दिखता है।[१०] संस्कृति और तकनीकी में एक साक्षात् संबंध है। संस्कृति और तकनीकी एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। विकसित समाज ने तकनीक को जन्म दिया है। सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन का तकनीकी विकास के साथ सामंजस्य होना चाहिए। यहाँ हमने संस्कृति को आज के तकनीकी समाज के साथ संबंधित करने की चेष्टा की है। एक समीक्षक एवं दार्शनिक का यह प्रयास दुरुह प्रतीत होता है। यह कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक है तथा उसका सामंजस्य तकनीकी समाज से नहीं हो सकता है। मेरी मान्यता है इस प्रकार का विचार संकुचित है। संस्कृति वह चाहे भारतीय हो या पश्चिमी उसकी तकनीकी से विसंगति नहीं हो सकती। वह परस्पर विरोधी नहीं है। तकनीकी भारतीय संस्कृति का अंग है। प्राचीन काल के सांस्कृतिक मूल्य उस काल-विशेष में प्रचलित तकनीक के अनुरूप थे। आज के सांस्कृतिक मूल्य वर्तमान तकनीकी समाज के आलोक में निर्धारित होते हैं।

तकनीकी समाज एवं भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों में विसंगति का अभाव हम दो दृष्टिकोणों से देख सकते हैं :-

(१) एक यह दर्शाना कि तकनीकी और भारतीय संस्कृति में संगति है।

(२) दूसरा, यह दर्शाना कि भारतीय संस्कृति तकनीकी समाज के निषेधात्मक प्रभाव को कम करता है।

यह सत्य है कि विज्ञान तथा तकनीकी का भारतीय सामाजिक जीवन में अत्यन्त महत्त्व है। प्रश्न है कि भारतीय संस्कृति कैसे तकनीकी के साथ संगति रखकर अपनी अस्मिता को बनाये रखती है। आधुनिक भारतीय मानव के सामने एक प्रश्न है कि कैसे प्राचीन भारतीय परम्परा एवं अत्याधुनिक तकनीकी के साथ सामंजस्य स्थापित करें। इस बात से हम सहमत हैं कि प्राचीन परम्परा की बहुत सी अच्छी बातों को हमें वरण करना है और त्याज्य बातों को छोड देना है। परम्परा और तकनीकी दोनों के प्रति ईमानदार बने रहना एक कठिन कार्य प्रतीत होता है। परन्तु मेरी धारणा है कि विवेक का सहारा लेकर हमें यह निश्चित करना होगा कि किन अवस्थाओं में तकनीकी समाज को भारतीय संस्कृति के साथ संयुक्त किया जा सकता है जिससे भारतीय संस्कृति का आंतरिक स्वरूप विकृत न हो सके। संस्कृति मनुष्यों के व्यक्तिगत तथा सामाजिक संबंधों को निर्धारित करती है। बहुलतावादी

भारतीय समाज में भारतीय समाज में भारतीय संस्कृति तथा उसके मूल्य समाज में समरसता एवं सामंजस्य बनाये रखते हैं । भारतीय मूल्यव्यवस्था वस्तुतः भारतीय समाज को एक विशष्ट सांस्कृतिक संरचना प्रदान करता है । इस बात को हम अस्वीकार नहीं कर सकते हैं कि विदेशी संस्कृति एवं मूल्य तथा तकनीकी के प्रवेश से भारतीय संस्कृति की अस्मिता प्रभावित हुई है । भारतीय संस्कृति की जडें हमारी प्राचीन संस्कृति में है । परन्तु हम अपने रूढीगत मूल्यों के साथ चिपके नहीं रह सकते हैं । संचार तकनीक के प्रादुर्भाव एवं विकास के फलस्वरूप मूल्यों की अवधारणा में परिवर्तन हुआ है । समकालीन भारतीय संस्कृति में परिवर्तन हुआ है । संचार तकनीकी विकास के कारण संस्कृति प्रभावित हुई है । "मास मिडिया" सांस्कृतिक दृष्टि से तटस्थ नहीं है । "मास मिडिया" हमारे विचार, चिंतन, मूल्य पर प्रभाव डालती है । संचार तकनीक हमारी जीवन शैली तथा मूल्यों को प्रभावित एवं परिवर्तित करती है ।

भारत वर्ष में तकनीक पूर्णतः स्वदेशी नहीं है । इस संदर्भ में हमारे सामने तीन विकल्प हैं :-

प्रथम विकल्प है कि परम्परायुक्त भारतीय संस्कृति के बावजूद हम विदेशी तकनीक को पूर्णतः स्वीकार करें । मानकर चलें कि वर्तमान युग में कोई देश दूसरे देश को अब गुलाम नहीं बना सकता है । तकनीकी विकास से भारत की राष्ट्रीयता पर कोई खतरा नहीं है ।

दूसरा विकल्प है कि विदेशी तकनीक को पूर्णतः अस्वीकार करें क्योंकि उससे हमारे राष्ट्रीय चरित्र के विकृत होने की संभावना बनती है ।

तीसरा विकल्प है कि भारतीय सामाजिक, संस्कृतिक तथा आर्थिक व्यवस्था के अनुरूप प्रासंगिक तकनीकी को अपनायें । मेरे विचार में तीसरा विकल्प प्रासंगिक एवं उचित है, क्योंकि भारतीय तकनीक का सही प्रयोग कर मानव जीवन की विशिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तकनीकी का प्रयोग प्रासंगिक लगता है क्योंकि यह तकनीकी समाज की आवश्यकता की पूर्ति के अतिरिक्त समाज के संगठन, संरचना तथा मानवीय संबंधों का निर्माण भी कर रहा है । 'संचार तकनीक' ने शिक्षा के क्षेत्र में तथा परिवार नियोजन को लोकप्रिय बनाने में सहायता की है । स्वास्थ्य संबंधी बातों को टेलिविजन के माध्यम से गाँव-गाँव तक प्रसारित किया है। एक राष्ट का दूसरे राष्ट्र के साथ सम्पर्क जोडने में संचार तकनीकी ने काफी मदद की है ।

अतः हम कह सकते हैं कि भारतीय संस्कृति के द्वारा पोषित मूल्यों तथा

तकनीकी समाज द्वारा संवर्धित मूल्यों में विसंगति का अभाव है । भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक तथा लौकिक मूल्यों में विरोध नहीं मानती है । लौकिक मूल्य इस जीवन और जगत् से संबंधित है । परन्तु लौकिक मूल्य को भी आध्यात्मिकता से सर्वथा वंचित नहीं माना गया है । वेदान्तदर्शन में आध्यात्मिक और लौकिक मूल्यों में संगति स्थापित करने का अनूठा प्रयास किया गया है । वेदांत में पारमार्थिक सत्ता और व्यवहारिक सत्ता को असंगत नहीं माना गया है । लौकिक मूल्य तकनीकी समाज का सूचक है । लौकिक मूल्य के अन्तर्गत अर्थ और काम है । आध्यात्मिक मूल्य का संबंध धर्म एवं मोक्ष से है । वेदान्तदर्शन में पारमार्थिक सत्ता व्यावहारिक सत्ता के लिए तात्त्विक आधार देती है । भारतीय दर्शन में मनुष्य को अपनी सत्ता से ऊपर उठने की बात की गयी है । तकनीकी समाज में व्यक्ति अपनी सत्ता को खो देता है । तकनीकी समाज का अमानवीकरण निषेधात्मक है । अमानवीयकरण की प्रक्रिया में मानव अपना सारा तत्त्व खो देता है । मानव मशीन का अंग बन जाता है। मानव की सृजनात्मकता समाप्त हो जाती है । उसका अस्तित्व यांत्रिक बन जाता है। तकनीकी समाज मानव को यांत्रिक तथा अप्राकृतिक बना देता है । अमानवीकरण की प्रवृत्ति मानव को अव्यवस्थित कर देती है । वेदान्त संस्कृति में मानव अपने अहम् से ऊपर उठ जाता है । इसमें हम मानवेतर अस्तित्व की ओर अग्रसर होते हैं। इसे एक प्रकार का "उदात्त अमानवीयकरण" कहा जा सकता है । मानव जब अपने अहम् से ऊपर उठता है तो वह उदात्त स्तर की ओर अग्रसर होता है । तकनीकी परिप्रेक्ष्य में अमानवीयकरण और वेदान्त दर्शन के "उदात्त अमानवीयकरण" में अन्तर है । "उदात्त अमानवीयकरण" विश्वातीत सत्ता का द्योतक है । किंतु मैंने "विश्वातीत अस्तित्व" या "अपौरुषेय" की बात न कर "उदात्त अमानवीयकरण" शब्द का प्रयोग किया है । विश्वासतीत या अपौरुषेय कहने से ऐसा लगता है कि हम नैतिक स्तर से परे चल गये हैं । इसलिए कुछ आलोचकों का आरोप है कि वेदान्त दर्शन में नैतिकता का कोई स्थान नहीं है । ब्रह्म के साथ मानव का जब तादात्म्य हो जाता है तो नैतिकता के लिए कोई स्थान नहीं रहता है । 'विश्वातीत' या 'अपौरुषेय' अभिव्यक्ति नैतिक स्तर को चित्रित नहीं कर पाती है । परन्तु 'उदात्त अमानवीयकरण' के स्तर पर नैतिकता के लिए स्थान है । तकनीकी समाज का अमानवीयकरण मानव से उसका मानवपन अपहरण कर लेता है । अमानवीयकरण के बाद मनुष्य मात्र क्रिया-प्रतिक्रिया का पुंज मात्र रह जाता है । भारतीय संस्कृति मानव के सृजनात्मक पक्ष पर बल देती है । आध्यात्मिक प्रक्रिया मानव के सार को आत्मसात् कर लेती है । तकनीकी संस्कृति में मानव एक वस्तुमात्र रह जाता है । तकनीकी समाज में

तकनीक सबकुछ निर्धारित करता है । वेदान्त दर्शन में मानव अस्तित्व का एक तात्त्विक आधार माना गया है । ''उदात्त अमानवीयकरण'' जीवन एवं जगत् को नकारता नहीं बल्कि वह मानव अस्तित्व को तात्त्विक आधार देता है।

दार्शनिक समीक्षक कह सकते हैं कि तकनीकी और संस्कृति में संगति स्थापित करने का प्रयास दुरुह एवं दुर्बोध है । सामाजिक विकास के दो आयाम हैं, एक आर्थिक तथा दूसरा सांस्कृतिक । तकनीक हमारे आर्थिक क्रिया-कलापों की प्रक्रिया तेज करती है । यह कहना सही नहीं है कि तकनीकी और संस्कृति दो धरातल पर है । भारतीय संस्कृति आर्थिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों में एकता स्थापित करती है । एकता बाह्य तथा आंतरिक दोनों पहलुओं से संबंधित है । सामाजिक एकता बाह्य है और आत्मज्ञान आंतरिक एकता प्रदान करती है । तकनीकी सामाजिक एकता पैदा करती है, संस्कृति आंतरिक एकता पैदा करती है । भारतीय संस्कृति भारतीय तकनीकी को महत्त्व देती है । मारग्रेट चटर्जी के शब्दों में ''भारत की अपनी वैज्ञानिक परम्परा है जिसके बिना वह शताब्दी दर शताब्दी जीवित नहीं रह सकता था । उदाहरण के लिए स्वदेशी चिकित्सा पद्धति का एक लम्बा पुराना इतिहास है ।''[१२]

तकनीकी के भावात्मक एवं निषेधात्मक दोनों पक्ष हैं । तकनीकी समाज में प्रदूषण व्याप्त है । प्रदूषण के कारण प्राकृतिक सौंदर्य एवं सामंजस्य को खतरा है। तकनीकी अलगाव पैदा करती है । मानव अपने आप परायापन के भाव से ग्रसित हो जाता है । तकनीकी मानव को वस्तु के रूप में देखती है । भारत में औद्योगिकरण, शहरीकरण, कम्प्युटरीकरण से जीवनशैली में परिवर्तन हुआ है । मानवीय रिश्ते यांत्रिक बन गये हैं । संबंधों में बिखराव आया है । उपभोगतावादी संस्कृति पनपी है । मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक तनाव बढे हैं । मानव ने तकनीकी का आविष्कार किया है किन्तु कालक्रम में तकनीकी उसका स्वामी बन बैठा । मानव तकनीकी पर आश्रित हो गया है । मानव तकनीकी का दास बन बैठा है । इस त्रासदी से उबरने के लिए मानव आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर होता है । भारतीय संस्कृति मानव को अमानवीकरण से मुक्ति दिला सकती है । भारतीय संस्कृति जीवन को एक अर्थ देती है क्योंकि मानव जीवन को उदात्त स्तर पर स्थापित करती है । भारत की संस्कृति समग्रता की संस्कृति है । यह लौकिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों को एक सूत्र में जोडती है । लौकिक मूल्यों को तात्त्विक आधार प्रदान करती है । भारतीय

संस्कृति तकनीकी को जीवन के साथ जोडती है। यह भूत, वर्तमान एवं भविष्य को उसकी समग्रता में देखती है।

२०२, सप्तर्षि अपार्टमेन्ट
राजकिशोरी कॉम्प्लेक्स
कंकडबाग, पटना ८०००२०
(बिहार)

रमेश चन्द्र सिन्हा

टिप्पणियाँ

१. नाग चौधरी, बी. डी., टेक्नॉलाजी, लेंग्वेज एण्ड इण्डिक्स (न्यू टेक्नालॉजिकल सिवलिजेशन एण्ड इन्डियन सोसायटी) इंडियन इन्स्टिट्यूट ऑफ एडवान्सड स्टडी, शिमला, १९९०, पृ. ८
२. लेसली, हवाइट, द इव्यूल्यूशन ऑफ कल्चर, न्यूयार्क, १९५९.
३. टालकोट पारसन, सोसाइटिज, इगलवर्ड (न्यूजर्सी), प्रेन्टीस हाल, १९६६, पृ. १५०
४. इनसाइक्लोपिडिया ऑफ द हिस्ट्री ऑफ साइन्स, टेक्नोलॉजी एण्ड मेडिसिन इन न्यू-वेस्टर्न कल्चर्स, (सं.), हेलने संलिन, क्लूअर एकाडमिक पब्लिसर्स यू. एस. ए. १९४७.
५. वही, पृ. ९४६.
६. वही, पृ. ९४६.
७. नागचौधरी, बी. डी. (सं.), न्यू टेक्नोलॉजिकल, सिवलिजेशन एण्ड इंडियन सोसाइटी, इन्डियन इन्स्टिट्यूट ऑफ एडवान्सड स्टडी, शिमला, १९९०. पृ. ११.
८. वही, पृ. १२.
९. पेसी, आरनल्ड, द कल्चर ऑफ टेक्नोलॉजी, मेसिल ब्लेकवल, १९८३, पृ. १२.
१०. सिनारी, रमाकान्त, साइन्स, टेक्नोलॉजी एण्ड द हिन्दू वेल्टान्स्च्युग (सं.) नाग चौधरी, बी. डी. (न्यू टेक्नोलॉजिकल सिवलिजेशन एण्ड इन्डियन सोसायटी) इंडियन इन्स्टिट्यूट ऑफ एडवान्सड स्टडी, शिमला, १९९०. पृ. १८.
११. वही, पृ. २९.
१२. माग्रेट चटर्जी, न्यू टेक्नोलॉजिकल सिवलिजेशन एण्ड इंडियन सोसायटी (प्रीपेस) इंडियन इस्टिट्यूट ऑफ एडवान्सड स्टडी, १९९०, पृ. ४.

★

ईश्वरीय मृत्यु का ईशविज्ञान और ईश्वरीय अस्तित्व संबंधी सत्तामूलक तर्क

प्रस्तुत लेख का उद्देश्य ईश्वरीय मृत्यु का ईशविज्ञान और ईश्वरीय अस्तित्व सम्बन्धी सत्तामूलक तर्क के बीच अन्तरसम्बधों का तुलनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करना है । इन दोनों सिद्धान्तों का केन्द्र बिन्दु ईसाई धर्म ही है । ईश्वरीय मृत्यु का ईशविज्ञान ईसाई अनीश्वरवाद का ही एक रूप है । सत्तामूलक तर्क ईश्वरीय अस्तित्व को प्रमाणित करने का एक परम्परागत प्रयास है । इस तर्क के स्थापन में इसके प्रणेता एन्सेलमलम ईसाई धर्म से प्रभावित हैं । हमारे लिए दार्शनिक अभिरुचि का विषय यह हो सकता है कि ईसाई धर्म से ही प्रभावित फिण्डले ने ईश्वरीय अस्तित्व संबंधी सत्तामूलक तर्क प्रस्तुत किया है । फिण्डले के इस मत को सत्तामूलक अनीश्वरवाद की संज्ञा दी गयी है । ये दोनों सिद्धांत एक समय में ही सत्य नहीं हो सकते । अत: इस बात का निर्धारण एक महत्तम दार्शनिक प्रयास होगा कि इन दोनों में से किसे अधिमान दिया जाय । यदि गहनता से देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वरीय मृत्यु का ईशविज्ञान के मूल स्थापनाओं को सत्तामूलक तर्क के मूल ईश्वरीय स्वरूप संबंधी सूत्र 'ईश्वर से बृहत्तर सत्ता का विचार अकल्पनीय है' ने ही आधार प्रदान किया है । इन सभी विचारों में एक उभयनिष्ठ तथ्य है - ईसाई धर्म से इनकी सन्निकटता । इन विभिन्न मतों को प्रस्तुत करते हुए इनके पारस्परिक मूल्यांकन के आधार पर कुछ निष्कर्ष स्थापित करने के प्रयास किये जायेंगे जो इस लेख के उद्देश्य प्राप्ति के लिए उचित दिशा प्रदान करने में सक्षम हों ।

ईश्वरीय मृत्यु का ईशविज्ञान

ईश्वरीय मृत्यु संबंधी विचारों का स्रोत कुछ अमेरिकी ईशवैज्ञानिकों के विचारों में अन्वेषित किया जा सकता है । जी. वाहनीयन, हार्वे काक्स, विलियम हेमील्टन, पॉल मैन बुरेन, अलतीजर इत्यादि के नाम इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं । इन विचारकों के धार्मिक सम्बद्धता में मतैक्य नहीं । वाहनीयन एक फ्रांसीसी काल्वीनवादी हैं । काक्स और हेमील्टन वपतिस्मा दाता हैं और बुरेन धर्माध्यक्ष पादरी हैं ।

अलतीजर धर्माध्यक्ष साधारण व्यक्ति है । इन विचारकों को ईश्वरीय मृत्यु के ईशविज्ञान का जनक माना जाता है । पर, इनमें अलतीजर ही वह विचारक है, जिसने धर्मदर्शन के लिए कुछ मूलभूत समस्याओं को उपस्थित किया है ।

'ईश्वर मृत है ' कथन पर अशाब्दिक और शाब्दिक रूपों में विचार किया जा सकता है । यदि इस कथन पर अशाब्दिक रूप से विचार किया जाता है तो 'ईश्वर' और 'मृत' को उद्धरण चिह्न के अन्तर्गत रखना होगा क्योंकि ये इन पदों के क्रमिक सामान्य अर्थ को व्यक्त नहीं करते । 'मृत' पद कों उद्धरण चिह्न के अन्दर रखना अधिक सामान्य प्रतीत होता है । एक ईशवैज्ञानिक जब 'ईश्वर मृत है' जैसे अभिकथन को प्रस्तुत करता है तो वह इसे शाब्दिक अर्थ में स्वीकार करने की इच्छा नहीं रखता । 'ईश्वर मृत है' अभिकथन से एक ईशवैज्ञानिक यह कहना चाहता है कि जनमानस अब ईश्वरीय विचार को अनिवार्य मानने को तत्पर नहीं । 'ईश्वर मृत है' कथन को दो रूपों में प्रस्तुत किया जा सकता है । प्रथम रूप को हम ईश्वरवादी अशाब्दिक अभिकथन कहेंगे । इस प्रकार के अभिकथन में विश्वास करने वाले ऐसा मानते हैं कि एक परात्पर सत्ता है, पर किसी कारणवश इस विश्व में जीवन्त शक्ति के रूप में वह उपस्थित नहीं । 'ईश्वर मृत है' कथन को अनीश्वरवादी अशाब्दिक रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता है । अनीश्वरवादी इस कथन से यह कहना नहीं चाहते कि ईश्वर कभी था, पर अब नहीं बल्कि यह कहना चाहते हैं कि ईश्वर कभी था हीं नहीं ।

ईश्वरीय मृत्यु का ईशविज्ञान 'ईश्वर मृत है' अभिकथन को मुख्य रूप में अशाब्दिक रूप में स्वीकार अवश्य करता है, पर इसे शाब्दिक रूप से स्वीकार करने की संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता । शाब्दिक रूप में 'ईश्वर मृत है' अभिकथन पर विचार करते हुए कहा जा सकता है कि एक सत्ता जिसे सही रूप में ईश्वर माना जाता था, वह सत्ता अब वास्तव में मृत हो चुका है ।

उपर्युक्त चर्चा के आलोक में कहा जा सकता है कि वाहनीयन, काक्स, हेमील्टन और बुरेन अशब्दवादी हैं । ये लोग हमेशा यह मानेंगे कि अभी भी परात्पर सत्ता नाम की वस्तु है । इनके साथ समस्या यह है कि इस परात्पर सत्ता के वर्णन के लिए एक अप्रचलित पद का सहारा लिया गया और इस कारण बहुत लोगों को इसका ज्ञान नहीं हो पाया । दूसरी ओर हेमील्टन और बुरेन अनीश्वरवादी अशब्दवादी हैं । १९६५ में हेमील्टन अंतिम रूप से इस निष्कर्ष पर आते हैं कि ईश्वर इस विश्व में उपस्थित नहीं है ।[१] बुरेने भी कुछ इसी प्रकार के निष्कर्ष पर आते हैं, हालाँकि इनका पथ थोडा भिन्न रहा है । बुरेन के अनुसार ईश्वर पद का कोई अर्थ नहीं ।

उन्हीं के शब्दों में 'समस्या यह है कि ईश्वर पद मृत है ।[२] अलतीजर ही एक मात्र शब्दवादी हैं । उन्हीं के शब्दों में यह अनिवार्य है कि मूल ईसाई अपने स्वीकारोक्ति को स्पष्ट करे ताकि ईश्वरीय मृत्यु की भाषा से उत्पन्न विभ्रम और अस्पष्टता को जहाँ तक संभव हो निराकृत किया जा सके । ईश्वरीय मृत्यु की स्वीकृति एक यथार्थ घटना की चर्चा है जो किसी काल या इतिहास के क्षण में घटनेवाली घटना नहीं बल्कि एक ऐसी घटना है जो वास्तव में ऐतिहासिक और वैश्विक अर्थ में घटित हुई है । इस भ्रामक मान्यता से दिगभ्रमित होने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार की स्वीकारोक्ति इतिहास या सृष्टि से 'ईश्वर का प्रत्याहार है' एक प्रमाणिक भाषा जो ईश्वरीय मृत्यु की चर्चा करता है अनिवार्य रूप से ईश्वर की मृत्यु की चर्चा करता है । मूल ईसाई यह उद्घोषित करते हैं कि यशु में ही ईश्वर की मृत्यु हुई है । यह मृत्यु ऐतिहासिक घटना के साथ-साथ वैश्विक घटना के रूप में भी हुई है । अतः यह अंतिम और अप्रत्यादेय घटना है जिसका विपर्य संभव नहीं ।[३]

इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता की ईश्वर की मृत्यु को लेकर ईशवैज्ञानिकों के बीच मतैक्य का अभाव रहा है, पर इनके विचार कुछ निश्चित उभयनिष्ठ समस्याओं से अनुप्रेरित हैं । ये सभी वर्तमान जीवन के गुण एवं धार्मिक संदेशों के गुण से असंतुष्ट हैं । इन लोगों का यह प्रयास है कि अपने संदेश को हमारे वर्तमान समस्याओं के प्रति प्रासंगिक बनाया जाय । ये लोग इस विश्व में मानवीय उपाधि और उसके समस्याओं के समाधान के प्राप्ति के लिए किये जा रहे अनवरत प्रयासों के प्रति हीं मात्र सर्वसम्मति नहीं रखते बल्कि यह भी मानते हैं कि इस समस्या का कोई भी संतोषप्रद समाधान इस विश्व में हमारे जीवन को सहनीय बनायेगा ।

ईश्वरीय अस्तित्वसंबंधी सत्तामूलक तर्क

ईश्वर-विज्ञान का इतिहास बौद्धिक तर्क के द्वारा ईश्वरीय अस्तित्व को स्थापित करने के असंख्य प्रयासों से ओत-प्रोत है । सत्तामूलक तर्क इसी प्रयास का एक विशिष्ट उदाहरण है । मध्ययुगीन दार्शनिक सन्त एन्सेलम ने सर्वप्रथम इसको शास्त्रीय रूप में प्रस्तुत किया । मध्य युग धार्मिक अन्वेषण का युग माना गया है । यहूदी-ईसाई परम्परा ही इस युग का मुख्य धर्म है । एन्सेलम अपने युग विशेष की धार्मिक विचारधारा से प्रभावित हैं । इसीलिए सत्तामूलक तर्क के प्रतिपादन में भी इनका दृष्टिकोण यहूदी-ईसाई परम्परा की धार्मिक मान्यताओं से प्रभावित हैं ।

सत्तामूलक तर्क प्रागनुभविक तर्क का उत्कृष्ट उदाहरण है । इसमें मात्र ईश्वर-प्रत्यय के विश्लेषण के आधार पर ईश्वरीय अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास

किया जाता है । यह तर्क अपने आधार वाक्य के रूप में किसी ऐसे प्रकथन को स्वीकार नहीं करता जो वस्तुओं के सम्बन्ध में अनुभवमूलक (इम्पेरीकल) सूचना देता हो । सत्तामूलक तर्क कुछ संप्रत्ययों के अर्थ विश्लेषण पर ही पूर्णत: आश्रित है । इस विशेष संप्रत्यय के बोध के लिए विशिष्ट निरीक्षित तथ्यों की अपेक्षा रखना अनिवार्य नहीं । इसके लिए मात्र इसके आधार वाक्यों में अन्तरग्रसित विभिन्न संप्रत्ययों के अर्थ का पूर्वाभास ही अनिवार्य है । सार रूप में सत्तामूलक तर्क का मुख्य मन्तव्य यही है कि यदि किसी व्यक्ति को इस तर्क के आधार वाक्य में प्रयुक्त विभिन्न वैध संप्रत्ययों का स्पष्ट बोध है, तो 'ईश्वर अस्तित्ववान् है' प्रकथन निष्कर्ष के रूप में अनिवार्यत: अनुगमित होगा ।

प्रोसोलीजियम में सत्तामूलक तर्क का निरूपण करते हुए एन्सेलम ने कहा है ईश्वर का विचार ही ईश्वर की सिद्धि करता है । हम ईश्वर को पूर्ण रूप से जानते हैं । इस पूर्ण विचार का कारण अपूर्ण मनुष्य नहीं हो सकता । अत: पूर्ण विचार का कारण पूर्ण ईश्वर ही है । ईश्वर विचार से ईश्वर की सिद्धि होती है ।[८] एन्सेलम के उपर्युक्त विचार को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है –

बृहत् वाक्य – ईश्वर वह है जिससे अधिक पूर्ण का विचार अकल्पनीय है।

लघु वाक्य – जिससे अधिक पूर्ण का विचार अकल्पनीय है, वह अवश्य विचार और वास्तविकता दोनों में सत् होगा ।

निष्कर्ष – इसलिए ईश्वर मात्र विचार में ही नहीं वरन् वस्तुजगत् में भी सत् है ।

उपर्युक्त परिभाषा में ईश्वर विचार से ही ईश्वरीय सत्ता सिद्ध की गयी है । एन्सेलम ने अपने विचार को 'ईश्वर एक ऐसी सत्ता है जिससे बृहत्तर किसी अन्य सत्ता का विचार अकल्पनीय है' के रूप में सृजित किया है । एन्सेलम इसी सूत्र से ईश्वरीय सत्ता के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हैं । इस मूल सूत्र में बृहत्तर पद महत्त्वपूर्ण है । बृहत्तर पद को गुणात्मक और मात्रात्मक इन दो रूपों में प्रयुक्त किया जा सकता है । गुणात्मक रूप में कहा जा सकता है कि 'क' 'ख' से अधिक बुद्धिमान है या 'क' 'ख' से अधिक सुन्दर है । इसी प्रकार मात्रात्मक रूप में कहा जा सकता है कि 'क' 'ख' से अधिक धनी है । गुणात्मक और मात्रात्मक दृष्टान्तों में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि मात्रा की चर्चा जब की जाती है तो यह जरूरी नहीं कि गुण की चर्चा उसके समतुल्य हो । उदाहरणार्थ यह नहीं कहा जा सकता कि जिस चीज को 'क' ने 'ख' से अधिक पैसे में बेचा हो वह 'ख' की चीज से सुन्दर ही हो ।

इस संदर्भ में 'किसी विशिष्ट सत्ता (ईश्वर) से बृहत्तर अन्य सत्ता अकल्पनीय है' का अर्थ निरूपण भी वांछनीय है। इस स्थल पर बृहत्तर पद को मात्रामूलक और गुणात्मक दोनों अर्थों में प्रयुक्त किया जा सकता है। हम मान लें कि सभी वास्तव और संभाव्य सत्ताएँ किसी न किसी बढ़ती हुई मात्रा या बढ़ते हुए मूल्यक्रम में व्यवस्थित किये गये हैं। उदाहरणार्थ यदि 'अ' को सेकेन्ड माना जाय, 'ब' को मिनट, 'स' को घंटा, आदि तो स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि अनुवर्ती शृंखला के प्रत्येक सदस्य अपने पूर्ववर्ती शृंखला के सदस्यों की अपेक्षा दीर्घकाल तक उपस्थित रहते हैं। इसी प्रकार हम वस्तु, व्यक्ति और क्रियाओं को बढते हुए सौन्दर्य, न्यायप्रियता, दयालुता, निष्ठा इत्यादि जैसे गुणों और मूल्यों के क्रमिक व्यवस्था के रूप में शृंखलाबद्ध कर सकते हैं। इस दृष्टान्त में भी अनुवर्ती क्रम के प्रत्येक सदस्य अपने पूर्ववर्ती सदस्य की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण माने जायेंगे। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि एक विशिष्ट सत्ता ईश्वर से बृहत्तर अन्य सत्ता अकल्पनीय है तो इसका तात्पर्य यह होता है कि उस व्यवस्थित शृंखला में एक ऐसा सदस्य है जिससे अन्य कोई सत्ता पूर्ववर्ती नहीं हो सकता। इसी प्रकार जब हम सबसे वैभवशाली व्यक्ति का विचार करते हैं तो इसका अर्थ होगा कि इस व्यक्ति से अधिक वैभवशाली व्यक्ति और कोई नहीं हो सकता। प्रत्येक व्यक्ति इस व्यक्ति की तुलना में कम वैभवशाली माने जायेंगे। इसी प्रकार यदि हम सबसे अधिक बुद्धिमान् या न्यायप्रिय व्यक्ति की कल्पना करते हैं तो इसका अर्थ होगा कि कोई भी वास्तव या संभाव्य सत्ता इस व्यक्ति से अधिक बुद्धिमान् या न्यायप्रिय नहीं होगा।

एन्सेलम ने स्वयं यह स्पष्ट नहीं किया है कि इन दो व्यापक अर्थों-गुणात्मक एवं मात्रात्मक में से बृहत्तर पद के लिए किस अर्थ को प्रयुक्त करना चाहते हैं। एक स्थल पर उन्होंने यह संकेत अवश्य दिया है कि वे जब पूर्ण सत्ता (ईश्वर) के संदर्भ में 'किसी विशिष्ट सत्ता से वृहत्तर अन्य सत्ता कल्पनीय नहीं' पद का प्रयोग करते हैं तो उनका तात्पर्य गुणात्मक अर्थ से है।[5] एक ऐसी सत्ता जिससे बृहत्तर कोई अन्य सत्ता कल्पनीय नहीं का तात्पर्य एक ऐसी सत्ता से है जिसमें मूल्य की मात्रा सर्वोच्च विचारणीय रूप में है। एन्सेलम के इस महत्त्वपूर्ण सूत्र की उपर्युक्त व्याख्या उनके द्वारा प्रतिपादित ईश्वरीय अस्तित्व संबंधी सत्तामूलक तर्क को यहूदी-ईसाई धर्म के परिप्रेक्ष्य में संगति प्रदान करता है।

ईश्वरीय मृत्यु विषयक अभिकथन और सत्तामूलक तर्क

अधिकांश व्यक्तियों को 'ईश्वर मृत है' कथन बौद्धिक रूप में निरादणीय प्रतीत होता है। इस प्रकार का अभिकथन हमारे लिए विरोधाभासी प्रतीत होता है।

पद 'ईश्वर मृत है' अभिकथन के संबंध में इस प्रकार की अनुक्रिया की उपयुक्तता को दिग्दर्शित करना सरल नहीं। यदि ईश्वर पर परम्परागत विश्वासों के आलोक में विचार करें तो यह अनुभूत होता है कि 'ईश्वर मृत है' अभिकथन असंगत है। किसी भी व्यक्ति को ईश्वर का बोध एक सर्वशक्तिमान अविनाशी सत्ता के रूप में होता है जिसकी मृत्यु या नाश संभव नहीं। यदि ईश्वर पर इस रूप में विचार किया जाता है तो ईश्वरीय मृत्यु की चर्चा विचित्र प्रतीत होता है। इस बिन्दु पर 'ईश्वर मृत है' कथन के समर्थन में कहा जा सकता है कि इस कथन के द्वारा ईशवैज्ञानिक यह कहना चाहते हैं कि ईश्वर स्वयं अपना विनाश करता है। यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है तो उसे आत्म-विनाश की क्रिया को सम्पादित करने में भी सक्षम होना चाहिए। यदि यह प्रमाणित हो जाता है कि मैं आत्महत्या नहीं कर सकता तो यह इस बात का प्रमाण होगा कि कुछ ऐसी भी क्रियाएँ हैं जिन्हें मैं नहीं कर सकता और इस प्रकार मुझे सर्वशक्तिमान् नहीं माना जा सकता। ईश्वर पर भी यही तर्क आरोपित किया जा सकता है।

हमें इस प्रश्न पर विचार कर पथ से विचलित नहीं होना चाहिए कि ईश्वर आत्म-विनाश क्यों चाहता है ? यदि ईश्वर आत्म-विनाश की क्रिया में संलग्न होता है तो इसके लिए उसके पास पर्याप्त कारण होने चाहिए। इस संबंध में क्या ईश्वर आत्म-विनाश कर सकता है ? जैसे प्रश्न पर विचार करना अभिरुचि का विषय हो सकता है। यदि ईश्वर आत्म-विनाश कर सकता है तो 'ईश्वर मृत है' अभिकथन को तार्किक रूप में असंगत नहीं माना जा सकता। ऐसी अवस्था में 'ईश्वर मृत है' कथन को सत्य भी माना जा सकता है हालाँकि इस कथन की सत्यता को दिग्दर्शित दूरह कार्य माना जा सकता है। अत: ईश्वर के संबंध में आत्म-विनाश की संभावना पर विचार करने के क्रम में मुख्य रूप से दो प्रश्न हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं - ईश्वर आत्म-विनाश क्यों कर सकता है और यदि वह इस क्रिया को नहीं सम्पादित कर सकता है तो क्या यह उसकी शक्ति को सीमित करता है ? इस प्रकार यह परिस्पष्ट है कि जब हम 'ईश्वर मृत है' कथन को विरोधाभासी मानते हैं तो हमें दिखलाना होगा कि एक सर्वशक्तिमान सत्ता से आत्म-विनाश की अपेक्षा रखना कोई अर्थ नहीं रखता। यहाँ पर यह प्रश्न हमारे लिए महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि ईश्वर द्वारा आत्म-विनाश की क्रिया का सम्पादन या इस क्रिया को सम्पादित करने में ईश्वर की असमर्थता क्या उसके सर्वशक्तिमत्ता को प्रतिबिम्बित करता है? हमारे पास यह मानने का दृढ आधार है कि आत्म-विनाश की क्रिया को सम्पादित करने में ईश्वर की असमर्थता उसके सर्वशक्तिमत्ता को प्रतिबिम्बित नहीं करता।

जब हम कहते हैं कि 'क' सर्वशक्तिमान है तो इस कथन में एक महत्त्वपूर्ण परिगुण अवश्यसंभावी रूप से गुप्त होता है । इस परिगुण को स्पष्ट करते हुए हम कह सकते हैं कि एक सर्वशक्तिमान् सत्ता तार्किक रूप से संभव कुछ भी कर सकता है । दूसरे अर्थों में यह भी कहा जा सकता है कि ईश्वर कुछ भी कर सकता है यदि उससे अर्थपूर्ण ढंग से पूछा जाता है । यदि मैं अपने आपकों सर्वशक्तिमान् मानता हूँ तो यह कहते हुए हमारी सर्वशक्तिमत्ता को चुनौती दी जा सकती है कि मैं हवा में तीस फीट से कूद कर दिखाऊँ और मैं इस प्रयास में असफल रहता हूँ तो यह प्रमाणित होता है कि मैं सर्वशक्तिमान् नहीं । दूसरी ओर यदि कोई हमसे चार भुजाओं वाला त्रिभुज उपस्थित करने को कहे और मैं इसे उपस्थित नहीं कर पाता तो यह हमारे सर्वशक्तिमत्ता को प्रतिबिम्बित नहीं करेगा । हम अति सरलता से यह कह सकते हैं कि आप हमसे जो चाह रहे हैं वह व्याघातक हैं, इसका कोई अर्थ नहीं । अब क्योंकि हमसे पूछा गया प्रश्न कोई अर्थ नहीं रखता इसलिए अति सुगमता से हम कह सकते हैं कि हमसे अभी कोई प्रश्न पूछा हीं नहीं गया । एक सर्वशक्तिमान् सत्ता से उसी क्रिया को सम्पादित करने की अपेक्षा की जा सकती है जो उसके लिए तार्किक रूप में संभव हो । एक सर्वशक्तिमान् सत्ता से अर्थपूर्ण ढंग से तार्किक रूप से असंभव क्रिया को सम्पादित करने की अपेक्षा नहीं की जा सकती । अतः ईश्वर से तार्किक रूप में असंभव क्रिया को सम्पादित करने में ईश्वर की असमर्थता उसके सर्वशक्तिमत्ता के प्रसंग में व्यर्थ हैं । यदि यह मान्य हो तो हमें मात्र यह दिखलाना होगा कि ईश्वरीय आत्म-विनाश की चर्चा आत्म-व्याघाती है । यह कहने को कोई अर्थ नहीं रखता कि ईश्वर ने स्वयं को नाश कर लिया है और न तो इस प्रकार की क्रिया के सम्पादन की अपेक्षा ईश्वर के प्रसंग में कोई अर्थ रखता है । अन्ततः इस प्रकार की क्रिया के सम्पादन में ईश्वर की असमर्थता का तात्पर्य यह कभी नहीं हो सकता कि ईश्वर सर्वशक्तिमान् नहीं ।

इस स्थल पर ' ईश्वर ने अपना विनाश कर लिया है ' कथन का विश्लेषण अपेक्षित है । इस कथन का निहितार्थ यह हो सकता है कि ईश्वर एक समय में - अस्तित्वपूर्ण होता है और बाद में उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है । ऐसा मानने का अभिप्राय यह होगा कि एक अस्तित्वपूर्ण ईश्वर के अस्तित्व की समाप्ति संभव हैं । ऐसा विश्वास है कि 'एक अस्तित्वपूर्ण ईश्वर के अस्तित्व की समाप्ति संभव है' धार्मिक परम्परा के एक मूलभूत विश्वास पर आधृत है । हम ऐसा मानते हैं कि ईश्वर एक अनिवार्य सत्ता है । एन्सेलम और मॉलकम ने ईश्वरीय अस्तित्व संबंधी सत्तामूलक तर्क के प्रतिपादन में इस बात पर बल दियां है कि सही अर्थों में ईश्वर

की अनिवार्य सत्ता हमें मान्य होनी चाहिए । एन्सेलम ने सत्तामूलक तर्क का द्वितीय रूप प्रस्तुत करते हुए कहा है 'ईश्वर का अस्तित्व इतना वास्तविक है कि इसके अनस्तित्त्व का विचार नहीं किया जा सकता क्योंकि एक ऐसी सत्ता का विचार संभव है जिसके अनस्तित्व का विचार नहीं किया जा सकता और यह सत्ता उस सत्ता से बृहत्तर होगा जिसके अनस्तित्व का विचार संभव है । अत: एक ऐसी सत्ता है जिससे बृहत्तर सत्ता का विचार संभव नहीं और इस प्रकार के अनस्तित्व का विचार संभव नहीं । यह सत्ता है परमेश्वर, हमारा ईश्वर है ।'[६] अनिवार्य सत्ता के संबंध में मॉलकम इन शब्दों में अपने विचार को व्यक्त करते हैं 'यदि ईश्वर ऐसी सत्ता है जिससे बृहत्तर अन्य सत्ता विचारणीय नहीं का अस्तित्व नहीं तो इस प्रकार के ईश्वर का अस्तित्व में आना संभव नहीं । यदि इस प्रकार के ईश्वर का अस्तित्व है तो उसे अस्तित्व में आने के लिए बाद्धय किया गया या उसका अस्तित्व सोपाधिक होगा जो ईश्वर हमारी अवधारणा के अनुसार वह नहीं है । यदि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है तो यह संभव है कि उसका अस्तित्व समाप्त हो जाय । अत: यदि ईश्वर का अस्तित्व है तो उसका अस्तित्व अनिवार्य ही होगा ।'[७] एन्सेलम और मॉलकम के उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि ईश्वर की अनिवार्य सत्ता इनके इस विश्वास से आपादित होता है कि ईश्वर एक ऐसी सत्ता है जिससे बृहत्तर अन्य सत्ता अविचारणीय है । अत: हम कह सकते हैं कि ईश्वर से हमारा तात्पर्य ऐसी सत्ता से है जिससे बृहत्तर अन्य सत्ता का विचार अविचारणीय है । यह इस बात को आपादित करता हैं कि यदि ईश्वर का अस्तित्व है तो वह अनिवार्य रूप से अस्तित्वपूर्ण होगा । पुन:श्च यदि ईश्वर का अनिवार्य अस्तित्व स्वीकार्य है तो ऐसा मानना कोई अर्थ नहीं रखता कि ईश्वर के अस्तित्व की समाप्ति संभव है ऐसा कहना कि एक अस्तित्वपूर्ण ईश्वर के अस्तित्व की समाप्ति संभव है, आत्म व्याघाती होगा । जब हम ईश्वर से आत्म-विनाश की अपेक्षा रखते हैं तो यह एक तार्किक रूप से असंभव अपेक्षा है क्योंकि एक अस्तित्वपूर्ण ईश्वर के अस्तित्व की समाप्ति की चर्चा की जा रही है । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ईश्वर द्वारा अपने आत्मविनाश की संभावना उसके सर्वशक्तिमत्ता को किसी भी रूप में प्रभावित नहीं करता ।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ईश्वर के अनिवार्य अस्तित्व की स्वीकृति इस कथन को तार्किक रूप में असंगत प्रमाणित करता है कि ईश्वर एक काल में अस्तित्ववान् होता है और कालान्तर में दूसरे काल में वह अस्तित्ववान् नहीं होता। अल्तीजर अपने विचार द्वारा कुछ इसी प्रकार की बात करना चाहते हैं इसलिए

उनके द्वारा व्यक्त विचार असंगत सिद्ध होते हैं। इस प्रकार ईश्वरीय मृत्यु की चर्चा शाब्दिक रूप में करने का अब कोई उपयोग नहीं रह जाता। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ईश्वरीय मृत्यु का ईशविज्ञान अपनी प्रासंगिकता खोने के प्रति उग्र प्रतिक्रिया या अनीश्वरवाद की अभिव्यक्ति है।

फिण्डले और सत्तामूलक तर्क

आधुनिक युग में यह विवाद का विषय है कि 'एक सत्ता जिससे बृहत्तर अन्य का विचार अविचारणीय है' को अवश्यसंभावी रूप से अनिवार्य सत्ता होना चाहिए या नहीं। इस प्रसंग में फिण्डले का विचार महत्त्वपूर्ण है। फिण्डले मानते हैं कि धार्मिक अभिवृत्ति का उपर्युक्त विषय अवश्य ही बृहत्तम कल्पनीय सत्ता होनी चाहिए। यह एक ऐसी सत्ता है जो हमारे अन्दर भय और आश्चर्य को सम्पूरित करता है और जिसके समक्ष हम सभी तुच्छ हैं। इस प्रकार के सत्ता को जब बृहत्तम कल्पनीय सत्ता कहते हैं तो इसका निहितार्थ यह होता है कि इस प्रकार के सत्ता को किसी प्रकार से सीमित नहीं किया जा सकता। यदि इस प्रकार की सत्ता किसी भी प्रकार से सीमित हो तो हम इससे बृहत्तम सत्ता की कल्पना कर सकते हैं जो किसी भी प्रकार से सीमित नहीं हो। अपने विचार को स्पष्ट करते हुए फिण्डले कहते हैं 'हम अप्रतिरोध्य रूप से इससे और कठोर अभियाचना की ओर उन्मुख होते हैं। हमें ऐसा अनुभूत करने से सहायता नहीं मिल सकती कि भक्ति का उपयुक्त विषय ऐसा वस्तु नहीं हो सकता जो मात्र अस्तित्वपूर्ण हो। अन्य वस्तुओं का अस्तित्व मात्र ही इसके अभाव में विचारणीय नहीं बल्कि स्वयं इसका अनस्तित्व भी किसी भी अवस्था में अविचारणीय होना चाहिए। ईश्वर अवश्य ही पूर्णतः अनिवार्य है'।[८] फिण्डले अनिवार्य अस्तित्व की अवधारणा को या तो अर्थहीन मानते हैं या असंभव।[९] इनकी धारणा है कि अनिवार्य अस्तित्व तार्किक रूप में संभव नहीं, इसलिए इस अवधारणा पर आधृत ईश्वरीय अस्तित्व संबंधी सत्तामूलक तर्क असंगत प्रतीत होता है। यह इस तथ्य को आपादित करता है कि ईश्वरीय अस्तित्व को सत्तामूलक तर्क के आधार पर अप्रमाणित किया जा सकता है। धार्मिक विचारक यह सोचने को उत्सुक नहीं हो सकते कि उसके द्वारा स्वीकृत ईश्वर अनिवार्य सत्ता है, क्योंकि यह तार्किक रूप में असंभव है। ईश्वर के विचार में ही यह बात निहित है कि वह अस्तित्ववान् नहीं। इसके विपरीत एन्सेलम मानते हैं कि ईश्वर के विचार में ही उसका अस्तित्व सन्निहित है।

फिण्डले द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त विचार से यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि 'हमें ऐसा अनुभूत करने से सहायता नहीं मिल सकती कि एक विषय हमारे लिए उपासना का

विषय तब तक नहीं हो सकता जब तक उसकी अनिवार्य सत्ता मान्य नहीं हो' का अर्थ क्या है ? इस प्रकार की असंभावना को आनुभविक नहीं माना जा सकता। मनुष्यों ने अपने उपासना के उपयुक्त विषय के रूप में असंख्य ईश्वरों को मान्यता दी है । हम इन ईश्वरों में विश्वास करते हुए भी अन्य वस्तुओं के प्रति अपना विश्वास प्रकट करते हैं जो ईश्वरों के परे हैं । पुनःश्च क्या इस स्थिति में 'अनुभूत करने में सहायता नहीं मिल सकती' को तार्किक माना जा सकता है ? फिण्डले शायद यह संकेत देने की इच्छा रखते हैं कि 'मैं 'क' की उपासना करता हूँ' का व्याघात उपस्थित हो जाता है जब 'क' अनिवार्य सत्ता नहीं होता । यह तभी संभव है 'जब मैं अनिवार्य सत्ता की उपासना करता हूँ' कथन विश्लेषी हो । फिण्डले की मंशा ऐसी ही है, पर ऐसा मानने का पर्याप्त आधार हमारे समक्ष उपलब्ध नहीं कि अनिवार्य सत्ता के अभाव में उपासना कोई अर्थ नहीं रखता ।

फिण्डले का ऐसा मानना उपयुक्त प्रतीत होता है कि धार्मिक अभिवृत्ति में किसी न किसी रूप में मूलरूप से पूर्ण प्रतिबद्धता की बात की जाती है । धार्मिक अभिवृत्ति में भक्त को अपनी हीनता का बोध होता है । वह अपने को तुच्छ एवं हीन समझता है तथा ईश्वर के समक्ष अपने को बलिदान करने के लिए तत्पर रहता है। फिण्डले का दृढ मत है कि 'धार्मिक अभिवृत्ति में उपास्य ईश्वर के समक्ष प्रश्न रहित उत्साह के साथ अपने को तुच्छ समझने और घुटने टेकने की प्रक्रिया शाब्दिक या लाक्षणिक रूप में सम्मिलित है' । पूर्ण प्रतिबद्धता की अभिव्यक्ति के लिए किसी अभिकथन को विश्लेषी होना अनिवार्य नहीं। इसे एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है । 'निर्दयता अन्यायपूर्ण है' एक परम नैतिक सिद्धान्त की अभिव्यक्ति हो सकता है जिसे व्यक्ति किसी भी परिस्थिति में त्याग करने को उत्सुक, नहीं होता। पर इसका अर्थ यह नहीं लिया जाना चाहिए कि 'निर्दयता अन्यायपूर्ण है' कथन विश्लेषी है । कुछ लोग इस बात को स्वीकार करने को अधिक तत्पर हो सकते हैं कि 'निर्दयता अन्यायपूर्ण नहीं है' कथन अधिक अर्थपूर्ण है । एक व्यक्ति की नैतिक प्रतिबद्धता का अर्थ मात्र इतना है कि यह एक अभिकथन है जिसे किसी भी परिस्थिति में व्यक्ति उपस्थित करने को तत्पर नहीं होता । धार्मिक विश्वास के संदर्भ में चर्चित पूर्ण प्रतिबद्धता उपर्युक्त उदाहरण से बहुत साम्यता रखता है । एक विश्वासक विश्व और जीवन की कुछ निश्चित रूप में व्याख्या करता है और इसके अनुरूप क्रिया करता है । व्यक्ति इन्हीं व्याख्याओं के आलोक में नैतिक निर्णयों की स्थापना करता है । क्रिया के इस सिद्धान्त को व्यक्ति अपने लिए परम प्राधिकार मानता है, जिसे वह ईश्वरीय इच्छा के रूप में भी व्यक्त कर सकता है।

अतः हम कह सकते हैं जिस प्रकार 'निर्दयता अन्यायपूर्ण है ' उस व्यक्ति के लिए परम प्राधिकार बन जाता है जो इस सिद्धान्त में विश्वास करता है, उसी प्रकार विश्व और जीवन की धार्मिक व्याख्या एक विश्वासक के लिए परम स्थान रखता है। इस प्रकार की अवस्था में विश्वासक अपने आस्था के प्रतिकूल आनुभविक साक्ष्यों को देखकर भी इसे त्याग करने को तत्पर नहीं प्रतीत होता।

पुनःश्च 'ईश्वर मृत है' कथन को ईश्वर वह है जिससे बृहत्तर अन्य सत्ता विचारणीय नहीं और यह बृहत्तर विचारणीय सत्ता अनिवार्य सत्ता है जैसे सत्य कथनों पर आधृत मानना व्याघाती है। यदि इस प्रकार की स्थिति दुर्बल है तो इसका कारण यह है कि एक या दोनों ही कथनों को संघृत नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के कथनों पर दो प्रकार से आपत्ति की जा सकती है। प्रथम तो यह हो सकता है कि हम यह मानने से ही इन्कार कर दें कि ईश्वर एक ऐसी सत्ता है जिससे बृहत्तर अन्य सत्ता अविचारणीय है। ऐसा मानना असंतोषप्रद लगता है। एक अन्य संभावना यह है कि हम इसे स्वीकार करे कि ईश्वर का अर्थ एक ऐसी सत्ता से है जिससे बृहत्तर अन्य सत्ता विचारणीय नहीं और पुनः इसे अस्वीकार करें कि इस प्रकार की सत्ता का अनिवार्य अस्तित्व है। हम कह सकते हैं कि धार्मिक अभिवृत्ति का उपयुक्त विषय बृहत्तर संभावित सत्ता अवश्य है, पर इसमें अनिवार्य अस्तित्व की अवधारणा अन्तर्लीन नहीं।

यदि यह प्रश्न उपस्थित किया जाता है कि एन्सेलम, मॉलकम और फिण्डले द्वारा चर्चित बृहत्तम संभावित सत्ता को बृहतता कैसे प्राप्त होता है। हम यह तर्क उपस्थित कर सकते हैं कि धार्मिक अभिवृत्ति का विषय बृहत्तम सत्ता होनी चाहिए। यदि हम यह मान लें कि यह सत्ता अपना नाश कर सकता है तो हमारे प्राक्कल्पना के विपरीत यह बहत्तम संभावित सत्ता नहीं हो सकता क्योंकि एक ऐसी सत्ता का विचार किया जा सकता है जो अपना नाश नहीं कर सकता। इस प्रकार बृहत्तम संभावित सत्ता की बृहत्तता मात्र इस तथ्य को सूचित करता है कि इसके अस्तित्व का न तो कोई आरंभ हो सकता है और न कोई अन्त। कुछ व्यक्ति इस प्रकार के बृहत्तम संभावित सत्ता पर आपत्ति करते हुए निम्नलिखित विचार उपस्थित कर सकते हैं। यदि यह मान लिया जाय कि ईश्वर को यह बोध होता है कि यदि वह अपने अनस्तित्व को वास्तविकता प्रदान करता है तो वह मानव के लिए सर्वोच्च सुविधा का विषय हो सकता है। इस प्रकार की संभावना को प्रागानुभविक रूप में अस्वीकार नहीं किया जा सकता। एक समय आता है जिस समय ईश्वर से आत्म-विनाश की क्रिया की अपेक्षा की जाती है, एक अनिवार्य सत्ता इस क्रिया के सम्पादन

में अपने आपकों असमर्थ पाता है । इस स्थिति में क्या यह नहीं कहा जा सकता कि यदि ईश्वर इस सर्वोच्च नैतिक क्रिया का सम्पादन करते हुए आत्मविनाश कर लेता तो यह सत्ता एक बृहत्तर सत्ता होता और इसे उपासना का उपयुक्त विषय माना जा सकता है । ईश्वर ऐसा नहीं कर पाता जो तार्किक रूप में अमर सत्ता के रूप में उसकी संस्थिति को परिवर्द्धित करता है । पर ईश्वरीय संस्थिति में परिवर्द्धन सही रूप में तभी संभव हो पाता है जब उसके पास सर्वोच्च नैतिक क्रिया को सम्पादित करने की संभावना हो । एक सत्ता जो स्वयं अपने आत्म-विनाश को आमंत्रित करता है, वह बृहत्तम नैतिक संभावनाओं से युक्त सत्ता होगी । इस चर्चा के आलोक में जब यह प्रश्न उपस्थित किया जाता है कि हम किसे बृहत्तम सत्ता मानें उसे जो नैतिक बाध्यता रहते हुए भी आत्म-विनाश नहीं कर पाता या उसे जो कुछ निश्चित नैतिक बाध्यता की उपस्थित में आत्म-विनाश को सम्पादित कर एक उच्च नैतिक आदर्श प्रस्तुत करता है ? यदि 'बृहत्तम संभावित सत्ता' की व्याख्या जिस रूप में एन्सेलम ने प्रस्तुत किया है तो हमें यह मानने को बाध्य होना पडता है कि इस प्रकार की सत्ता के लिए कुछ नैतिक क्रियाओं जैसे आत्म-त्याग, प्रेम इत्यादि का सम्पादन असंभव है । हम यह कह सकते हैं कि धार्मिक उपासना के विषय के रूप में यह न्यून रूप में उपयुक्त है ।

उपर्युक्त चर्चा का निहितार्थ यह है कि 'बृहत्तम संभावित सत्ता ' को एक ऐसा अर्थ भी प्रदान किया जा सकता है जिसमें अनिवार्य अस्तित्व से उसका कोई संबंध नहीं रहता । इस प्रकार की सत्ता अनिवार्य रूप से अस्तित्व पूर्ण नहीं होते हुए भी कुछ नैतिक आदर्शों की पूर्ति की क्षमता रखता है । और इसीलिए अनिवार्य रूप से अस्तित्वपूर्ण 'बृहत्तम संभावित सत्ता' की अपेक्षा इसे अधिक बृहत माना जा सकता है ।

उपर्युक्त चर्चा से यह परिस्पष्ट होता है कि ईश्वरीय अस्तित्व के संदर्भ में वर्णित अनिवार्य अस्तित्व की व्याख्या कुछ इस प्रकार भी किया जाना संभव है जहाँ यह ईश्वर से कोई सम्बन्ध नहीं रखता । इस प्रकार फिण्डले अनिवार्य अस्तित्व के संबंध में जो आपत्ति करते हैं उससे सरलता से बचा जा सकता है । इस संदर्भ में ध्यातव्य है कि फिण्डले इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि ईश्वरीय अस्तित्व प्रतिकूल आनुभविक स्थितियों के बावजूद भी अनिवार्य हो सकता है । जब व्यक्ति इस बात के प्रति पूर्णरूपेण प्रतिबद्ध होता है कि चाहे जो भी आनुभविक स्थितियाँ हों हम ईश्वर की चर्चा ईश्वरवादी रूप में ही करेंगे तो शायद इस व्यक्ति को ऐसा करने से रोका नहीं जा सकता । इस बात की संभावना है कि किसी स्थल पर

आनुभविक परिस्थितियों और ईश्वरवाद में तनाव इतना असहनीय हो जाता है कि फिण्डले ईश्वरवाद को तिरस्कृत करने को तत्पर हो जाते हैं। परन्तु जब तक वे ऐसा नहीं कर पाते वे ऐसा मानने को प्रतिबद्ध हैं कि दर्द और दरिद्रता जैसे घटनाओं के पीछे भी सोद्देश्य ईश्वर कार्यशील है। इस विचार पर आपत्ति करते हुए कहा जा सकता है कि प्रतिकूल आनुभविक स्थितियों के बावजूद भी ऐसा विश्वास करना मूर्खता है। इस आपत्ति के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि ईश्वरवादियों के समक्ष अभी तक वह स्थिति उपस्थित हुई हीं नहीं है जो उन्हें विश्वास को तिलांजलि देने को बाध्य करे। इस प्रकार फिण्डले की यह आपत्ति निराधार प्रतीत होती है कि आनुभविक स्थितियों की प्रतिकूलता के बावजूद भी ईश्वरवादी रूप में विश्वास किया जा सकता है।

उपसंहार

फिण्डले ने ईश्वरवादी अनस्तित्व को प्रमाणित करने के संदर्भ में इस बात पर बल दिया है कि ईश्वरीय अस्तित्व को अनिवार्य रूप से सत्य नहीं माना जा सकता। पर फिण्डले के ऐसा मानने का समुचित आधार उपलब्ध नहीं। ईश्वरीय अस्तित्व को समकालीन युग में कुछ इस प्रकार व्यक्त किया जाता है।

(अ) ईश्वर अपने प्रकृतिवश अस्तित्ववान् है।

(ब) ईश्वर है या नहीं एक खुला प्रश्न है।

(स) अस्तित्व की अवधारणा ईश्वर पर आरोपित नहीं किया जा सकती।

(द) ईश्वर अपने प्रकृतिवश अस्तित्वपूर्ण नहीं।

(अ) निश्चय ही एन्सेलम के सत्तामूलक तर्क का केन्द्र बिन्दु है। (द) फिण्डले के सत्तामूलक अनीश्वरवाद का केन्द्र बिन्दु है। (ब) और (स) को ईश्वर में विश्वास करने वाले या नहीं करने वाले दोनों ही स्वीकार कर सकते हैं। जहाँ तक सत्तामूलक तर्क के परिभाषात्मक अभिकथन का सम्बन्ध है, ईश्वरीय अनिवार्य अस्तित्व की सत्यता अस्पष्ट है, पर इसके सत्य होने की संभावना है। अत: फिण्डले अपना निष्कर्ष इन आधार वाक्यों के आधार पर स्थापित नहीं कर सकते। इस स्थल पर फिण्डले यह विचार उपस्थित कर सकते हैं कि अपने अस्तित्वपरक अभिकथन कि 'ईश्वर अपने प्रकृतिवश अस्तित्वपूर्ण नहीं" के संदर्भ में सत्तामूलक तर्क का प्रतिवाद सत्य प्रतीत होता है। अस्तित्वपरक रूप में ईश्वरीय अनस्तित्व की चर्चा परिभाषात्मक विषय नहीं बल्कि एक विलक्षण अन्वेषण है, जिसे हम किसी न किसी रूप में स्वीकार करते हैं। इस बिन्दु पर यदि यह प्रश्न उपस्थित किया जाता है कि ईश्वर के सम्बन्ध में किसका बोध सही हो सकता है, फिण्डले का या

एन्सेलम का। निश्चय ही, यदि ईश्वर अपने प्रकृतिवश इस विश्व में अस्तित्ववान् है तो वह अस्तित्वपूर्ण होगा ही। सत्तामूलक तर्क में अन्तर्निहित अस्तित्वपरक अभिकथन की सत्यता संदेह का विषय हो सकता है। फिर भी इस अस्तित्वपरक अभिकथन को सत्य प्रमाणित करने के लिए कुछ दिशाओं का बोध संभव है। यदि फिण्डले को अपने विचार के समर्थन में कुछ तुल्य रूप प्रस्तुत करने को कहा जाता है तो वे ऐसा नहीं कर पाते। ऐसा कोई भी तुल्य रूप नहीं जिसके आधार पर फिण्डले सत्तामूलक तर्क के उस अभिकथन की सत्यता का अवलोकन कर सकेंगे जो अस्तित्वपरक नहीं। ईश्वर में विश्वास करने वालों को ईश्वर की अनिवार्य सत्ता का बोध इसलिए हो सकता है क्योंकि उनकी यह मान्यता है कि ईश्वर के अभाव में यह विश्व संभव नहीं या यह विश्व ईश्वर पर आश्रित है। अपने इस विचार की प्रासंगिकता का अवलोकन ईश्वरवादी इस प्रश्न में करते हैं कि किसी वस्तु का अस्तित्व क्यों होना चाहिए ? क्या इस संबंध में फिण्डले द्वारा तुल्यरूपी प्रश्न उपस्थित करने की संभावना है ? ऐसा संभव प्रतीत नहीं होता। इस संबंध में जो सबसे निकट का प्रश्न उपस्थित किया गया है, वह यह है कि अशुभ क्यों है, यदि प्रेममय ईश्वर है। पर फिण्डले ने अशुभ और प्रेममय ईश्वर के साथ इसकी संभावित अतुलनीयता के आलोक में कभी विचार नहीं किया है। यदि वे ऐसा कर पाते, यह उनके लिए सुविधाजनक उस स्थिति में भी नहीं होता। इस प्रश्न का उत्तर अनेक रूपों में दिया जा सकता है। हम कह सकते हैं कि ऐसा इसलिए होता है क्योंकि ईश्वर नहीं है या क्योंकि ईश्वर के पास एक उद्देश्य है, जिसका हमें अति क्षीण अनुभव होता है। यदि इस प्रश्न का समाधान दिया जाय तो यह हमें अनिवार्य रूप से इस अभिकथन की ओर उन्मुख नहीं करता कि ईश्वर नहीं है बल्कि इस अभिकथन की ओर उन्मुख करता है कि अनिवार्य रूप से एक ईश्वर है। फिण्डले के लिए जिज्ञासा का मुख्य विषय ईश्वर और आपातिक वस्तुओं के साथ सम्बन्ध है। मुझे नहीं लगता कि इस प्रश्न पर विचार करते हुए किसी भी तरह हम इस निष्कर्ष पर आ सकते हैं कि ईश्वर नहीं है। प्रश्न मात्र एक है और वह है आपातिक वस्तुओं का अस्तित्व क्यों है ? इस प्रश्न पर विचार करते हुए हम एक मात्र इसी निष्कर्ष पर आ पाते हैं कि इनका अस्तित्व इसलिए है क्योंकि ईश्वर अनिवार्य रूप से अस्तित्वपूर्ण है।

उपर्युक्त विचार से यह स्पष्ट है कि फिण्डले द्वारा प्रस्तुत सत्तामूलक अनीश्वरवाद मिथ्या है। यदि इसे परिभाषात्मक रूप में स्वीकार किया जाता है तो भी यह मिथ्या ही सिद्ध होता क्योंकि इस विचार के विपरीत एक ईश्वर परिभाषात्मक रूप में

अनिवार्य रूप से अस्तित्ववान् है । यदि सत्तामूलक के प्रतिवाद का अर्थ इसके अस्तित्वपरक अभिकथन को लिया जाय, तो इस प्रकार के अभिकथन की सत्यता हमारे लिए आश्चर्य का विषय बन जाता है । इस प्रकार के अभिकथन की सत्यता का बोध हो पाना किसी भी रूप में संभव नहीं लगता । इसके विपरीत सत्तामूलक तर्क द्वारा व्यक्त अस्तित्वपरक अभिकथन की सत्यता का बोध हो पाना हमारे लिए संभव प्रतीत होता है ।

अन्ततः इस निष्कर्ष पर आते है कि न तो अलतीजर द्वारा प्रतिपादित ईश्वरीय मृत्यु विषयक शाब्दिक अभिकथन सत्य है और न फिण्डले द्वारा प्रतिपादित सत्तामूलक अनीश्वरवाद । ईश्वरीय अस्तित्व संबंधी सत्तामूलक तर्क और ईश्वरीय अनस्तित्व संबंधी सत्तामूलक तर्क एक ही साथ सत्य नहीं हो सकते । फिण्डले के लिए बेहतर तो यह होता कि 'ईश्वर से बृहत्तर अन्य सत्ता अविचारणीय है ' को अपने धार्मिक अभिवृत्ति का विषय नहीं बनाते । यह लेख ईश्वरीय अस्तित्व की असंभावना से इन्कार नहीं करता, परंतु फिण्डले जैसे विचारकों द्वारा प्रयुक्त मूल अवधारणाओं का विरोध अवश्य करता है । फिण्डले अनिवार्य अस्तित्व में अन्तर्लीन व्याघात को नहीं स्पष्ट कर पाये है । अतः सत्तामूलक तर्क और सत्तामूलक अनीश्वरवाद एक ही केन्द्रीय अवधारणा पर आश्रित नहीं हो सकता ।

आनंद विहार, बैंक कॉलनी के निकट
अनुग्रहपुरी, गया ८२३००१ (बिहार)
डॉ. विजय कुमार सिन्हा

'हिरा कुंज', ३०७ अनुग्रहपुरी
गया ८२३००१ (बिहार)
डॉ. अरुण कुमार प्रसाद

टिप्पणियाँ

१. विलियम हेमील्टन, द न्यू एसेन्स ऑफ क्रीश्येनीटी (न्यू आर्क एसोसियेशन प्रेस, १९६१)
२. पॉल मेन बुरेन, द सेक्युलर मीनिंग ऑफ द गॉस्पल (लंदन, एस. सी. एम. प्रेस, १९०३)
३. थामस अलतीजर,द गॉस्पल ऑफ क्रीश्चन एथीज्म (लंदन, कॉलीन्स, १९६७) पृ.११३.

४. जान हिक, फिलासफी ऑफ रिलीजन, (प्रेन्टिस हाल, आर. एन. सी. इंगलवुड क्लिफ, न्यू जर्सी, १९६३) पृ.१६-१७
५. एस.एन.दीन, प्रोसोलिजियम (लासेले, १६४८ अध्याय १४)
६. जान हिक (सं.), व एक्जिसटेन्स ऑफ गॉड में उद्धरित, एन्सेलम आनटॉ लॉजिकल आर्गुमेन्ट (न्यू यॉर्क मैकमीलन, पेपरबैक्स)
७. वही, पृ.५६
८. एन्टोनी फ्लू एण्ड ए. मैकेनटायर, कैन गाड्स एक्जिसटेन्स बी डीस्प्रूफ्ड
९. (सं.) एन्टोनी फ्लू , न्यू एसेज इन फिलासाफिकल थियोलाजी, (एस. सी. एम. प्रेस) पृ.४९

★

साहित्य की पठनीयता : दशा और दिशा

रचनाकार और पाठक के बीच का सम्बन्ध उसके द्वारा सार्थक एवं सुव्यवस्थित रूप में रखे गए शब्दसमूह (जिसे उसकी भाषा कहा जाता है) द्वारा होता है । ये शब्द रचनाकार की विशुद्ध अनुभूति के प्रतीक होते हैं । विशुद्ध अनुभूति साहित्य का मूलाधार है । भावों और अनुभूतियों की अनन्तता के साथ-साथ जीवन के असंख्य राग-रूपों के अनुरूप साहित्य भी अनेक रूप धारण करता है । पाठक के हृदय में अनुभूति की अनुकृतिभाषा के माध्यम द्वारा होती है । साहित्य में विषय ही महत्त्वपूर्ण नहीं होता बल्कि उसका रूप और शैली भी महनीय होती है । इन दोनों पक्षों के समुचित संयोग से साहित्य से अनुभूति की घनीभूत तीव्रता जो साहित्यकार की चेतना से छनकर आती है पाठकों को प्रेरणा प्रदान करने की शक्ति रखती है । साहित्यकार अपनी सूक्ष्म, तीव्र और घनीभूत अनुभूति को शब्दों के माध्यम से अपने और पाठकों के बीच एक सेतु का निर्माण करता है ।

साहित्य का अपना सत्य होता है । उस सत्य की स्थापना करने का उनका अपना ढंग होता है । साहित्य का सत्य साहित्यकार के कल्पनाजगत् के मूल से सन्निहित हुए सत्य में ही दृष्टिगोचर होगा । एक समाचारपत्र द्वारा बताई गई दुर्घटना और कविद्वारा वर्णित दुर्घटना में अन्तर होता है । पत्र हमें केवल समाचार देता है । कवि उस दुर्घटना को अपनी कल्पना से पुनर्जीवित कर हमारे सामने उपस्थित करता है । जो कार्य चित्रकार अपनी तूलिका से करता है वह कार्य कवि अपनी भाषाशक्ति द्वारा करता है । प्रतिभा और छाया के समवाय में, साकार और निराकार के संकलन में, सत् तथा असत् के तादात्म्य में ही कल्पना शक्ति निहित रहती है । कल्पना का मनुष्य के मनोवेगों से सीधा सम्बन्ध है और मनोवेगों में उत्कटता उत्पन्न करने के लिए मनोवेग का औचित्य, मनोवेग की विशुद्धता और शक्ति, मनोवेग स्थिरता, मनोवेग की विविधता, मनोवेग की वृत्ति अथवा उसका गुण- ये पाँच तत्त्व स्वीकारे गए हैं । ये ही बाते हैं जिनके आधार पर हम देशकाल की सीमा से स्वतंत्र हो भावजगत् में जा पहुँचते हैं । भावपक्षद्वारा पुष्ट मनोवेग ही उच्चश्रेणी के होते हैं । हमारे हृदय की सम्पूर्ण वृत्ति के साथ उनका सम्बन्ध होता है । साहित्यकार की रचना जीवनतत्त्व से विहीन नहीं होती । तुलसी

के 'मानस' से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है और मैथ्यू आर्नल्ड ने भी साहित्य के इस पक्ष को स्वीकार किया है।

आधुनिक मशीनीयुग से पूर्व के दिनों में मनुष्य की जिन्दगी की गति मन्द थी फलत: आदमी कला, संस्कृति और साहित्य के प्रति संवेदनशील होता था। आज की मशीनी-जिन्दगी ने सबसे अधिक चोट पहुँचायी है तो मानवीय संवेदना पर और संवेदना वस्तुत: साहित्य सर्जना और उसकी ग्राह्यता का मूलाधार होती है। जब संवेदना ही नहीं है तो उसकी पठनीयता पर प्रश्नचिह्न लगना स्वाभाविक है। आज समाज अर्थ केन्द्रित हो गया है। व्यक्ति सोचने लगा है कि पुस्तक पढ़ने से हमे लाभ क्या मिलेगा। पैसा तो मिलता नहीं तब फिर पुस्तकें क्यो पढ़ूँ? जबकि सम्यक् साहित्य के पढने से मनुष्य के मन:संवेग से रचनाशीलता बढती है। वह जिस क्षेत्र में भी काम करेगा वहाँ उसकी बढी हुई रचनाशीलता का परिणाम स्पष्ट दिखने लगेगा। सम्यक् साहित्य के पढने के प्रति रुचि-अभिरुचि के कम होने का परिणाम आज यह हुआ है कि लोग पहले की तुलना में अधिक मानसिक बीमारियों के शिकार होने लगे हैं। उनके जीवन में तनावों का तांडव हो रहा है। आज संसद में बजट की बहस है पर नवीनतम प्रकाशित साहित्यिक कृति पर कोई चर्चा नहीं है। साहित्य इन सब कारणों से हाशिए पर आ गया है। फिर साहित्य की पठनीयता का प्रसंग आज कितना सार्थक हो जाता है।

साहित्य जागरण की वस्तु है। साहित्य को देश, काल और समाज के प्रसंग से काटकर नहीं देखा जा सकता। हमारे देश, काल और समाज का हाल क्या है? जिस देश की पूरी शिक्षा व्यवस्था कुशिक्षितों की जमातें पैदा करने के उद्देश्य में नियोजित हो, वहाँ साहित्य की समाज में पहुँच की सारी सम्भावनाएँ स्वत: समाप्त हो जाती हैं। ऐसी विशेषज्ञता या विद्वत्ता का कोई मूल्य नहीं यदि वस्तु को आदमी से जोडकर देखने की दृष्टि नदारद हो। हमारे प्रत्येक कर्म का देश, काल और समाज से गहरा वास्ता है। इस चेतना से शून्य सुविज्ञ सबसे बडा अविज्ञ है और साहित्य अविज्ञों के व्यवहार की वस्तु नहीं। साहित्य की समाज तक आवाजाही के प्रश्न पर विचारते समय यह ध्यान देना आवश्यक होगा कि समाज की दशा और दिशा क्या है? आज की स्थितियों में सिर्फ वही लोग कुछ सकारात्मक पहल कर सकते हैं जो रेगिस्तान में खेती का सपना साकार करने का दमखम रखते हो। हिन्दीभाषी समाज साहित्य के प्रचार-प्रसार के संकल्प में कंधे पर झोला लटकाये घूमनेवाले एक विशाल रेगिस्तान से कम नहीं। इस स्थिति पर सरकार ने विजयश्री हासिल कर ली है। उसने लेखक को समाज तक पहुँचने के सारे रास्तों पर खुद

चौकसी हेतु चौकियाँ स्थापित कर दी हैं। साहित्य की बिक्री का सवाल अब उसे गाँजा-भाँग और शराब की विक्री से कम महत्त्व का नहीं है। बाजारु किताबों और पत्रिकाओं से सारे 'बुकस्टाल' पाट दिए जा चुके हैं। साहित्यिक पुस्तकों के पढने-पढाने का जमाना कब का लद गया है। सामने तमसा की नदी बह रही है। आज साहित्यकार बने-फिरने के लिए सरकार का अनुग्रह एकमात्र मार्ग रह गया है। इसीलिए हिन्दी के अधिकांश लेखक अपना समय समाज की तरफ जानेवाली पगडण्डियाँ तलाशने की जहमत उठाने की जगह सत्ता की तरफ खुले प्रशस्त पथ में बिता रहे हैं। नाना राजनैतिक पार्टियों के लेखक-संगठनों में भर्ती होने की होड़ ही लेखकों में इसलिए है कि ये साहित्य के क्षेत्र में भी राजनैतिक दलाली का काम करती है। सत्ताकेन्द्र से सीधा तालमेल होने से, लेखकों की विभिन्न संस्थाओं-समितियों में नियुक्तियों, पुस्तक-खरीदों, पुरस्कारों और विदेशयात्राओं का एक निर्धारित कोटा इन राजनैतिक पार्टियों के पास होता है, जिसके माध्यम से ये लेखकों का मुँह, समाज की जगह, सरकार की तरफ मोडती हैं। आज जो देश के अधिकांश लेखक समाज के सुलगते सवालों से इतने उदासीन और बेसरोकार दिखाई पड रहे हैं, इसका एकमात्र कारण लेखकों का राजनैतिक ठेकों पर उठ चुका होना ही है। लेखक जितना संघबद्ध हुआ उतना ही समाज से कटता गया है। ज़ब साहित्यकार समाज के लिए अप्रासंगिक और निष्प्रभावी हो चुके हों, तब उनकी किताबों के समाज में मान्यता पाने की सम्भावनाएँ कितनी होंगी? समाज में आवाजाही छोडकर, सत्ताकेन्द्रों के इर्द-गिर्द मँडराते लेखको की किताबे खरीदने की जिम्मेदारी समाज पर आयद नहीं होगी।

साहित्यिक पुस्तकों की बिक्री के रास्ते बंद हो गए होने का रास्ता रोनेवाले लेखकों को सबसे पहले इस सवाल का जबाब देना होगा कि वह व्यवस्था और समाज, दोनों को साथ-साथ दुहने का रोजगार आख़िर कब तक चलाना चाहते हैं ? जिन्हें समाज की दुर्दशा से कोई वास्ता न हो, जो राजसत्ता के परकोटों के भीतर ही खुद ही सुरक्षा देखते हों और जिन्हें समाज की कठिन दिशा में चलने की कल्पना करने में भी झुरझुरी सी छूटती हो, उन्हें इस शिकायत का कोई हक नहीं ठहरता कि लोग साहित्य को खरीद कर पढने की बजाय दारू खरीदना ज्यादा जरुरी क्यों समझते हैं। इस प्रश्न को झुठलाया नहीं जा सकता कि साहित्य सरकारी ठेके की सामग्री क्यों हो गया है ? कितने लेखकों के लिए साहित्य अस्तित्व का सवाल है ? जो यह मानते हों कि उनकी निर्याति व्यवस्था नहीं, समाज से जुड़ी है ? जिन्हे व्यवस्था के पद-

पुरस्कार-अलंकार जुटाने से ज्यादा चिन्ता समाज को जगाने की हो ? दो दशक पूर्व आपात स्थिति के समय एक ही झटके ने देश के सारे लेखकों को नंगा करके छोड दिया तो क्या यों ही? समाज से पगहा तुडाकर व्यवस्था के तबेलों में एकत्रित लेखकों से आप क्या आशा कर सकते हैं कि परस्पर में संगठित होकर, साहित्य को समाज तक पहुँचाने का अभियान चलाएँगे। साहित्य की पठनीयता का सवाल क्या बेमानी नहीं हो जाएगा ? समाज में कोई औकात न होने से ही लेखक की व्यवस्था में भी कोई औकात नहीं रह गई है । हम व्यवस्था पर दबाव डाल सकते हैं कि उसने साहित्य की समाज तक आवाज ही के रास्ते क्यों ध्वस्त कर दिए है ? यदि ये तथाकथित लोग ठान लें कि साहित्य को समाज की दिशा में आगे बढाना है तो स्थिति में बदलाव आना शुरू हो जाएगा । जिन लोगों की राजनैतिक पार्टियों और सत्ताकेन्द्रों तक पहुँच हैं उनकी दृष्टि में समाज उनके ठेंगे पर है । नहीं पढना चाहते, न पढें लोग साहित्यिक पुस्तकें इससे इनकी सेहत पर क्या फर्क पडता है ? न बिकें किताबें पाठकों में सालभर में दस-बीस प्रतियाँभी, सरकारी खरीदों में तो 'थोक आर्डर' पक्के हैं । इसलिए समाज में साहित्य की पहुँच की समस्या अर्थात् साहित्य की पठनीयता के सन्दर्भ में विचारते समय थोडा अपने गिरेबान में झाँक लेना आवश्यक होगा कि समाज से सरोकार का सिला क्या है ? लेखकों का यही चरित्र बरकरार रहते जनता में साहित्य के पठन-पाठन की प्रेरणा जगाने की उम्मीदें बेकार हैं । व्यवस्था का तर्क यही है कि सिर्फ अपनी चिन्ता करो, लेखक भी केवल अपनी फिक्र करते हैं । थोडी-बहुत चिल्लपों अगर उनके द्वारा हुई तो भी जनता को प्रेरित करने की मंशा से नहीं बल्कि सरकार का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने की भावना से। आज अधिकांश लोग व्यवस्था के अभयारण्यों में पगुराते मिल जायेंगे । जो बाहर छूट गए हैं वे भी समाज से जुडने का इरादा नहीं रखते अपितु व्यवस्था के नकारा होने की बात कहते हैं । जो समर्थ हैं वे समर्थों के खेमे में जा पहुँचे हैं । बचे हुए तलछँटे लोगों द्वारा जनता में श्रेष्ठ साहित्य के पठन-पाठन की अभिरुचि जगाने का काम उनके सामर्थ्य से परे है । सरकार के विरुद्ध चिल्लाने वाला लेखक वही होता है जिसे कोटे के राशन-पानी में हिस्सा न मिला हो । जबकि समाज की गवाही देने का हक केवल उसे जाता है जिसे हरताल में समाज के भरोसे रहना हो । जिसकी अपनी चाकरी पर अटूट आस्था हो। जो मानता हो कि समाज राज्यसत्ता से बडी चीज है । जिसे

आश्वस्ति है कि उसकी पगार कहीं नहीं जाएगी । जिसे विदित हो कि समाज चुकाता है तो व्याज सहित चुकाता है ।

जनता में साहित्य के पठन-पाठन की रुचि और प्रेरणा जगाने के सवाल से पूर्व समाज में आस्था का सवाल पहले है । लेखक में यह समझ अवश्य होगी कि उसे बंजर में खेती करनी है । हमसे जब तक सरकारी अनुदानों और मेहरबानियों का मोह नहीं छूटेगा तब तक समाज से जुडाव-जडाव की बात झूठी है । दूरदर्शन और आकाशवाणि में साहित्य-कला और संस्कृति की उपयोगिता, व्यवस्था की गंध को सुगंधित बनाने से ज्यादा कुछ नहीं है। व्यवस्था के संचार-प्रसार माध्यमों से जनता में साहित्य के पठन-पाठन की प्रेरणा जगाने की उम्मीद कायम होने का मतलब ही मकडजाल में जकडा होना है । समय बहुत बलवान होता है । यह अँधेरे का वक्त है । इसे हमेशा नहीं रहना, मगर जब तक है तब तक यही सच है ।

पठनीयता का जादू सिर चढकर बोले इसके लिए हमें पहले यह तय करना चाहिए कि किस प्रकार की पुस्तकें पढने में पाठकगण रुचि रखते । व्यक्ति विशेष की रूचि और इच्छा के अनुसार खरीदी गई पुस्तकें अक्सर कम लोग दढेंगे और हमारा पाठक वर्ग सीमित रहेगा । इस स्थिति से बचने के लिए अलग-अलग वर्गों के पाठकों की सिफारिशों के आधार पर बनाई गई सूचि में सभी वर्गों की रुचि की पुस्तकों का अपने आप समावेश होगा। पुस्तकें अलमारी में ही नहीं रहेंगी । वैसे अलमारी में रखी एक-एक पुस्तक को लेकर कहा जा सकता है कि हर-एक पुस्तक की किस्मत में कोई न कोई पाठक और हर-एक पाठक के लिए कोई न कोई पुस्तक होती है । दुनिया में आज तक कभी कोई औरत या आदमी इसलिए खत्म नहीं हुआ क्ि उसके प्रेम का पात्र बनने लायक व्यक्ति दुनियाभर में है ही नहीं । उसी प्रकार लोग-हजारों हों या करोडों- उनमें से हर-एक की अपनी एक पसंद होती है और उस पसंद के अनुरूप पुस्तक भी पुस्तकों की दुनिया में मौजूद होती है । जरूरी सिर्फ एक-दूसरे की जरूरत महसूस करने वाले दो तत्त्वों को पास-पास लाने की है ।

हमारे पुस्तकालय की लेखा परीक्षा करते समय एक अधिकारी ने सवाल किया था - ''साल में दस हजार की पुस्तकें खरीदी और पढने वाले सिर्फ दस-बारह निकले, यह क्या है?''

हमने यह घाव झेलकर जवाब दिया था - ''अजी साहब, यहाँ पर पढने

के लिए वक्त किस के पास है । टी. वी. क्या आया, पढना बंद हुआ, लिखना बंद हुआ, आपस में बात करना तो दूर, घर में एक-दूसरे का चेहरा तक... और ऊपर से हिन्दी की ये पुस्तकें..."

लेखापरीक्षक महोदय ने हमारी दलील ध्यान से सुनकर बडे ही मार्मिक अंदाज में कहा –

"जानते हो मछली कैसे पकडी जाती है ?"

"जाल बिछाकर ।" – हमने कहा ।

"नहीं, इससे भी अधिक एक और कारगर तरीका है मछली फँसाने का काँटा डालकर । पतली-सी रस्सी में लोहे का हुकनुमा एक काँटा बाँधा जाता है और उस काँटे में मछली की पसंदीदा चीज---"

" मतलब ?"

लेखा परीक्षक महोदय बोले – "पहले इस बात का पता करो कि लोग कैसी चीज ज्यादा पसंद करते हैं । उनकी पसंद मालूम करके पुस्तक खरीदो। देखना, लोग पुस्तकें लेने के लिए लाईन लगा लेंगे ।"

यही हुआ भी । हमने लोगों की रुचि का अध्ययन करके पुस्तकों की एक सूचि बना ली । निष्कर्ष यह निकला कि लोग पैसा बनाने, नाम कमाने तथा हिंसा, स्वास्थ्य और पारिवारिक जीवन, सेक्स, आराम और पत्नी की खुशी – ऐसी तमाम चीजों पर लिखीं पुस्तकें पढना चाहते हैं । इस सूची में भी अधिकांश लोग सेक्स सम्बन्धी पुस्तकों को ही पढने के आग्रही थे । फिर भी, पाठकों की वृद्धि हेतु इस तरह के उपाय भी करने ही पडते हैं । इस कम्प्यूटरी की भागदौड में मुफ्त की पुस्तकें पढवाना भी मुश्किल हो गया है। महान्, वजनदार और विख्यात लेखकों का अभिजात्य साहित्य भी अलमारियों में अनछुआ पडा रहता है । इस चक्रव्यूह को तोडने का भी एक सफल प्रयास और प्रयोग होना चाहिए । हमारे पुस्तकालय में कालिदास, शेक्सपीयर से लेकर आज के जमाने के लेखकों तक की पुस्तकें मौजूद हैं । समझ में नहीं आता कि इतनी कीमती व विख्यात पुस्तकें बार-बार अपील करने के बावजूद कोई क्यों नहीं पढता ? एक सुझाव कौंधता है क्यों न हर-एक पुस्तक की थीम के साथ पुस्तक के आकर्षक अंश पाठकों की नजर में लाये जायें । इससे प्रभावित होकर लोग उस पुस्तक के पीछे पड जायेंगे । इसके लिए अपने साथियों का एक ग्रुप बनाया जाये । हर एक को पाँच-पाँच पुस्तकें देकर कहा जाए कि इन्हें पढकर जहाँ पर भी आकर्षक अंश नजर आएँ, वे

पँक्तियाँ कागज पर उतार लें । साथ ही ये सभी पुस्तकें पढकर और एक-एक पृष्ठ पर हर पुस्तक का सार उतारकर हम हर-एक पुस्तक के बारे में अपील करें, पत्र भेजें आदि । निश्चय ही कुछ-ही वर्षों में जिन्होंने शेक्सपीअर, कालिदास, भारतेन्दु आदि को पढा नहीं है वे पुस्तकें धडाधड पढी जानें लगेंगी । उदाहरण के लिए 'मैकबैथ' के बारे में इस प्रकार प्रचार-प्रसार करेंगे – बन्धुओं, पैसा या प्रतिष्ठा कमाने के लालच को क्या आपकी पत्नी ने कभी भडकाया है ? आमतौर पर औरतें हमें भडकाती रहती हैं । बेलोना सुन्दर व महत्त्वाकांक्षी स्त्री है, जो अपने नेक और पराक्रमी पति को आदरणीय राजा का कत्ल करने को उकसाती है । खून के गहरे दाग कई-कई कोशिशों के बाद भी धुलते नहीं.... आग लगाकर उसमें खुद भी जल जानेवाली उस औरत की कहानी पढिए 'मैकबैथ' में ।

इसके अलावा यात्रा के दौरान हम जितने भी लोगों से मिलते हैं, जितने भी लोगों को देखते हैं, यदि उनकी जीवन-शैली, दृष्टिकोण, रहन-सहन, सामाजिक स्थिति, मानसिकता, संस्कार, व्यवहार इत्यादि का अध्ययन और विश्लेषण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कर लें तो उनके मनोविज्ञान उनके साथ अपने व्यवहार, अपील की प्रतिक्रिया, भाषाविषयक आग्रह-इन सभी बातों को आगे बढाना आसान हो जाता है । लोगों की मानसिकता, भाषाविषयक दृष्टि और विशेषरूप से हिन्दी के बारे में उनकी धारणाएँ एक बार समझ लेने पर हम उन्हें इस बातके लिए प्रेरित कर सकते हैं कि वे कौन सी पुस्तक का वाचन करें । दूसरी तरफ लोगों से मिलने-जुलने से हमें इस बात का पता चलता है कि आम पाठक कौन सी पुस्तक समझ सकते हैं, पसंद करते हैं या पढ सकते हैं । स्पष्ट है कि ये सब बातें हम अपने विभाग के टेबुल पर बैठे-बैठे नहीं जान सकते, इसके लिए गोष्ठियों, सेमिनारों, साहित्यिक उत्सवों आदि आयोजनों में सक्रिय भागीदारी कर साहित्य की पठनीयता की स्थिति को सुदृढ कर सकते हैं ।

डॉ. आदित्य प्रचण्डिया

मंगल कलश
३९४, सर्वोदयनगर, आगरा रोड,
अलीगढ - २०२००१ (उ. प्र.)

ग्रंथ-समीक्षा

-१-

नरसिंहाचार्य, एम्., **काँट्रिब्युशन्स ऑफ यामुनाचार्य टू विशिष्टाद्वैत** श्री जयलक्ष्मी पब्लिकेशन्स, हैदराबाद, १९९८, पृ. ३५३, मूल्य रु. ३००।-

भारतीय दर्शनों में विशिष्टाद्वैत का अपना एक स्थान है। अद्वैत-वेदांत का नाम सुनते ही जैसे श्री शंकराचार्य का नाम सामने आता है वैसे ही विशिष्टाद्वैत का नाम सुनते ही श्री रामानुज का नाम सामने आता है। रामानुजाचार्य के परमाचार्य हैं श्री यामुनाचार्य। उन्होंने जिन तत्त्वों की नींव रखी थी उन्हीं पर रामानुजाचार्य का पूरा दर्शन सम्हल पाया है इस महत्त्वपूर्ण तथ्य का स्मरण प्रस्तुत पुस्तक में लेखक हमें करा देते हैं। ग्रंथ के अंतिम भाग में डॉ. नरसिंहाचार्य एक महत्त्वपूर्ण बात उठाते हैं कि 'विशिष्टाद्वैत' इस नामाभिधान का प्रयोग रामानुजाचार्य के उत्तरवर्ती काल में मिलता है। (पृ. ३१०, पादटिप्पणि १०९५) इस शब्द का प्रयोग पहली बार शायद सुदर्शनसूरीने या फिर वडुगनंबीने किया हो ऐसे प्रमाण उपलब्ध है। रामानुजाचार्य 'विशिष्टद्रवैक्य' शब्द का प्रयोग करते हैं, न कि 'विशिष्टाद्वैत' शब्द का। संशोधन की दृष्टि से यह बात ध्यातव्य है अत: इस पर जोर दिया गया है। क्यों कि यह नामाभिधान इस संप्रदाय के आचार्य खुद नहीं देते हैं, फिर भी वही नामाभिधान प्रसिद्ध एवं प्रचलित होता है और उस आचार्य के नाम के साथ जुड कर शेष व्यवहार होता रहता है।

प्रस्तुत पुस्तक की रचना बहुत ही अभ्यासपूर्ण ढंग से की गयी है। रामानुज के पूर्ववर्ती विचार तथा यामुनाचार्य के पूर्ववर्ती आचार्य इन के बारे में पार्श्वभूमि बनाकर यामुनाचार्य का तात्त्विक परिचय दिया है। उस के बाद यामुनाचार्य का दर्शन, रामानुज पर पडा उन का प्रभाव तथा विशिष्टाद्वैत परंपरा में उन का योगदान स्पष्ट किया है। यामुनाचार्य के उपलब्ध पाँच ग्रंथ- श्री स्तुति, स्तोत्ररत्न, गीतार्थ संग्रह, आगमप्रामाण्य तथा सिद्धित्रय- इन का विस्तृत परीक्षण प्रस्तुत किया है। खेद

की बात यह है कि सिद्धित्रय जैसा महत्त्वपूर्ण ग्रंथ पूर्णत: उपलब्ध नहीं हैं । यह ग्रंथ रामानुज के लिए अपने सिद्धांत की स्थापना के लिए आधारभूत मालूम पडता है।

इस के बाद यामुनाचार्य के दर्शन के जीव, ईश्वर, मोक्ष आदि महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का विवेचन आता है । इस में प्रपत्ति के रूप में स्थापित भक्ति का विधान उन की मुक्ति की कल्पना को स्पष्ट करता है । इस विचार का परीक्षण विवेचक दृष्टि से किया है । संदर्भग्रंथों की सूचि इस ग्रंथ की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है । ग्रंथ के अन्य परिशिष्ट तथा सूचियाँ संशोधन की दृष्टि से उपयुक्त हैं । डॉ. नरसिंहाचार्य ने बहुत परिश्रमों से इस ग्रंथ का निर्माण किया है । पादटिप्पणियों से इस बात को अधिक पुष्टि मिलती है । आशा है दर्शन के पाठक इस पुस्तक से विशेष लाभान्वित होंगे ।

सर परशुरामभाऊ महाविद्यालय
पुणे - ४११०३०

–डॉ. कांचन मांडे

–२–

डॉ.उर्मिला चतुर्वेदी, भारतीय दार्शनिक चिन्तन के विभिन्न आयाम, कला प्रकाशन, वाराणसी २२१००४, १९९६, पृष्ठ ज + ३ + ११९ मूल्य रु.२००/-

डॉ. उर्मिला चतुर्वेदी की 'भारतीय दार्शनिक चिंतन के विभिन्न आयाम' यह किताब उनके खुदके विभिन्न पत्रिकाओं में अधिकांश रूपसे प्रकाशित हुए लेखोंका संग्रह है, उन में से कुछ लेख गोष्ठियों में पढे गये हैं । इन में वैदिक काल से लेकर बीसवीं सदी के तत्त्व और तत्त्वज्ञों का विचार किया हैं इसलिए पुस्तक महत्त्वपूर्ण है । फिर भी बहुतसी मर्यादाएँ भी सामने आती हैं ।

पहले लेख का शीर्षक है 'अज्ञान मीमांसा' । इसमें बौद्ध, सांख्य और अद्वैत वेदान्तकी दृष्टि से अज्ञान शब्द और तत्त्व का विचार करने का प्रयास किया गया है । लेख के अंतिम परिच्छेद में पद्मपादाचार्य के मतानुसार अविद्या, माया, क्षर, आकाश आदि अविद्याकी संज्ञाएँ बतायी गयी हैं । यहाँ अविद्या, माया, क्षर, आदि के साथ आकाश कैसे जुड गया इसके बारे में चतुर्वेदीजी ने कुछ विश्लेषण नहीं दिया है । उन्हें यह मत मान्य है या नहीं इस के बारे में भी कुछ लिखा नहीं है । यदि इस तरह का कुछ विचार प्रस्तुत किया होता तो अभ्यासकों की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण लेख हो सकता था ।

दूसरा लेख है ज्ञान-विवेचन जिसकी शुरुआत है 'ज्ञान की समस्या भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याओं में से एक है', (पृ.१० पंक्ति-१) भारतीय दर्शन कभी किसी विषय की ओर समस्या की दृष्टि से नहीं देखता बल्कि उसे एक तत्त्व समझता है। लेकिन पाश्चात्य दार्शनिक हमेशा समस्याओं के रूप में देखते हैं। इसलिए यह प्रारंभ खास करके पाश्चात्य विचार के प्रभाव से किया हुआ लगता है। ज्ञान के बारे में सोचते समय जैन, बौद्ध, चार्वाक ये अवैदिक दर्शन और न्याय-वैशेषिक, भाट्ट और कुमारिल, मीमांसक, सांख्य योग, अद्वैत वेदान्त और विशिष्टाद्वैत ये वैदिक दर्शन इन सब के अनुसार ज्ञान की कल्पना क्या है यह प्रदर्शित किया है। इस में सांख्य-योग का मत अच्छी तरह से प्रस्तुत किया गया है। अद्वैत वेदान्त के बारे में डॉ. चतुर्वेदी ने कहा है कि वास्तव में अद्वैत वेदान्त में व्यावहारिक तथा पारमार्थिक सत्ता में कोई तालमेल नहीं बैठ पाया है। लेकिन इन संज्ञाओं में तालमेल का कोई सवाल ही पैदा नहीं होता। क्योंकि व्यावहारिक सत्ता कालिक है, तो पारमार्थिक कालातील है। इसलिए चतुर्वेदीजी को सचमुच क्या अभिप्रेत है यह समझ में नहीं आता। उनका यह विधान संदिग्ध ही रह जाता है।

'भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद' इस लेख में भी लेखिका ने न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, वेदान्त इन शास्त्रोंकी दृष्टि से प्रामाण्यवाद का विवेचन किया है। साथ साथ जैन और बौद्ध दर्शन के अनुसार प्रामाण्यवाद की संकल्पना क्या है यह भी स्पष्ट किया है। इस संपूर्ण किताब में यह सबसे बडा लेख है। इस लेख में प्रामाण्यवाद का ऐतिहासिक दृष्टिसे विधान किया गया है। फिर भी प्रामाण्यवाद के विषय में लेखिका का खुद का अभिप्राय क्या है यह आकांक्षा रहती है।

'औपनिषद् परंपरा में योग' और 'मैत्रायणी उपनिषद् में योग' ये दोनों योगाधिष्ठित विषयपर लिखे हुए लेख हैं। उनमें कई पारिभाषिक शब्दों की सूची दी गयी है। लेकिन उनका कुछ स्पष्टीकरण या आधुनिक काल में योग का स्थान, उसका परंपरा से संबंध इस के बारे में कुछ प्रकाश नहीं डाला गया है। २१ योगोपनिषदों के नाम दिये हैं। असल में इन उपनिषदों को योग उपनिषद् में उन्नीसवीं शती में अडयार लायब्ररीने समाविष्ट किया है।

'विशिष्टाद्वैत दर्शन में आराधना का स्वरूप' इस लेख में भक्ति के साथ उपचारों का विवेचन किया है। आराधना के संदर्भ में अधिवामन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय तथा योग इन उपचारोंका स्पष्टीकरण किया है। (पृ. १०१- परि ३, पृ. १०२- परि.१)। पृ. १०३ परि ४ में दूसरी पंक्ती है 'प्रपत्ति ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण है'। यहाँ टिप्पणी क्र.१ लिखा है। पृष्ठ १०६ पर जो संस्कृत टिप्पणी दी है उसका

अर्थ बिलकुल अलग है। तो वह टिप्पणी यहाँ देने का तात्पर्य ध्यानमें नहीं आता। बीसवीं शती के महान् तत्त्वज्ञ श्री अरविंद पर 'अखण्ड अद्वैतवादी महर्षि श्री अरविन्द' और 'श्री अरविंद का अतिमानव' ये दो लेख हैं। दोनों में अधिकांश श्रीअरविंद के ही 'लाइफ डिवाइन' का अनुवादसा लगता है। दोनो में एक भी टिप्पणी नहीं है। दूसरे लेख में चार पंक्तियाँ उद्धृत की हैं और नीचे 'रशिमरथी' (पृ. ११६) ऐसा लिखा है। परन्तु यह कौनसा ग्रंथ है, क्या है इसकी बारे में कुछ नहीं है।

अगला लेख है 'राधाकृष्णन् की दृष्टि में धर्म की अवधारणा'। हिंदी के अनुसार 'दृष्टि में' और 'धर्म' इस के बीच कोलन (:) की आवश्यकता नहीं है। फिर से यह पाश्चात्य दृष्टि का लेखन हुआ। शीर्षक के अनुरोध से सिर्फ राधाकृष्णन् की राय उपस्थित की है।

देवात्म दर्शन में आत्मा का स्वरूप' यह शीर्षक है अगले लेख का। देवात्म दर्शन शांकर या रामानुज दर्शनों जैसा प्रसिद्ध दर्शन नहीं है। फिर भी कुछ पूर्वपीठिका न देते हुए विषय की रचना की गयी है। जिस से कई सवाल अनुत्तरित रह जाते हैं। जैसे कि पृ. १२९ परि ३ में लिखा है कि मनुष्य की आत्मा अमर नहीं है। तो क्या ये चार्वाक के जडवाद के समीप जाता है या उस का कुछ और स्पष्टिकरण है? इत्यादि।

'दुःख का दार्शनिक विवेचन' यह लेख महत्त्वपूर्ण लगता है। उस में जैन-बौद्ध इन नास्तिक दर्शनों के सहित वेदान्त के केवलाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैत इन विभिन्न संप्रदायों के विचार प्रस्तुत किये हैं। दुःख के विवेचन के साथ डॉ. चतुर्वेदी ने दुःखमुक्ति के उपाय भी बताए हैं जो महत्त्वपूर्ण हैं।

'समाधिकरण : परम्परा और औचित्य' यह और एक महत्त्वपूर्ण विषय जो आज-कल 'इच्छामरण' और दयामरण के नामसे जाना जाता है। इसके संदर्भ स्पष्टीकरण करने का अच्छा प्रयास किया है।

'स्थितप्रज्ञ की अवधारणा और विनोबा भावे' इस लेख में भगवद्गीता के दूसरे अध्याय में आयी स्थितप्रज्ञ की संकल्पना विनोबाजी ने कैसे स्पष्ट की है इसका उचित विवेचन किया है।

'ईश्वर और मानव' इस लेख में ये दो तत्त्व एक-दूसरे से कैसे संबंधित हैं इसका विवेचन किया है। सब लेखन रूखासा लगता है। ये दो सिर्फ तत्त्व हैं, असल में एक-दूसरे में कितने घुल-मिल गये हैं यह ठीक तरह से प्रस्तुत नहीं हुआ है। लेख की समाप्ति अचानक हुई है, ऐसा महसूस होता है।

'भारतीय धर्म और दर्शन में ईश्वर-विचार' लेख में ईश्वर के बजाय धर्म, धर्म की संकल्पना, दर्शन, आस्तिक दर्शन नास्तिक दर्शन इसके बारे में ज्यादा सोच विचार पाया जाता है ।

'प्राचीन भारतीय मूल्य परंपरा : एक सर्वेक्षण' यह सचमुच उपसंहारात्मक लेख है । इस में धर्म के विषय में कुछ विचार मिलते हैं । शीर्षक और प्रस्तुत विचारों में से 'मूल्य परंपरा' याने निश्चित रूप से क्या अभिप्रेत है यह समझ में नहीं आता ।

लेखों के अंतरंग के बारे में यह सब कहने के बाद बहिरंग के बारे में कुछ कहा जाए तो अप्रस्तुत नहीं होगा । छपाई की दृष्टि से बहुत दुर्लक्ष हुआ है । पृ. ३ पर अंतिम पंक्ति में अविद्या के स्पष्टीकरण में 'सुख' शब्द के बजाय 'दु:ख' शब्द छपा है जो बिलकुल विपरित अर्थ देता है । और संस्कृत टिप्पणी में 'सुख' शब्द ही है । संस्कृत उद्धरणों में भी बहुत से उद्धरण दूषित हैं जैसे कि पृ. २ टिप्पणी ३ द्वा सुपर्णा .... स्वाद्वत्यनशमन्नन्यो.... वास्तविक शब्द है स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो । संस्कृत टिप्पणियों के संदर्भ में कई जगह संस्कृत उद्धरण न देते हुए सिर्फ ग्रंथ का नाम और अन्य संदर्भ दिया है । (पृ. १ टिप्पणी - ३, पृ. २ टिप्पणी - १, पृ. ३ टिप्पणी इत्यादि) । अन्यत्र संस्कृत उद्धरण के साथ ग्रांथिक संदर्भ (ग्रंथ का नाम, अन्य संदर्भ क्रमांक इत्यादि) दिया है (पृ. ७. टिप्पणी १, पृ. ८ टिप्पणी १ इत्यादि) । ऐसा करने में लेखिका का क्या खयाल है कुछ समझ में नहीं आता । भिन्न भिन्न विषयों पर लिखे गये इन लेखों में जो संस्कृत टिप्पणियाँ दी गयी हैं उन मूल ग्रंथों की सूची नहीं दी है । कहीं पंक्तियाँ पुनरुक्त हुईं हैं जैसे कि पृ. २६ पंक्तियाँ १३-१४ तक, पृ. १५१ परि. ४ पंक्तियाँ ४-५ ।

'ईश्वर और मानव' और 'भारतीय धर्म और दर्शन में ईश्वर-विचार' ये दो लेख ही उचित प्रस्तावनासे शुरू होते हैं । बाकी सब लेखों को कुछ भी प्रस्तावना न दे कर लेखिका एकदम विषयपर झपक पडती है ।

भारतीय दर्शन की परंपरा विश्व में सबसे प्राचीन है । इस परंपरा में विभिन्न मत,तत्त्व धारण करनेवालें दर्शन एकसाथ ही विकसित हुए । इन सभी दार्शनिक परंपराओंने एक विशेष शैली को अपनाया - पहले पूर्वपक्ष-परमतों का सुचारु रूप से प्रतिपादन कर उसका खंडन करना और फिर उत्तर पक्ष - सिद्धान्त पक्ष-स्वमत का प्रतिपादन कर के उसका मंडन करना । इस किताब में विषय वैविध्यता तथा उन विषयों पर विभिन्न दर्शन तथा दार्शनिकों मत प्रतिपादन की दृष्टिसे भारतीय दार्शनिक

परंपराके आयाम हमारे सामने आते हैं । लेकिन खंडन-मंडनात्मक शैली का विशेषत' परमत खंडन और स्वमत प्रतिपादन इसका दर्शन इस किताब में नहीं होता। प्राय: सभी लेख वर्णनात्मक हैं । यह सब होते हुए भी इन लेखों के माध्यम से इतने भिन्न विषयोंपर की सब जानकारी एक जगह मिलती है इसलिए लेखिका निश्चिता ही अभिनंदन की पात्र है ।

सर परशुरामभाऊ महाविद्यालय, हेमा मोरे
पुणे - ४११०३०

-३-

मेहता, मोहनलाल (डॉ.), जैन धर्म-दर्शन : एक समीक्षात्मक परिचय, सेठ-मूथा छगनमल मेमोरियल फौंडेशन, बेंगलोर, १९९२, पृ.१४ + ६४२, मूल्य रु.२००/-

जैन-दर्शन भारतीय संस्कृति की एक महत्त्वपूर्ण एवं प्रबल धारा रही है। इस की प्राचीनता वेदकालीन या वेदपूर्व भी स्थापित करने की कोशिश कुछ संशोधकोंने की है । आज भी इस दर्शन एवं जीवनप्रणाली के प्रति समर्पित जीवन व्यतीत करनेवाले बहुत सारे लोग हमारे देश में है । इस दर्शनपरंपरा की बहुत बडी देन है । इस विषय पर काफी ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं । उन्हीं में एक है प्रस्तुत ग्रंथ जो अपनी एक विशेषता बनाए हुए है ।

प्रस्तुत ग्रंथ लेखक के चालीस साल पूर्व प्रकाशित ग्रंथ की संशोधित एवं संवर्धित तृतीय आवृत्ति कही जा सकती है । ऐसी विशाल पृष्ठसंख्या में प्रकाशित इस ग्रंथ के सात अध्याय हैं । इसमें जैन-परंपरा के इतिहास से लेकर उस का साहित्य, तत्त्वविचार ज्ञानमीमांसा, न्यायशास्त्र, कर्मसिद्धान्त एवं आचारशास्त्र शास्त्र सभी विषय अत्यंत सरल स्पष्टरूप से विवेचित हैं । इसी के साथ ग्रंथ-सूची भी है जो अभ्यासकों के लिए उपयोगी है । अन्य परिशिष्टों में भी संबंधित विषयों का उपयुक्त विवरण दिया गया है ।

जैन, धर्म, संस्कृति एवं दर्शन में अनेक विषय हैं । करीबन उन सभी विषयों को प्रस्तुत ग्रंथ में स्पष्ट किया है । लेखक की शैली में न दुर्बोधता है न अकारण

शब्दव्यय है। जो बात जितनी कहने से स्पष्ट हो उस से अधिक लिखा नहीं है। इस ग्रंथ का मूल प्रयोजन जैन-परंपरा में निहित तत्त्वों का परिचय देना यह होने के कारण इस में विशेष युक्तिवाद, समर्थन आदि की आवश्यकता नहीं हैं। अतः विषयविन्यास एवं उस का आवश्यक स्पष्टीकरण देने तक ही विवरण मर्यादित है। इस तरह ग्रंथ के निर्माण के लिए लेखक अभिनंदनपात्र हैं और इस ग्रंथ से पाठकगण भी लाभान्वित होंगें यह बात निःसंशय है।

सुभाषचन्द्र भेलके
दर्शन विभाग
पुणे विद्यापीठ, पुणे ४११००७

परामर्श (हिंदी) प्रकाशन

आत्मस्वीकृति – *ले. प्रो. सुरेंद्र बारलिंगे*
अनु. प्रा. राजमल बोरा
सं. डॉ. सुभाषचंद्र भेलके

पृ. ८८ मूल्य रु. ६०।-

मनुष्य और समाज के गौरवशाली अस्तित्व की प्रस्थापना में दर्शन किस तरह अपनी भूमिका अदा कर सकता है ? दार्शनिक का भावविश्व एवं विचार-विश्व किस तरह का होता है ? दार्शनिक अपना जीवन किस तरह व्यतीत करता है ? इन प्रश्नों की खोज का समाधान दिलानेवाली यह पुस्तक अवश्य ही पाठकगण के लिए नयी दृष्टि प्रदान करेगी ।

नव्यन्याय के पारिभाषिक पदार्थ (प्रथम खंड)

ले. डॉ. बलिराम शुक्ल

पृ. २१० मूल्य : रु. १६०।-

नव्यन्याय के अध्ययन के लिए पारंपरिक शिक्षा की आवश्यकता है । लेकिन प्राथमिक स्तर पर तथा तौलनिक अभ्यासकों के लिए नव्यन्याय के पदार्थों का मौलिक परिचय होना जरूरी है । इस दृष्टि से यह पुस्तक पाठकों की सहायता करेगी ।

संपादकीय

सांप्रत काल में शिक्षा एवं संशोधन के क्षेत्र में कार्यरत अध्यापकों के लिए पत्रिका चलाना इस के पीछे एक दार्शनिक भूमिका है, जिस का संबंध हमारे समाज की उन्नति एवं स्वास्थ्य से है । उस भूमिका को निभाने के लिए स्व. प्रो. सुरेन्द्र बारलिंगे जी ने यह पत्रिका शुरु की और काफी बर्षो तक वे इसे चलाते रहे । पत्रिका को चलाते हुए दो दशकों से अधिक अवधि बीत चुका है । इस में हमारी कार्यप्रणाली को चलाने के पीछे भी एक दार्शनिक दृष्टि एवं नैतिक मूल्यनिष्ठा कायम रही है । पत्रिका को चलाने में एक अंश है उस के सभी घटकों का आयोजन एवं संचालन जो हम करते आये हैं । लेकिन यह पत्रिका केवल हमारी नहीं बल्कि हम सभी लोगों की रही है जों इस को खरीदते हैं, जो इस में अपने लेख प्रकाशित करते हैं और जो इन लेखों को पढते हैं । इस कार्य को चलाने के लिए जिस धनराशि की जरुरत है उस में से बहुत बडा अंश हमारे सदस्यों ने अपने जिम्मे उठाया है – आजीवन एवं वार्षिक सदस्यता शुल्क नियमित रूप से देकर । हमारी कोशिश हमेशा यही रही है कि इस में हम कम से कम शुल्क रखें । हमारी अस्थिर अर्थव्यवस्था के कारण हमें इन दशकों में अपने शुल्कों में वृद्धि भी करनी पडी है और उसे और गंभीर रूप से लेने की जरुरत महसूस हो रही है जिस के बारे में हम कम से कम भार अपने सदस्य-पाठकों को वहन कराने की कोशिश में है ।

यह पत्रिका हमारा विभाग चलाता है और वह हमारे विश्वविद्यालय की पत्रिका की हैसियत से चलाता आ रहा है । इस विश्वविद्यालय की अपनी एक व्यवस्था है जिस से हम नियंत्रित होकर यह पत्रिका चलाते हैं । आजकल व्यवस्थाओं के रूख, नीति-नियम, भूमिकाएँ, एवं उद्दिष्ट इन में नयापन भी आने लगा है जो उचित एवं क्रमप्राप्त भी है । लेकिन इस में मुनाफा प्राप्त करने की एक दृष्टि भी दिखाई दे रही है । निष्ठा की जगह व्यावसायिकता ले रही है । हमें इस परिवर्तन का विरोध नहीं करना है क्यों कि हमें अग्रेसर होते रहना है । आधुनिक युग की व्यावसायिकता के मूल्य और परंपरागत आयी निष्ठा के मूल्य इन में मेल नहीं बैठता है । विश्वविद्यालयीन् व्यवस्था अब हावी होती जा रही है । उस के कारण हम पत्रिका चलाने के लिए

प्राप्त किये शुल्क में से पंधरह प्रतिशत राशी विश्वविद्यालयीन व्यवस्था को देने के लिए मजबूर हो गये हैं। और आजीवन सदस्यता शुल्क से जो स्थायी-निधी निर्माण किया जाता है उस के सूद का बीस प्रतिशत भी उसी में मिलाया जाएगा। इस तरह हमें अब करीब पैंतीस प्रतिशत राशी कम प्राप्त होगी। पिछले दो दशकों में इस बात की जरुरत नहीं पडी थी। लेकीन अर्थव्यवहार की लाठी व्यवस्था के हाथों होने के कारण भैंस भी व्यवस्था की हो गयी है जिसे व्यवस्था अपनी मर्जी से दुहने जाने की संभावना नकारी नहीं जा सकती। इस असलीयत का एक परिणाम यह है कि पत्रिका के प्रकाशनार्थ हमारे हाथों अब कम राशी आएगी और पत्रिका की पृष्ठसंख्या घटाने के लिए हमें विवश होना पडेगा। आप के पैसों से चली इस प्रवृत्ति के बारे में आप लोगों को जानकारी होना हम जरुरी समझते हैं। अत: इन बातों को आप के सामने हमने संक्षेप में प्रस्तुत किया है। शायद यह परिवर्तन का कालखंड भी हो सकता है। लेकिन इन मुश्किलातों को हमें सब मिलकर झेलना है और अपनी पत्रिका चलानी है। इन मुश्किलातों से सामना करने के लिए आपके सहयोग के बिना हमें और कोई संबल नहीं है। और हमें केवल आशा ही नहीं बल्कि पूरा विश्वास है कि हमेशा की तरह हमें आप का सहयोग मिलता रहेगा और हम सब मिलकर इस कार्य को आगे चलने में सफल हो पाएँगे। आप के विधायक सुझावों का हार्दिक स्वागत रहेगा।

सुभाषचंद्र भेलके

सृष्टि-चिन्तन और वैदिक वाङ्मय

'सृष्टि' सर्वदा से मानवीय-जिज्ञासा का प्रमुख प्रश्न रहा है। सामान्य जन के लिए यह ईश्वरीय-लीला है वही दार्शनिकों के लिए यह चिरंतन एवं सनातन प्रश्न है तो वैज्ञानिकों के लिए एक रहस्यमयी निरंतर गतिशील प्रक्रिया। सभीकी अपनी दृष्टि है और सबके समाधान का अपना मार्ग भी। यही कारण है कि सृष्टिविद्या प्राचीन कल्पना होने के साथ-साथ सदैव नवीन बनी रहती है। वैदिक वाङ्मय अपनी सहजता, रहस्यात्मकता एवं समस्या-समाधान के रूप में अग्रगंण्य मानी जाती रही है। वैदिक वाङ्मय विविध रूपों में विश्व-साहित्यिक मंच पर पुरोधा बनकर मानव-जिज्ञासा के असंख्य रहस्यों को खोलती रही है। सृष्टि-विद्या के संबंध में भी इनके अपने विचार हैं जिनका शैक्षिक जगत् में तो महत्त्व है ही सामान्य जन के लिए भी कम उपयोगिता नहीं है।

सृष्टि : 'मूलकारण' अथवा 'प्रथमकारण'

'सृष्टि' और 'ब्रह्माण्ड' दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। क्योंकि सृष्टि के साथ ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्ड के साथ सृष्टि अविनाभाव रूप से जुडा हुआ है। सामान्य रूप से जब सृष्टि का प्रसंग उठता है तो ब्रह्माण्ड एवं ब्रह्माण्ड में पायी जाने वाली समस्त चेतन अचेतन वस्तुओं की उत्पत्ति एवं उनके मूलकारण अथवा प्रथमकारण की भी समस्या जन्म ले लेती है। इस ऊहापोह का समाधान एक समस्या रही है, परंतु प्रयत्न किया गया है। परिणामस्वरूप — ब्रह्म, परब्रह्म, प्रजापति, आत्मा, ईश्वर जैसी विविध अवधारणाओं का आविर्भाव हुआ और इन्हें ही सृष्टि का प्रथम अथवा मूलकारण माना गया।

ऋग्वेद, वैदिक-वाङ्मय एवं विश्व के प्राचीनतम ग्रंथ में जगत् की सृष्टि का मूलकारण विराट-पुरुष को माना गया।[१] संहिता ने इस हेतु प्रजापति को मूलकारण स्वीकार किया।[२] ब्राह्मण-साहित्य में भी प्रजापति को ही ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति का प्रथम कारण माना गया है।[३] उपनिषद् ने आत्मा (पुरुष) को प्रथमकारण माना है।[४] वही स्मृतिसाहित्य में कहीं ब्रह्मा[५] को तो कहीं परमात्मा[६] को जगत् -सृष्टि का मूलकारण माना गया है। इन विविध ग्रंथों में मूलकारण के संबंध में जो भिन्नता

दृष्टिगोचर हो रही है वह कोई विवाद का विषय नहीं है । क्योंकि वेद का विराट-पुरुष, संहिता-ब्राह्मण का प्रजापति, उपनिषद् का आत्मा तथा स्मृति विवेचित परमात्मा वस्तुतः भिन्न शब्द होते हुए भी कमोवेश समान अवधारणाएँ ही हैं । इस कथन की सत्यता वैदिक-वाङ्मय के अनुशीलन से सिद्ध हो जाती है, परंतु यहाँ यह स्वीकार करना पडता है कि इन विविधताओं का कारण भी रहा जिनका अपना अलग महत्त्व है ।

'सृष्टि' एक दार्शनिक प्रश्न है अतः सृष्टि का मूलकारण भी दार्शनिक विवेचना की अपेक्षा रखता है और दार्शनिकों ने इस दिशा में पर्याप्त चिंतन भी किया है। दार्शनिक युग में सृष्टि संबंधी मान्यताओं में काफी परिवर्तन हुआ और इसका कारण दार्शनिक चिन्तन रहा । इस युग में ब्रह्म, ईश्वर, आत्मा,परमात्मा के साथ-साथ भौतिक तत्त्वों पर भी चिन्तन प्रारंभ हुआ । इन्हें भी ब्रह्माण्ड-उत्पत्ति का कारण माना जाने लगा । क्योंकि जगत् में चेतन-अचेतन दोनों ही प्रकार की वस्तुएँ थीं और इनकी व्याख्या मात्र अभौतिक तत्त्वों के आधार पर कर पाना संभव नहीं था । अतः दार्शनिक युग में जहाँ अलौकिक एवं अभौतिक तत्त्वों की व्याख्या- ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा के रूप में होने लगी वहीं भौतिक वस्तुओं के लिए अणु-परमाणु का सिद्धांत बहुप्रचारित हुआ । चार्वाकादि जैसे कुछ दार्शनिक संप्रदाय ने तो जगत् की सृष्टि का मूलकारण इन्हीं भौतिक परमाणुओं को मान लिया । लेकिन इस संबंध में भी मतवैभिन्य रहा ।

महर्षि कणाद, जिनका संबंध वैशेषिक दर्शन से रहा है, की स्पष्ट मान्यता थी कि विश्व परमाणुओं का पुञ्ज है ।[७] सांख्य मतानुसार सृष्टि का प्रारंभ प्रकृति (अचेतन) और पुरुष (चेतन) के संयोग से होता है, परंतु जगत् की उत्पत्ति का मूलकारण अचेतन भौतिक प्रकृति है ।[८] मीमांसकों ने सर्वदा विद्यमान जगत् की व्याख्या परमाणुवाद के आधारपर ही की है ।[९] आचार्य शंकर द्वारा प्रस्तुत पंचीकरण का सिद्धांत सृष्टि-संबंधी दार्शनिक अवधारणा का अनूठा उदाहरण है । पंचीकरण के इस सिद्धांत में परमाणुवादी मत का खुलकर प्रयोग हुआ है ।[१०] यद्यपि शंकर मूलकारण के रूप में ब्रह्म की ही एकमात्र सत्ता मानते हैं, लेकिन इसकी व्याख्या में परमाणुवादी अवधारणा की भी सहायता लेते हैं । जैन दार्शनिकों ने यद्यपि षड्द्रव्यों - जीव (चेतन), पुद्गल (जडद्रव्य), धर्म, अधर्म, काल और आकाश को सृष्टि के लिए उत्तरदायी माना है परन्तु जगत् को उत्पन्न करने के लिए परमाणु को ही मूलकारण के रूप में स्वीकृत किया है ।[११] चार्वाक द्वारा प्रस्तुत भौतिकवाद की

मान्यता सृष्टि के मौलिक कारण के रूप में परमाणुवाद की स्पष्ट स्वीकारोक्ति है।[१२]

सृष्टि के प्रथम कारण अथवा मौलिक कारण के रूप में प्रतिष्ठापित परमाणुवादी विचारधारा पर वैज्ञानिकों ने पर्याप्त ऊहापोह किया। उनके मतानुसार जंगत् की समस्त वस्तुएँ परमाणुओं से निर्मित हैं। परमाणु ही मूलभूत कण है।[१३] बहुत काल तक यही मान्यता प्रचलित रही, लेकिन विज्ञान जगत् में इस दिशा में हो रहे निरंतर प्रयोगों ने आश्चर्यजनक तथ्य प्रकाश में लाए। 'परमाणु विखंडित नहीं हो सकता'— यही सबसे अंतिम, अविभाज्य मौलिक कण है'— जैसी मान्यताएँ पूर्णतया निरस्त की जा चुकी हैं। आज अखंडित परमाणु कितने ही खण्डों में विदीर्ण किया जा चुका है।[१४] अतः आज परमाणु सृष्टि का प्रथम कारण नहीं रह गया है, परंतु परमाणु का ही भाग मूलकण अभी बना हुआ है। सिद्धांत रूप में आज भी वैज्ञानिक सृष्टि की व्याख्या करने हेतु मौलिक-कारण अथवा प्रथमकारण के रूप में किसी न किसी रूप में परमाणुवादी मत को अनिवार्य रूप से अपनाता है।

वेद और सृष्टि

वैदिक वाङ्मय में वेद अग्रगण्य हैं। इनकी संख्या ४ है— ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, और अथर्ववेद। भारतीय चिन्तन के सभी क्षेत्रों में इन चतुर्वेदों का प्रभाव किसी न किसी रूप में अवश्य परिलक्षित होता है। सृष्टि-संबंधी समस्या के निराकरण में वेदों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। विद्वानों के मतानुसार ऋग्वेद में वर्णित पुरुषसूक्त के मंत्र सृष्टिविद्या पर प्रकाश डालने वाले सबसे प्राचीनतम और महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ हैं। इन मंत्रों के माध्यम से हम वेदों में उल्लिखित सृष्टि संबंधी अवधारणा से अवगत हो सकते हैं। यहाँ यह परिकल्पना प्रस्तुत की गई है — सहस्र शिरों-नेत्रों-पैरोंवाले पुरुष से विराट् उत्पन्न हुआ और इस विराट् से हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति हुई। इसे देवों ने प्रतीकात्मक यज्ञ के रूप में हवि दी, जिसमें बसन्त, ग्रीष्म, शरद इन तीन ऋतुओं को क्रम से घृत, इंधन एवं हवि माना गया। इसे आदियज्ञ कहा गया और इससे सभी पशु (घोडे, गायं आदि), चारों वर्ण, सूर्य,चन्द्र, अग्नि, इन्द्र, वेद, स्वर्ग एवं पृथ्वी की उत्पत्ति हुई।[१५]

सृष्टि-विषयक समस्त पक्षों को ऋग्वेद के इस मंडल में आत्मसात् करने का प्रयत्न हुआ है। सृष्टिरूपी जगत् की क्रियाशीलता ऋतुओं के रूप में परिणत होती है। ऋतुएँ ही जगत् की परिवर्तनशीलता और क्रियाशीलता का परिबोधन कराती हैं। मनुष्य के रूप में चार वर्णों की स्थिति बनती है। मनुष्य पृथ्वी पर रहता है। इसी पृथ्वी पर उसके साथ-साथ अन्य सभी प्रकार के जीव-जन्तु पलते हैं विकसित होते

हैं । सूर्य, चन्द्रमा आदि नक्षत्र देव हैं जो अंतरिक्ष अथवा आकाश में स्थित होते हैं। इन सबका उल्लेख ऋग्वेद में यथाक्रम एवं यथाप्रसंग हुआ है । देवों के रूप में विशिष्ट प्रकार की शक्तियों का भी विवरण प्रस्तुत किया गया है । उन सब रूपों में वेदों में वर्णित सृष्टि संबंधी अवधारणा को समझने का प्रयत्न किया जा सकता है। यह वैज्ञानिक होने के साथ-साथ जगत् की विशिष्टताओं से मनुष्य को परिचित कराने का एक धार्मिक उपक्रम भी हो सकता है ।

संहिता और सृष्टि

संहिताओं में तैत्तिरीय संहिता का महत्त्वपूर्ण स्थान है । सृष्टि संबंधी अवधारणा को इसमें अत्यंत संक्षिप्त परंतु सारगर्भित रूप में प्रस्तुत किया गया है । यद्यपि यहाँ यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि पृथ्वी और आकाश की भिन्नता किस रूप में परिलक्षित है, परंतु सृष्टि-प्रक्रिया का प्रकरण इस दिशा में पर्याप्त प्रकाश डालता है। इसके अनुसार - प्रारंभ में सिर्फ जल ही जल था, समुद्र था और प्रजापति वायु बनकर कमलदल पर क्षिप्रगति से तैर रहे थे । बहुत काल तक वे इसी दशा में विचरण करते रहे, जलविहार में निमग्न रहे । उनके मन में प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा बलवती हुई । इसे फलदायी बनाने के लिए वे तप करना प्रारम्भ किए। तत्पश्चात् उन्होंने देवों, असुरों, मनुष्यों एवं पशुओं की रचना की ।[१६]

ब्राह्मण और सृष्टि

शतपथ ब्राह्मण में सृष्टि-संबंधी मान्यता का विवेचन इस प्रकार किया गया है — आरम्भ में असत् था । यही प्राणवायु (ऋषि) था । इसी ऋषि द्वारा जब यह कामना की गई तब ब्रह्म एवं तीन विद्याओं (तीनों वेद) की उत्पत्ति हुई । वे प्रजापति कहलाए तथा उन्होंने वाक् (जो विश्व है) से जल उत्पन्न किया और वे तीनों वेदों के साथ जल में प्रविष्ट हो गए और तब उनमें से हिरण्यगर्भ निकला । उन्होंने इसका स्पर्श किया तब उससे पृथ्वी उत्पन्न हुई ।[१७] पुन: इसी ग्रंथ में यह कहा गया है कि जब ऋषि (जल) द्वारा यह कामना की गई कि हमें संतति की प्राप्ति हो तब हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ । वह हिरण्यगर्भ जल पर तैरता रहा तब एक पुरुष प्रजापति उत्पन्न हुए । उन्होंने उस हिरण्यगर्भ रूपी महाकाण्ड का विच्छेदन किया तथा देव, अग्नि आदि की सृष्टि की ।[१८]

तैत्तिरीय-ब्राह्मण में ब्रह्माण्ड की सृष्टि के संबंध में कहा गया है — आरम्भ में यह विश्व तथा कुछ भी नहीं था । न स्वर्ग था, न पृथ्वी और न अन्तरिक्ष । असत् (प्रजापति) ने मन में यह विचार किया कि 'मैं ऐसा हो जाऊँ' । उनके इस तरह

विचार करने से विश्व की उत्पत्ति हुई।[१९] कौषीतकि-ब्राह्मण में लिखा है[२०] - प्रजापति ने सन्तति की कामना से तप किया। वे जब तपस्या कर रहे थे तब अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्र एवं उषा की उत्पत्ति हुई। प्रजापति ने पुनः तप करना प्रारम्भ किया और प्राण से यह विश्व (पृथ्वी), अपान से अंतरिक्ष तथा व्यान से स्वर्ग लोक बनाया। इसके बाद उन्होंने पृथिवी, अंतरिक्ष एवं स्वर्ग के क्रम से अग्नि, वायु एवं आदित्य की रचना की। उन्होंने अग्नि से ऋग्वेद की ऋचाएँ, वायु से यजुर्वेद के वचन तथा आदित्य से सामवेद के मंत्र उत्पन्न किए। बाद में प्रजापति ने यज्ञ को उत्पन्न किया जिससे सभी प्रकार की इच्छित वस्तुओं की सृष्टि हुई।.

ब्राह्मण-साहित्य में सृष्टि का एक क्रम निर्धारित किया गया है। यहाँ सृष्टि का प्रारम्भ जल तत्त्व में माना गया है। पृथ्वी, अंतरिक्ष एवं स्वर्ग के अंतर को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न हुआ है। प्राणवायु के तीन रूप- प्राण, अपान, व्यान का उल्लेख तथा इनके आधारपर क्रमशः पृथ्वी, अंतरिक्ष एवं स्वर्गलोक के निर्माण की बात कहकर वायु तत्त्व को प्रधानता प्रदान की गई है। वेदों की सृष्टि तथा इच्छित वस्तुओं के सृष्टि का प्रसंग सृष्टि संबंधी विभिन्न प्रकार की जटिल समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता है।

आरण्यक और सृष्टि

आरण्यक-साहित्य में सृष्टि का प्रारम्भ प्रजापति द्वारा मान्य किया गया है। इस संबंध में ऐतरेय-आरण्यक में सृष्टि विषयक विचारों का अवलोकन अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। इस ग्रंथ के मतानुसार— सर्वप्रथम प्रजापति से देवताओं को उद्भूत माना गया। तत्पश्चात् सृष्टि का क्रम इस प्रकार निर्धारित हुआ— देवताओं का रेत वर्षा, का रेत औषधि, औषधि का रेत अन्न, अन्न का रेत रेत, रेत का रेत प्रजा, प्रजा का रेत हृदय, हृदय का रेत मन, मन का रेत वाणी, वाणी का रेत कर्म और पुरुष द्वारा किया गया कर्म ब्रह्मलोक है।[२१]

ऐतरेय-आरण्यक में सृष्टि का एक क्रम रखा गया है जो देव-सृष्टि से प्रारम्भ होकर पुरुष-सृष्टि पर ठहरता है। देवसृष्टि और पुरुषसृष्टि के बीच जो अन्य विविध प्रकार की रचनाओं का सृजन होता है वह रहस्यात्मक होने के साथ-साथ व्यावहारिक भी प्रतीत होता है। वर्षा-औषधि-अन्न-रेत-प्रजा-हृदय-मन-वाणी- कर्म-पुरुष-लोक (ब्रह्म) सचमुच सृष्टि का यह कर्म अंतर्ज्ञानयुक्त एवं सत्द्रष्ट ऋषि की दृष्टि की एक चित्रमय झाँकी है। यह एक दैवी सत्ता की ओजस्विता को स्वीकार करता है, दूसरी तरफ पुरुष की कर्मनिष्ठा को महत्ता प्रदान करता है। ब्रह्मलोक की प्राप्ति

मनुष्य के कर्मफल का परिणाम है । क्योंकि फल कर्म की गतिशीलता पर निर्भर करता है । यह गतिशीलता कर्म की प्रकृति एवं पुरुष की मानसिक-वाचिक और शारीरिक शक्ति पर भी निर्भर करता है ।

उपनिषद् और सृष्टि

वैदिक वाङ्मय में उपनिषद की गणना आत्मविद्या के प्रतिष्ठापक ग्रंथ के रूप में की जाती है । प्रायः उपनिषदों में आत्मा को ही इंगित करके विविध प्रसंगों को व्याख्यायित करने का प्रयत्न हुआ है । आत्मविद्या को केन्द्रबिन्दु मान लेने के कारण उपनिषदों में विविध प्रकार की समस्याओं का समाधान अत्यंत दार्शनिक रूप में किया गया है । यही दार्शनिक-शैली उपनिषदों की अपनी विशेषता है जो उन्हें वैदिक वाङ्मय में अलौकिक स्थान प्रदान करती है । सृष्टि संबंधी मान्यता के गर्भ में दर्शन के अनेक रहस्य छिपे हुए हैं । वैदिक ऋषियों ने अपने अनुभूत ज्ञान के आधार पर इन्हें प्रस्तुत किया है जो अत्यंत सारगर्भित है ।

बृहदारण्यक-उपनिषद् में सृष्टि संबंधी सिद्धांत का प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है[२२] — आरम्भ में पुरुष के रूप में केवल यही आत्मा था । वह अकेला था। अकेले होने के कारण उसे मन नहीं लग रहा था । उसे आनन्द नहीं मिल रहा था। आनन्द प्राप्ति के लिए उसे किसी अन्य साथी की आवश्यकता हो रही थी । इस अपेक्षा पूर्ति हेतु उसने कामना की । उसकी कामना के प्रतिफल के रूप में वह आलिंगनबद्ध एक पुरुष एवं नारी के रूप को प्राप्त किया । उसने इसी आत्मा को दो भागों में अलग-अलग हो जाने दिया जो पति एवं पत्नी बन गए । इनके मिलन से मनुष्य की उत्पत्ति हुई और उस पुरुष ने विश्व में पाए जाने वाले सभी प्रकार के छोटे-बडे जीवों को उत्पन्न किया ।

मात्र जीव-उत्पत्ति के सिद्धांत प्रस्तुत कर देने से ही सृष्टि-संबंधी विचारधारा की व्याख्या नहीं हो पाती । सृष्टि के अंतर्गत स्वर्ग, पृथ्वी, वायुमंडल तथा इसी तरह के अन्यान्य विषय समाहित किए गए हैं । इनकी उत्पत्ति कैसे हुई, किसने इनकी रचना की तथा यह किन-किन वस्तुओं/तत्त्वों से मिलकर बना है ये सारे प्रश्न अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं । ऐसे ही प्रश्नों का समाधान ऐतरेय उपनिषद् में इस प्रकार से किया गया है[२३] — प्रारम्भ में यहाँ पर केवल आत्मा थी । कोई ऐसा नहीं था जो गतिशील हो । उसने विचारा '' मैं लोकों की सृष्टि करूँगा'' । उसने लोकों की रचना की और स्वर्ग (अम्भ), किरणें, वायुमण्डलीय क्षेत्र, मृत्यु, जल को निर्मित किया ।

स्मृति और सृष्टि

धार्मिक, सामाजिक एवं नैतिक मान्यताओं का दिग्दर्शन करानेवाले स्मृति ग्रंथों में सृष्टि सिद्धांत का विवेचन बडे ही अच्छे ढंग से किया गया है । मनुस्मृति के अनुसार सृष्टि विचार का प्रारम्भ ब्रह्मा से माना गया तथा महाअण्ड-विस्फोट को ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति से जोडा गया ।[२४] इस ग्रन्थ के अनुसार सृष्टि का क्रम इस प्रकार निर्धारित है[२५] — ब्रह्मा ने अपने शरीर को दो भागों में विभाजित किया - एक पुरुष के रूप में और दूसरा नारी-रूप में । नारी के रूप में उन्होंने विराट् की सृष्टि की जिसनें तप किया और एक पुरुष उत्पन्न किया जो स्वयं मनु था । मनु ने सृष्टि की कामना से जीवों को उत्पन्न किया । सर्वप्रथम उन्होंने दस ऋषियों को प्रजापतियों के रूप में बनाया जिन्होंने ७ ऋषियों, देवो, देवों की कोटियों, महान् ऋषियों, यक्षों, राक्षसों, गन्धर्वों, अप्सराओं, कीटों, सर्पो, पक्षियों, पितरों, बिजली, मेघों, नक्षत्रों, मछलियों, गायों, बन्दरों, मनुष्यों, अचल पदार्थों की रचना की ।

याज्ञवल्क्य स्मृति में सृष्टि-प्रक्रिया का विवेचन इस प्रकार से किया गया है[२६] — सम्पूर्ण विश्व परमात्मा से प्रकट होता है । सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी की रचना करता है । इनमें आगे आने वाले प्रत्येक तत्त्व के गुणों का आधिक्य रहता है । जब परमात्मा जीबात्मा के रूप में प्रकट होना चाहता है तब शरीर ग्रहण करने के लिए इन तत्त्वों को एवं उनके गुणों को ग्रहण करता है। इसके बाद संतति परम्परा के रूप में भ्रूण, गर्भ आदि का उदय होता है और सृष्टि-प्रक्रिया चलती रहती है । याज्ञवल्क्य स्मृति में मनुस्मृति के समान सृष्टि प्रक्रिया का विवेचन नहीं किया गया है । परन्तु यहाँ भी सृष्टि का प्रारम्भ परमात्मा से माना गया है तथा सभी प्रकार के जीवों का उल्लेख न करके जीवात्मा एवं शरीर निर्माण की बात कही गई है । प्रत्येक जीवधारी जीवात्मा एवं शरीर से युक्त होता है। अतः याज्ञवल्क्य एवं मनुस्मृति में विवेचित सृष्टि संबंधी सिद्धांत की भिंन्नता से कोई गंभीर समस्या नहीं उत्पन्न होती ।

पुराण और सृष्टि

वैदिक वाङ्मय में पुराणों का अद्वितीय स्थान है । इनकी कुल संख्या १८ है। पुराणों के प्रतिपाद्य विषय पाँच है जिनमें सृष्टि प्रथम स्थान पर है । पुराणों के ५ प्रतिपाद्य विषय हैं — सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित । सृष्टि प्रक्रिया पर पौराणिक चिन्तन का प्रारम्भ भगवान् की कामना से उद्भूत माना गया है ।

पुराणों में कहा गया है कि सृष्टि की कामना से भगवान् ने सबसे पहले जल तत्त्व का निर्माण किया। उस जल में अपना वीर्याधान किया। उससे एक अण्डे की उत्पत्ति हुई। उस अण्डे में भगवान् स्वयं गर्भित हुए। उस भगवान् के गर्भ से उस अण्डे में सप्त द्वीप, सप्त सागर, लोक, पाताल आदि का निर्माण हुआ जो ब्रह्मान्ड के नाम से जाना गया।

पौराणिक सृष्टि संबंधी मत को हम वायुपुराण के आधार पर विवेचित करने का प्रयत्न कर रहे हैं। इस पुराण के अनुसार सृष्टि प्रक्रिया इस प्रकार से निरूपित होती है [२७] अव्यक्त कारण जो सदा सत् असत् रूप में रहता है, प्रकृति है। वही जगत् का मूल कारण है। दूसरा तत्त्व पुरुष है। इन दोनों का संयोग महान् (ब्रह्मा, ख्याति, ईश्वर, मन) द्वारा कराया जाता है और यह सृष्टि-प्रक्रिया का प्रारंभ कहलाता है। त्रिगुणात्मक प्रकृति साम्यावस्था में रहती है। लेकिन प्रकृति-पुरुष के संयोग से प्रकृति के गुणसाम्य में क्षोभ उत्पन्न होता है। इस गुणक्षोभ से महत् उत्पन्न होता है जो तीन गुणों (सत्त्व-रजस-तमस) से युक्त होता है। त्रिगुण में रजोगुण की अधिकता से अहंकार उत्पन्न होता है। तत्पश्चात तमोगुण के आधिक्य से युक्त भूत तन्मात्र की सृष्टि होती है। यह महाभूतों को उत्पन्न करता है। यह शब्द-आकाश, स्पर्श-वायु, रूप-तेज, स्वाद-जल एवं गंध-पृथ्वी आदि को उत्पन्न करता है। गुणों के परस्पर मिलने से अंडे की उत्पत्ति होती है जो हिरण्यगर्भ के नाम से जाना जाता है। इसी हिरण्यगर्भ से क्षेत्रज्ञ उत्पन्न होता है। इसी क्षेत्रज्ञ के अन्दर सम्पूर्ण जगत् के चमत्कार भरे-पडे हैं। सप्त-लोक, सप्त समुद्र, सप्तद्वीपा पृथिवी, चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, ग्रह आदि सभी कुछ क्षेत्रज्ञ में ही अंतर्निहित हैं। यही ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करता है। इस ब्रह्माण्ड में पाए जानेवाले समस्त चेतन-अचेतन तत्त्वों का निर्माण उसी क्षेत्रज्ञ से होता है।

उपर्युक्त ग्रन्थों के आधार पर वैदिक वाङ्मय की सृष्टि संबंधी मान्यता पर प्रकाश डाला गया और इस आधार पर यह कहा जा सकता है - सृष्टि एक प्रक्रियां है जिसमें क्रियाशीलता और गतिशीलता है। यह संकल्पशक्ति के द्वारा प्रारम्भ होता है जिसका आदि कारण अथवा प्रथम कारण है। यह आदि कारण ब्रह्म, प्रजापति, आत्मा आदि है जो प्रकृति तत्त्वों के बीच समन्वय करके सृष्टि-प्रक्रिया को प्रारम्भ करता है। सृष्टि के लिए दो परस्पर विरोधी युग्म (नर-मादा) अपेक्षित है। इन्हीं के परस्पर समागम से सृष्टि-क्रिया गतिमान रहती है। सृष्टि का प्रारम्भ जल तत्त्व के निर्माण से होता है तथा ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति महाखण्ड के विस्फोट से मानी जाती

है। इसी महाखण्ड के विस्फोट से ब्रह्माण्ड के समस्त चेतन-अचेतन, पृथ्वी-अंतरिक्ष, स्वर्ग-पाताल, वनस्पति-औषध, देव-दानव मनुष्य-पशु, समुद्र-महासमुद्र, पहाड-नदियाँ आदि का निर्माण होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो सृष्टि असत् से प्रारम्भ होती है और असत् में ही विलीन भी हो जाती है। यही वैदिक सृष्टि का अध्यात्म है, दर्शन है, विज्ञान है और व्यवहार भी है।

विभागाध्यक्ष **डॉ. सुनीता कुमारी**
संस्कृत विभाग
बी. एस. एम.(पी.जी.) कॉलेज
रूडकी २४७ ६६७
(उ. प्र.)

टिप्पणियाँ

१. **ऋग्वेद**, १०/९०/१-४
२. ......स प्रजापतिः पुष्करपर्णे .....। **तैत्तरीय संहिता**, ५/६/४/२
३. प्रजापतिर्ह यज्ञं ससृजे तेन ह सृष्टेन ...... । **कौषितकी ब्राह्मण**, २८/१
४. स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते ......। **बृहदारण्यक् उपनिषद्**, १/४/३
५. द्विधा कृत्वात्मनो देहमधर्मेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः ॥ **मनुस्मृतिः**, १/३२
६. **याज्ञवल्क्य-स्मृतिः**, ३/६७
७. सतीशचंद्र चट्टोपाध्याय एवं धीरेन्द्र मोहन दत्त, हिन्दी रूपकार - श्री हरिमोहन झाः **भारतीय दर्शन** द्वितीय संस्करण, पुस्तक भण्डार,पटना पृ. १५८
८. **सांख्यसूत्र**, १/७
९. **श्लोकवार्तिक**, अनुमान प्रकरण, श्लोक १८३, चौखम्भा संस्करण पृ.६५० **प्रभाकर-विजय** में परमाणुवाद के पक्ष में सन्दर्भित युक्तियों का अवलोकन करें
१०. चट्टोपाध्याय एवं दत्त : **भारतीय दर्शन**, पृ. २३२-३३
११. धम्मो अधम्मो आमासं कालो पुग्गलो जन्तवो ।
एस लोगोति पन्नत्तो. जिणेहिं वरदसिहिं ॥ **उत्तराध्ययनसूत्र**, २८/७

१२. चट्टोपाध्याय एवं दत्त : भारतीय दर्शन, पृ. ३९
१३. मार्टिन ग्रीण्डलीन्जर (अनु.) : **मोलेकूल्स**, मीर पब्लिशर्स, मास्को १९८६
१४. डेक्स्तर एस. किम्बेल्ल (संपा.): **द बुक ऑफ पॉपुलर साइंस** (प्रथम भाग), न्यू यार्क १९५१, पृ. ३१२
१५. **ऋग्वेद**, १०/९०
१६. प्रजापतिर्देवासुरानसृजत....। **तैत्तिरीय संहिता** ३/३/७/१ एवं १/६/९/१; १/५/९/७
१७. ऋषयो वै प्राणा: । **शतपथ ब्राह्मण**, ६/१/१
१८. वही. ११/१/६/१
१९. तदसदेव सन मनोऽकुरूत स्यमिति । **तैत्तिरीय ब्राह्मण**, २/२/९/१
२०. .... देवा ईजिरे तेन हेष्टवा सर्वान्कामनापु: । **कौषीतकी-ब्राह्मण**, २८/१
२१. अथातो रेतस: सृष्टि: । प्रजापते रेतो देवा देवानां रेतो वर्ष वर्षस्य रेत औषधय औषधीनां रेतोऽन्नमन्नस्य रेतो...पुरुषो ब्रह्मणो लोक:। **ऐतरेय आरण्यक**, २/१/३
२२. स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमिच्छत् ।....पतिश्च पत्नी चाभवता । **बृहदारण्यक् उपनिषद्** १/४/३; १/४/४,७
२३. स इमांल्लोकानसृजत । ....पृथिवी मरो अंद्यस्तात्ता आप: । **ऐतरेय उपनिषद्**, १/२
२४. **मनुस्मृति:**, १/८-१९
२५. वही; १/३२-४०
२६. **याज्ञवल्क्य स्मृति**, ३/६८-७०
२७. **वायु-पुराण**, चतुर्थ अध्याय, तारिणीश झा (संपा.)

अभिधर्मकोश में ''विज्ञान'' का स्वरूप

आचार्य वसुबन्धु-प्रणीत अभिधर्मकोश बौद्धदर्शन के सर्वास्तिवाद-सम्मत तत्त्वमीमांसा का एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ सर्वास्तिवाद के विभिन्न शाखा-प्रशाखाओं के मत-मतान्तरों के साथ अपनी तत्त्व-मीमांसा को उपस्थापित करता है। अतः इसे सर्वास्तिवाद का प्रतिनिधि ग्रन्थ कहा जा सकता है।

अभिधर्मकोश में प्रतिपादित तत्त्वमीमांसा का मूल आधारभूत एवं केन्द्रीय शब्द "धर्म" जगत् का मूलतत्त्व है। यह परमार्थसत् है। इसकी प्रमुख रूप से पाँच विशेषताएँ हैं - १. क्रियास्वरूप होना, २. क्षणिक होना, ३. क्षणप्रवाहरूप होना, ४. अनन्त होना, एवं ५. इनका परस्पर विलक्षण होना। इस धर्ममय तत्त्वमीमांसा में "विज्ञान" का स्थान कहाँ है एवं क्या है - यही इस लेख का विषय है।

''धर्म'' की देशना जगत् के मूलतत्त्व के रूप में, तीन प्रकार से की गई है - स्कन्ध-रूप में, आयतन-रूप में एवं धातु-रूप में। ''स्कन्ध'' धर्मों की राशि है[१], "आयतन" धर्मों का विस्तार है[२] एवं ''धातु'' प्रत्येक धर्म का स्वभाव है।[३] जगत् -तत्त्व को स्कन्ध-रूप में पाँच वर्गों में[४], आयतन-रूप में बारह वर्गों में[५], एवं धातु-रूप में अठारह वर्गों में[६] रखा गया है।

स्कन्ध, आयतन एवं धातु - तीनों प्रकारों से जगत् - तत्व का परिशीलन करने पर इनके प्रामुख्येन दो वर्ग परिलक्षित होते हैं - आध्यात्मिक[७] एवं बाह्य। आध्यात्मिक तत्त्व को ''विज्ञान'' एवं बाह्य तत्त्व को ''रूप'' कहा गया है।

स्कन्ध-देशना में ''विज्ञान'' को ''विज्ञान-स्कन्ध'' कहा गया है। इसका लक्षण है - ''विज्ञानं प्रतिविज्ञप्तिः'' (अभिका., १.१६, पृ. ५०) या "वस्तुप्रतिविज्ञप्तिर्विज्ञानम् '' (अभिभा., ३.२४, पृ. ४३०)।

लक्षणवाक्य से स्पष्ट है कि ''विज्ञानस्कन्ध'' ज्ञानात्मिका क्रियास्वरूप है। ज्ञानक्रिया का कर्ता या ज्ञाता भी यही है। वस्तुतः, प्रत्येक वस्तु की उपलब्धि "विज्ञान" है। इसी ग्रन्थ के द्वितीय कोशस्थान में "विजानातीति विज्ञानम् '' (अभिभा., २.३४, पृ. २०८) भी कहा गया है। यद्यपि इसमें ''विज्ञान'' को "उपलब्धि-रूप क्रिया का कर्ता'' बताया गया है। किन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ में एवं बौद्ध-

दर्शन में क्रिया तथा कर्ता को अभिन्न माने जाने के कारण ''उपलब्धि-क्रिया'' एवं ''उपलब्धिकर्ता'' - दोनों रूप में ''विज्ञान'' शब्द का प्रयोग किया गया है । अतः उपर्युक्त ''विजानातीति विज्ञानम् '' - यह प्रयोग उपचार से किया गया है ।

''विज्ञान'' वह आध्यात्मिक तत्त्व है, जो अपने विषय[८] या आलम्बन[९] को जानने की क्रियारूप है । यह क्रिया चक्षुरादि पंचेन्द्रिय एवं मन इन्द्रिय के माध्यम से घटित होने के कारण छः प्रकार की है - चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान, कायविज्ञान एवं मनोविज्ञान ।

क्रिया-काल के मापन की सूक्ष्मतम इकाई ''क्षण'' है । अतः ज्ञानात्मिका क्रिया की सूक्ष्मतम इकाई भी ''क्षण'' है । विज्ञानक्षण-प्रवाह कभी अकेला नहीं रहता है । संस्कार-रूप दस[१०] धर्मों का दस-विध क्षणप्रवाह भी विज्ञानक्षण प्रवाह के साथ-साथ, अनन्तर-रूप में, समकाल में, स्वरूपप्राप्तिक्षण को प्राप्त करता हुआ प्रवाहित होता रहता है । अतः ''स्कन्ध-देशना'' में ''विज्ञान-स्कन्ध'' का तात्पर्य एवं अनन्तर दसविध संस्कार-क्षण के साथ प्रवाहित होनेवाला विज्ञान-क्षण-प्रवाह है ।

आयतन-देशना में, ''विज्ञान स्कन्ध'' को ही ''मन-आयतन'' कहा गया है।[११] किन्तु, विचार करने पर दोनों अवधारणाओं में स्पष्ट अन्तर परिलक्षित होता है । यथा-

१. स्कन्ध-देशना में ''विज्ञान-स्कन्ध'' की अवधारणा में ''विज्ञान'' के साथ उसके सहवर्ति धर्मों को भी लिया गया है, जबकि आयतन-देशना में ''मन-आयतन'' की अवधारणा में ऐसा नहीं किया गया है ।

२. ''विज्ञान'' वह क्रिया है, जो अपने विषय या आलम्बन को जानता है, पर ''मन-आयतन'' वह क्रिया है, जिसके द्वारा चक्षुरादि इन्द्रियों का एवं उनके विषयों का विस्तार किया जाता है ।[१२]

३. ''मन-आयतन'' अन्तरिन्द्रिय स्वरूप है,[१३] जबकि ''विज्ञानस्कन्ध'' ज्ञानात्मिका क्रिया है ।

''धातु-देशना'' में ''विज्ञान'' के दो रूप हैं - मनोधातु एवं मनोविज्ञानधातु । ''मनोधातु'' अर्थात् अन्तरिन्द्रियस्वभावधर्म[१४] एवं ''मनोविज्ञानधातु'' अर्थात् ग्राहकस्वभाव धर्म ।[१५] इस प्रकार, स्कन्ध, आयतन एवं धातु - किसी भी प्रकार से की गई देशना में ''विज्ञान'' को जिस भी रूप में देशित किया गया है, उसका सारमर्म इस प्रकार है— ''विज्ञान'' अपने सहचारि धर्मों के साथ प्रवाहित होने वाली ज्ञानात्मिकाक्रिया-

क्षण-प्रवाह है । यही इस क्रिया का कर्ता, आश्रय एवं इन्द्रियात्मक माध्यम है । यही मननात्मिका-क्रिया भी है । शब्दान्तर में ज्ञाता, ज्ञानक्रिया, ज्ञान, मननक्रिया एवं अन्तरिन्द्रिय - ये सभी विभिन्न दृष्टिकोणों से "विज्ञान" के ही नामान्तर-मात्र हैं ।

"बहुधातुक" में ६२ धातुओं का उल्लेख प्राप्त होता है ।[१६] इनमें "विज्ञानधातु" का उल्लेख है । "विज्ञानधातु" अर्थात् सास्रव विज्ञान ।[१७] जो क्लेशों, मलों या दुःखों से क्लिष्ट होने के कारण ही जिसका प्रवाह चलता रहता हो, ऐसी ज्ञानात्मिका-क्रिया-क्षण-प्रवाह "सास्रव विज्ञान" शब्द से कहा गया है । वस्तुतः, "सास्रव विज्ञान" या "विज्ञानधातु" का अभिप्राय ऐसी ज्ञानात्मिका-क्रियाक्षण से है, जब प्राणि किसी भी लोक में जन्म लेने की सर्वप्रथम अवस्था के प्रथम क्षण में अवस्थित रहता है ।[१८] यही ऐसा क्षण है, जब प्राणि ज्ञानात्मिका-क्रिया-प्रधान अवस्था में रहता है, उसका न तो स्थूल शरीर रहता है, न इन्द्रिय और न ही विषय ।

अभिधर्मकोशकार ने "विज्ञान धातु" का अन्तर्भाव चक्षुर्विज्ञानादि सप्त विज्ञान धातुओं में किया है ।[१९] उनके अनुसार, "विज्ञानधातु" सास्रव विज्ञान होने के कारण चक्षुर्विज्ञानादि सास्रव विज्ञान से भिन्न नहीं है ।

"विज्ञान" की ही अपर संज्ञा "चित्त" है ।[२०] "चित्त" अर्थात् विभिन्न धर्मों की चयनात्मिका क्रिया ।[२१] इसी क्रिया के माध्यम से चित्त अपने सहचारि धर्मों को एकत्र करता है, संस्कार का निर्माण करता है एवं कर्मपथ का निर्धारण करता है ।

चित्तक्षण-प्रवाह कभी अकेला नहीं रहता है । संस्कार-रूप दस धर्मों का दसविध-क्षण-प्रवाह भी चित्तक्षण-प्रवाह के साथ-साथ अनन्तर-रूप में एवं समकाल में प्रवाहित होता रहता है ।[२२] सदा सहचारि धर्मों के साथ प्रवाहित होने के कारण "चित्त" को "स्कन्ध-देशना" में "विज्ञान-स्कन्ध" कहा गया है ।[२३] इन्हीं सहवर्ति धर्मों के अति-नैकट्य के कारण ऐसा प्रतीत होता है, जैसे - चित्त ही भला या बुरा है, जबकि वस्तुतः चित्त, अपने सहवर्ति धर्मों के प्रभाव से भला या बुरा कर्म करता है एवं उसी के अनुरूप सुखदुःखादि का अनुभव करता है ।

चित्त के सहचारि धर्मों को "चैत्त" कहा जाता है ।[२४] "चैत्त" पाँच प्रकार के होते हैं । इन्हें क्रमशः महाभूमिक चैत्त[२५] (१०चैत्तधर्म), कुशलमहाभूमिक चैत्त[२६] (१०चैत्तधर्म), क्लेशमहाभूमिक चैत्त[२७] (६चैत्त धर्म), अकुशलमहाभूमिक चैत्त[२८] (२ चैत्तधर्म) एवं परीत्तक्लेशमहाभूमिक चैत्त[२९] (१० चैत्तधर्म) कहते हैं । इनके अतिरिक्त ८ चैत्तधर्म अनियतभूमिक चैत्त[३०] कहे जाते हैं ।

चित्त के सहचारि धर्मों में छः प्रकार के क्लेश भी परिगणित हैं । ये हैं - राग,

प्रतिघ, मान, अविद्या, दृष्टि एवं विचिकित्सा। इन्हें "षडनुशय" भी कहा गया है।[३१] इन क्लेशों से "चित्त" ही क्लिष्ट होता है। "चित्त" ही अपनी चेष्टा द्वारा इन क्लेशों का प्रहाण करता है। प्रहाण-प्रक्रिया के विभिन्न स्तर पर "चित्त" को ही "विराग धातु"[३२] "प्रहाणधातु"[३३] एवं "निरोधधातु"[३४] कहा जाता है।

"विज्ञान शब्द का प्रयोग प्रतीत्य-समुत्पाद के तृतीय अंग के रूप में भी किया गया है। इसके स्वरूप को कारिका के अनुसार "सन्धिस्कन्धास्तु विज्ञानम्" (अभिका., ३.२१ पृ. ४३७) एवं स्वोपज्ञभाष्य के अनुसार, "मातुः कुक्षौ प्रतिसन्धिक्षणे पंचस्कन्धा विज्ञानम्" (अभिभा., ३.२१, पृ. ४३७) कहा गया है। यहाँ "विज्ञान" का स्वरूप दो कारणों से विशेष परिलक्षणीय है। प्रथमतः, "विज्ञान" को जगत्कारण- "पंचस्कन्ध" - की प्रतिनिधि बताया गया है। इससे "विज्ञान" की अवधारणा जगत् के एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व की अवधारणा में पर्यवसित हो गयी है। इस अवस्था में रूपादि चारों स्कन्ध एवं चित्त-सहवर्तित सभी धर्म अति नगण्य हो जाते हैं। विज्ञानात्मक क्रिया की ही प्रधानता रहती है। द्वितीयतः, "विज्ञान" की अवस्था क्षणमात्र की होती है। इसके अव्यवहित परवर्ति क्षण से षडायतन की विकास-प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। यह "नामरूप" की अवस्था कही गयी है।[३५] इस प्रकार, "विज्ञान" नामक अवस्था, क्षणभर के लिए ही सही, पंचस्कन्धों में प्राधान्य लाभ कर, सम्पूर्ण जगत् का प्रतिनिधित्व करता है।

ग्रन्थ में "विज्ञान" की सात प्रकार की स्थितियों का भी वर्णन प्राप्त होता है।[३६] एक अन्य मत के अनुसार चार प्रकार की विज्ञान-स्थितियों का वर्णन भी प्राप्त होता है।[३७] सात प्रकार की विज्ञानस्थितियों में प्रथमा स्थिति कामधातु में, द्वितीया से चतुर्थी स्थिति तक रूप धातु में एवं अनितम तीन स्थितियाँ आरूप्यधातु में होती हैं। इन स्थितियों के परिशीलन से यह ज्ञात होता है कि -

(क) "विज्ञान की गति तीनों लोकधातुओं में है, एवं (ख) "विज्ञान" कामधातु में स्थूल-रूप (=स्थूल शरीर) में रूपधातु में सूक्ष्म-रूप (=सूक्ष्म शरीर) में तथा आरूप्यधातु में रूपरहित अवस्था में रहता है।

अभिधर्मकोश में उपलब्ध "विज्ञान" के सभी सन्दर्भों के अनुशीलन से "विज्ञान" विषयक अधोलिखित तथ्य प्राप्त होते हैं -[३८]

१. "विज्ञान", "मन" एवं "चित्त" वस्तुतः एक ही तत्त्व के पर्याय हैं।
२. "विज्ञान" सतत प्रवाहशील ज्ञानात्मिका क्रिया है। विषय के सम्पर्क में आने पर "विज्ञान" ही "मन" नामक अन्तरिन्द्रिय कहलाता है। "विज्ञान"

ही संकलनात्मक क्रिया करता है, तब यह ''चित्त'' कहलाता है ।

३. प्रत्येक विज्ञान सस्वभाव है । अपनी-अपनी विलक्षण क्रिया करना ही प्रत्येक विज्ञानक्षण का स्वभाव है । इस प्रकार, ''विज्ञान'' एक ऐसा तत्त्व है, ज्ञानात्मक क्रिया करना जिसका स्वभाव है ।

ग्रन्थ के विभिन्न सन्दर्भों से ''विज्ञान'' की परिभाषाओं के आधार पर ''विज्ञान'' की उपर्युक्त अवधारणा प्राप्त होती है । किन्तु, सम्पूर्ण ग्रन्थ में ''विज्ञान'' की इस अवधारणा की पूर्णतया रक्षा नहीं हो पाती है । परिणामस्वरूप, पाठकचित्त में ''विज्ञान'' की उपर्युक्त अवधारणा के विषय में कई प्रकार के संशय उत्पन्न होते हैं-

१. ''विज्ञान'' को ''मन'' एवं ''चित्त'' का पर्याय बताया गया है । जबकि ये तीनों भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक क्रियाएँ हैं । ''विज्ञान'' का कार्य ''जानना'' है, ''मन'' का कार्य ''मनन करना'' तथा ''चित्त'' का कार्य ''संकलन करना'' है । तीनों क्रियाक्षण भी भिन्न-भिन्न हैं । अतः, तीनों क्रियाएँ एक ही तत्त्व की स्वरूप कैसे हो सकती हैं ?

२. वैभाषिक मतानुसार, ''विज्ञान'' नामक धर्म-क्षण-प्रवाह के साथ-साथ अनन्तर-रूप में दस प्रकार का धर्म-क्षण-प्रवाह भी चलता रहता है । इन दस धर्मों में एक प्रकार का धर्म ''चेतना'' है । ''चेतना'' के अति सामीप्य के कारण, उसके प्रभाव से ''विज्ञान'' भी ''चेतन'' प्रतीत होता है । जबकि, सौत्रान्तिक-मत में, ''विज्ञान'' चेतना है । अतः, कोशग्रन्थ के अध्ययन से स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि - ''विज्ञान चेतन है या अचेतन''?

ग्रन्थ में उपलब्ध ''विज्ञान'' की अवधारणा में उपर्युक्त सूक्ष्म असंगतियों का प्रमुख कारण, दार्शनिक शैली से ''विज्ञान'' स्वरूप का प्रतिपादन न किया जाना है। वस्तुतः, इस ग्रन्थ-प्रणयन के समसामयिक बौद्धदर्शन-साहित्य-परम्परा में कहीं भी दार्शनिक-शैली का प्रयोग उपलब्ध नहीं होता है । इससे, यह सहज ही अनुमानित है कि - उस समय दार्शनिक शैली का प्रादुर्भाव या विकास नहीं हुआ था ।

दार्शनिक शैली से ''विज्ञान'' स्वरूप का प्रतिपादन न किये जाने पर भी सर्वास्तिवाद में ''विज्ञान'' की अवधारणा का विशेष महत्त्व है ।

स्कन्ध-देशना में ''विज्ञान'' की अवधारणा को तत्त्व-मीमांसा के दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है । इस प्रसंग में, जगत् -तत्त्व को प्रमुख पाँच वर्गों में रखा गया

है । जबकि, धातु-देशना में "विज्ञान" की अवधारणा को ज्ञानमीमांसा के दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है । अठारह धातुओं को तीन प्रमुख वर्गों में रखा जा सकता है - इन्द्रियधातु, विषयधातु एवं विज्ञानधातु । इन्द्रिय धातुओं के अन्तर्गत "विज्ञान" को "मनोधातु" या "मन-इन्द्रिय" माना गया है । "विषयधातु" के अन्तर्गत "धर्मधातु" के एकांश (अर्थात् संज्ञास्कन्ध, वेदनास्कन्ध एवं संस्कारस्कन्ध) - रूप में जो धर्म परिगणित हैं, वे "विज्ञान" के "सहवर्ती धर्म" हैं । "विज्ञानधातु" के अन्तर्गत परिगणित चक्षुर्विज्ञानधातु आदि षड्विध ज्ञानात्मक क्रियाएँ वस्तुतः "विज्ञान" ही हैं । इस प्रकार, धातुदेशना में "विज्ञान" को इन्द्रिय, ज्ञान, ज्ञाता एवं ज्ञानात्मक क्रिया बताया गया है ।

स्कन्ध, आयतन एवं धातु - किसी भी रूप में देशित "विज्ञान" के स्वरूप से यह ज्ञात होता है कि - सर्वास्तिवाद में ज्ञाता, ज्ञान, इन्द्रिय एवं ज्ञानात्मक क्रिया - ये सभी "विज्ञान" हैं । केवल "ज्ञेय" ही अर्थात् "रूप" ही "विज्ञान" से भिन्न तत्त्व है । "रूप एवं "विज्ञान" - परस्पर भिन्न तत्त्व हैं । दोनों में से किसी का अन्तर्भाव अपर तत्त्व में सम्भव नहीं है । आगे चलकर "विज्ञानवाद" में "ज्ञेय" को भी "विज्ञान" से अभिन्न मानकर, अद्वैतवाद की स्थापना की गई । जबकि, "शून्यवाद" में इन सभी तत्त्वों को व्यावहारिक प्रतिपादित कर, "परमार्थ-सत् " - रूप में "शून्य" का ही प्रतिपादन किया गया ।

सर्वास्तिवाद में "विज्ञान" नामक तत्त्व का स्थान अतिसीमित है । विज्ञानवाद में एकमात्र "विज्ञान" नामक तत्त्व ही है । जबकि, शून्यवाद में चेतन-अचेतन-चेतनाचेतन-नचेतन नाचेतन-सभी से विलक्षण "शून्य" तत्त्व का प्रतिपादन किया गया ।

सर्वास्तिवाद में अनन्त धर्म हैं एवं प्रत्येक धर्म सस्वभाव है । विज्ञानवाद में स्वभाव को त्रिविध बताकर, उन त्रिविध स्वभाव के अनुसार, सभी धर्मों को तीन वर्गों में रखा गया । जबकि, शून्यवाद में सभी धर्मों को निःस्वभाव प्रतिपादित किया गया । वस्तुतः, परिनिष्ठित बौद्धदर्शन का आधार सर्वास्तिवाद के "विज्ञान" की अवधारणा में निहित है ।

डॉ. सीमा मुन्शी

बी १४/११० मानसरोवर
वाराणसी २२१००१
उत्तर प्रदेश

टिप्पणियाँ

१. राश्यर्थ: स्कन्धार्थ इति । -अभिभा., १.२०, पृ. ५७.
२. चित्तचैत्तायद्वारार्थ आयतनार्थ: । -अभिभा., १.२०, पृ. ५९.
३. गोत्रार्थो धात्वर्थ: । -वही.
४. रूपस्कन्ध, वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध, संस्कारस्कन्ध एवं विज्ञानस्कन्ध.
५. छ: इन्द्रियायतन - चक्षु:, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय एवं मन ।
छ: विषयायतन - रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य एवं धर्म ।
६. छ: इन्द्रियधातु - चक्षु:, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय एवं मन ।
छ: विषय धातु - रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य एवं धर्म ।
छ: विज्ञानधातु - चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान, कायविज्ञान एवं मनोविज्ञान ।
७. यद्यपि बौद्धों ने "आत्मा" को नहीं माना है, फिर भी "आत्मा" शब्द का प्रयोग, बौद्धों के "वित्त" या "विज्ञान" की अवधारणा से नैकट्य के कारण एवं वैदिक विचारधारा से प्रभावित जनसामान्य के सहज अवबोध में सहायक होने के कारण, अपने सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए भी उपचार से किया गया है (द्र. "आत्मनि अधि... त्युपचर्यत इति। -स्फुटा., १.३९, पृ. १०४) "आध्यात्मिक" का तात्पर्य यहाँ "आन्तरिक" से है ।
८. यस्मिन् यस्य कारित्रं स तस्य विषाय: । -अभिभा., १.२९, पृ. ८०.
९. यच्चित्तचैर्त्तर्गृह्यते तदालम्बनम् । -अभिभा., १.२९, पृ. ८०.
१०. (क) वेदनाचेतनासंज्ञाच्छन्द: स्पर्शो मति: स्मृति: ।
मनस्कारोऽधिमोक्षश्च समाधि: सर्वचेतसि ॥
-अभिभा., २.२४, पृ. १८६.
(ख) इमेकिल दश धर्मा: सर्वत्र चित्तक्षणे समग्रा भवन्ति ।
-अभिभा., २.२४, पृ. १८७.
११. य एव विज्ञानस्कन्ध उक्त आयतनव्यवस्थायाम् मन-आयतनं च तत् ।
-अभिभा., १.१६, पृ. ५०.

१२. वैसे तो, प्रत्येक धर्म चाहे वह मूर्त हो या अमूर्त, क्रियाशील है । पर षडायतन अर्थात् स्थूल शरीर के माध्यम से जब इन्द्रिय द्वारा उसके मूर्त या अमूर्त विषय का ग्रहण किया जाता है, तब इन्द्रिय के परमाणुओं में एवं उसके विषय के परमाणुओं में एकसमान क्रियाक्षणों का प्रवाह समकाल में प्रवर्तित होती रहती है । इसी समकालिक तथा एकसमान क्रियाक्षणों के विस्तार या आधिक्य को "आयतन" कहा गया है । आयतन द्वादश हैं - छः इन्द्रियायतन एवं छः विषयायतन.

१३. मनइन्द्रियस्य पुनर्भवसम्बन्धवशभावानुवर्तनयोः । -अभिभा., २.१, पृ. १२१.

१४. षण्णामनन्तरातीतं विज्ञानं यद्धितन्मनः । -अभिका., १.१७, पृ. ५१.

१५. षष्ठस्य मनोविज्ञानधातोराश्रयोऽन्यो नास्ति । अतस्त.... रूपदिष्टः ॥ -अभि., १.१७, पृ. ५२.

१६. एवं बहुधातुकेऽपि द्वाषष्टिर्धातवो देशिताः । -अभिभा., १.२८, पृ. ७५.

१७. विज्ञानधातुर्विज्ञानं सास्रवम् । -अभि., १.२८, पृ. ७८.

१८. मातुःकुक्षौ प्रतिसन्धिक्षणे पंचस्कन्धा विज्ञानम् । -अभिभा., ३.२१, पृ.४३७.

१९. विज्ञानधातोः सप्तसु चित्तधातुषु संग्रहः । -स्फुटा., १.२७, पृ. ७६.

२०. चित्तं मनोऽथ विज्ञानमेकार्थम् । -अभि., २.३४, पृ. २०८.

२१. चिनोतीति चित्तम् । -अभिभा., वही.

२२. वेदना चेतना संज्ञाच्छन्दः .... सर्वचेतसि । -अभिका., २.२४, पृ. १८६.

२३. राज्ञासमं चरन्नपि भृत्यो....एन्नोच्यन्ते । -अभिभा., १.२, पृ. ११.

२४. चित्तचैत्ताः सहावश्यम् ....। -अभिका., २.२३, पृ. १८५.

२५. द्र. अभिभा., २.२४, पृ. १८६.

२६. द्र. अभिभा., २.२५, पृ. १८८.

२७. द्र. अभिभा., २.२६, पृ. १९१.

२८. द्र. अभिभा., वही, पृ. १९४.

२९. द्र. अभिभा., २.२७, पृ. १९४.

३०. द्र. अभिभा., २.२८, पृ. १९५.

३१. द्र. अभिभा., ५.१, पृ. ७६१.

३२. रागस्य प्रहाणं विरागधातुः । -अभिभा., ६.७८, पृ. १०३०.

३३. रागादन्येषां क्लेशानां प्रहाणं प्रहाण धातुः । -वही, पृ. १०३१.

३४. क्लेशनिर्मुक्तस्य वस्तुनः प्रहाणं निरोधधातुः । -वही.

३५. संन्धिचित्तात् परेण यावत् षडायतनं नोत्पद्यते साऽवस्था नामरूपम् ।
-वही, ३.२१, पृ. ४३७.

३६. नानात्वकायसंज्ञाश्च .:.. सप्त..... ।। -अभिका., ३.५-६, पृ. ३९२-३९३.

३७ चतस्रः स्थितयः पुनः....... । -अभिका., ३.७, पृ. ३९८.

३८. चित्तं मनोऽथ विज्ञानमेकार्थं...... । -अभिका, २.३४; पृ. २०८.

चार्वाक, बौद्ध एवं ह्यूम का अनात्मवाद

भारतीय एवं पाश्चात्य दार्शनिक जगत् में "आत्मा की सत्ता का विषय" प्रारम्भ से ही जिज्ञासा एवम् अन्वेषण का केन्द्र रहा है। जहाँ एक ओर आत्मा की सत्ता को स्वीकार करनेवाले दार्शनिक समुदाय ने अपने अपने मतों द्वारा आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया है ठीक इसके विपरीत आत्मतत्त्व को स्वीकार न करनेवाले दार्शनिक समुदाय ने आत्मतत्त्व के विरोध में अपने-अपने मत प्रस्तुत किये हैं। आत्मवादी दार्शनिकों के मतानुसार आत्मा स्वप्रकाश चैतन्य, शरीर में सर्वथा भिन्न शाश्वत सत्ता है। भारतीय दार्शनिक जगत् में साधारणतया आत्मा को शरीर से भिन्न एक आध्यात्मिक सत्ता माना है। गीता में भी कहा गया है—

"आत्मा को न शस्त्र काट सकता, न हवा सुखा सकती है, न पानी गला सकता है और न अग्नि जला सकती है। यह नित्य स्थायी, सर्वव्यापक, अचल और सनातन है।"[१]

"पाश्चात्य दार्शनिक लॉक बर्कले और डेकार्ट ने भी आत्मा के अस्तित्व को स्वयंसिद्ध स्वीकार किया था, इसके लिये न किसी प्रमाण की ही आवश्यकता थी न ही किसी संभावना की।"[२]

इन आत्मवादियों के विपरीत अनात्मवादियों का मत है, कि आत्मा नामक कोई स्वतंत्र सत्ता है ही नहीं, जिसे हम आत्मा कहते हैं वह केवल एक कल्पनामात्र है। वास्तव में शरीर और आत्मा एक ही है। भारतीय नास्तिक दार्शनिक श्रेणी में स्थापित बौद्ध एवं चार्वाक की ही भाँति ब्रिटिश दार्शनिक डेविड ह्यूम ने भी आत्मा की सत्ता को नकारते हुए उसके अस्तित्व के विरोध में अपने तर्क प्रतिपादित किए हैं।

यहाँ हम क्रमश: चार्वाक, बौद्ध एवं ह्यूम के अनात्मवाद का प्रतिपादन कर उनकी साम्यता पर दृष्टिपात करेंगे।

चार्वाक दर्शन का अनात्मवाद

केवल प्रत्यक्ष को ही एक मात्र प्रमाण स्वीकार करने वाले चार्वाक के अनुसार आत्मा का कभी प्रत्यक्ष नहीं होता। जड तत्त्वों से निर्मित जो हमारा शरीर है केवल उन्हीं का प्रत्यक्ष होता है, अत: प्रत्यक्ष द्वारा अग्राह्य होने के कारण आत्मा की सत्ता

स्वीकार्य नहीं है । चार्वाक मतानुसार आत्मा शरीर से भिन्न नहीं है । चैतन्य हमारे ही शरीर का गुण है । आत्मा नामक किसी भी सत्ता का नहीं । अतएव "चैतन्य युक्त शरीर ही आत्मा है ।"[३] यह कहकर चार्वाक ने देह से पृथक आत्मा नामक किसी भी स्वतंत्र एवं शाश्वत् सत्ता का खण्डन किया है ।

आत्मा एवं शरीर के तादात्म्य का ज्ञान दैनिक अनुभवों से भी प्राप्त होता है। "मैं मोटा हूँ, मैं लँगडा हूँ, मैं अंधा हूँ" ये वाक्य आत्मा और शरीर की एकता को ही प्रमाणित है ।"[४] यदि आत्मा एवं देह एक नहीं है तो मैं मोटा हूँ" इत्यादि नहीं बन सकते । यदि शरीर आत्मा है तो हमें 'मैं शरीर हूँ', कहना चाहिये, मेरा शरीर नहीं, इस आक्षेप का निराकरण करते हुए चार्वाक का कहना है कि "मेरा शरीर यह प्रयोग" "राहू के सिर" के समान गौण या आलंकारिक प्रयोग है - यद्यापि राहू और उसका सिर दो पृथक् चीजें नहीं, अपितु एक ही है तथापि "राम का सिर" सादृश्य से राहू का सिर ऐसा प्रयोग व्यवहार में होता है, उसी प्रकार यद्यपि शरीर और आत्मा में भिन्नता नहीं है, तथापि व्यवहार में "मेरा शरीर" यह प्रयोग होता है।"[५] यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि अचेतन भौतिक तत्त्वों से निर्मित शरीर में चैतन्य का प्रादुर्भाव कैसे होता है । इस आक्षेप के उत्तर में चार्वाक का यह कथन है कि "जिस प्रकार पान, सुपारी, कथ्था, चूना में यद्यपि लालिमा का अभाव है, किन्तु सबके संयोग से लाल रंग की उत्पत्ति हो जाती है, उसी प्रकार अचेतन पदार्थों में चेतना उत्पन्न हो जाती है ।"[६]

"जिस प्रकार किण्व आदि पदार्थों में पृथक्-पृथक् रूप में मादकता नहीं होती, किन्तु उन्हें विशेष रूप से एक साथ मिलाने पर मादकता उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार पृथ्वी आदि भौतिक तत्त्वों में यद्यपि पृथक्-पृथक् रूप में चेतनता नहीं होती, तथापि उनका देहरूप में संयोग होने पर चेतना प्रादुर्भूत होती है ।"[७] "जिस प्रकार वर्षा के समय मेंढक या छोटे-छोटे कीडे-मकोडे अपने आप भूतों से उत्पन्न हो जाती हैं, उसी प्रकार मनुष्य आदि के शरीर में भी चैतन्यता अकस्मात उत्पन्न हो जाती है ।"[८]

"जन्म के पूर्व और मृत्यु के पश्चात् शरीर से पृथक् आत्मा के अस्तित्व का कोई आधार नहीं दिखाई देता है । जब तक शरीर जीवित है तभी तक चेतना रहती है और शरीर के नष्ट होते ही चेतना लुप्त हो जाती है ।"[९]

"आज तक किसी ने मृत्यु के बाद आत्मा को शरीर छोडकर भागते नहीं देखा। शरीर से पृथक् आत्मा प्रत्यक्ष से परे है, इसलिये चार्वाक आत्मा को शरीर से

पृथक् नहीं मानते हैं, अपितु शरीर और आत्मा को अभिन्न मानते हैं ।

आस्तिकों के मतानुसार आत्मा यदि शरीर से निकलकर परलोक में चली जाती है और उसका यह जाना सिद्ध है, तो फिर यह (आत्मा) बन्धु बान्धवों के स्नेह से आकृष्ट होकर वहाँ से फिर क्यों नहीं लौट आती, फलत: आत्मा शरीर से भिन्न नहीं है ।''[१०]

सदानन्द ने भौतिकवादियों के चार सम्प्रदायों का वर्णन किया है । विवाद का मुख्य विषय आत्मा सम्बन्धी विचार है । एक सम्प्रदाय के अनुसार जीवात्मा एवं मूर्त शरीर का तादात्म्य है, दूसरा सम्प्रदाय इन्द्रियों को ही आत्मा मानता है । तीसरा सम्प्रदाय प्राण के साथ उसके तादात्म्य का वर्णन करता है और चौथा मस्तिष्क (मन) के साथ उसके तादात्म्य को बताता है ।''[११] इन सभी मतों के अनुसार जीवात्मा एक प्राकृतिक व्यापार है । अपने मत के समर्थन में भौतिकवादी धर्मग्रन्थ का प्रमाण देते ह और उपनिषद् की ओर निर्देश करते हैं कि इन तत्त्वों से प्रादुर्भूत होने के कारण यह नष्ट हो जाती है । मृत्यु के बाद जब ये तत्त्व नष्ट हो जाते हैं, तब बुद्धि भी नहीं रहती । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यह सोचना मूर्खता है कि भविष्य-जन्म में जीवात्मा अपने कर्मों का फल पाती है । इस लोक के अतिरिक्त और कोई लोक नहीं है न स्वर्ग और न नरक ही है । इस प्रकार चार्वाक मत, में शरीर के अतिरिक्त कोई नित्य चेतन (आत्मा) नहीं है ।

बौद्ध दर्शन का अनात्मवाद

चार्वाक की ही भाँति भारतीय नास्तिक समुदाय में प्रतिष्ठित बौद्ध दर्शन भी आत्मा की सत्ता का खण्डन करता है । बौद्धों का यह मत ''अनात्मवाद'' के नाम से प्रसिद्ध है जो बौद्धों के अनेक वादों में से एक है ।

''बौद्ध दर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु का स्वरूप संघातमय स्वीकृत किया गया है । इन पदार्थों में अवयव नामक कोई पदार्थ नहीं है । जिसे हम अवयवी कहते हैं, वह अवयवों का एक संघातमात्र है । इसके अनुसार यदि हम किसी को जानना चाहें तो हमारे ज्ञान का निष्कर्ष या आधार एक प्रकार अवयव या संघात ही रहेगा, अवयवी नहीं ।[१२]

'''मनुष्य के शरीर को ही लीजिये । वह क्या है ? हाथ, पाँव, सिर आदि बाह्य अंग-प्रत्यंगों के साथ-साथ मन, बुद्धि एवं इन्द्रियों के आंतरिक अवयवों का एक संघात या समाहार ही तो है ।''

''मनुष्य केवल एक समष्टि का नाम है जिस तरह चक्र, धुरी, नेमि आदि के

समूह को रथ कहते हैं उसी तरह बाह्य रूप युक्त शरीर; मानसिक अवस्थाएँ और रूपहीन संज्ञा (या विज्ञान) के समूह या संघात को मनुष्य कहते हैं। जब तक इनकी समष्टि कायम रहती है तभी तक मनुष्य का अस्तित्व रहता है। इस संघात के अतिरिक्त आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है, अन्य दृष्टि से मनुष्य पाँच प्रकार के परिवर्तनशील तत्त्वों का एक संग्रह है। इसे पंचस्कन्ध कहते हैं। पहला स्कन्ध रूप है। मनुष्य के शरीर के जो आकार रंगादि हैं, वे सब रूप के अन्तर्गत हैं। दूसरा स्कन्ध वेदनाओं का हैं। सुख, दु:ख तथा विषाद के बोध इसके अन्तर्गत हैं। तीसरा स्कन्ध संज्ञा अर्थात् नानाविध ज्ञान का है। चौथे में संस्कार आते हैं। पूर्व कर्मों के कारण जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं उन्हें ही संस्कार कहते हैं, पाँचवा है विज्ञान या चेतना।"[१३] "बौद्ध मतानुसार यह पञ्चस्कन्ध क्षण तक भी स्थाई नहीं रहता, यह प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। इस प्रकार जीव तथा जगत् दोनों परिणामशाली हैं। जलप्रवाह तथा दीपशिखा के उदाहरणों से इस सन्तान के सिद्धान्त का विशदीकरण किया गया है। जिस जल में हम एक बार स्नान करते हैं, क्या दूसरी बार हमारे स्नान के समय भी वही पुराना अनुभूत जल रहता है?

नागसेन ने दूध के विकारों का दृष्टान्त देकर इस तत्त्व को बडे सुन्दर ढंग से समझाया है। दूध दुहे जाने पर कुछ समय के पश्चात् जमकर दही बन जाता है, दही से मक्खन तथा मक्खन से घी बना दिया जाता है। यहाँ भिन्न विकारों के सद्‌भाव में भी वस्तु की एकता का अपलाप नहीं किया जाता। ठीक इसी भाँति किसी वस्तु के अस्तित्व के प्रवाह में एक अवस्था उत्पन्न होती है और एक अवस्था लय होती है। इस प्रकार एक प्रवाह जारी रहता है, पर इस प्रवाह की दो अवस्थाओं में एक क्षण का भी अन्तर नहीं होता, क्योंकि एक के लय होते ही दूसरी उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार आत्मा विज्ञान का प्रवाह है, प्रत्यक्षगोचर मानस प्रवृत्तियों का पुञ्जमात्र है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि बौद्ध दर्शन आत्मा नामक किसी चिरस्थायी तत्त्व को नहीं मानता।

डेविड ह्यूम का अनात्मवाद

ब्रिटिश दार्शनिक डेविड ह्यूम भी किसी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। उनके मतानुसार कोई आत्मतत्त्व नहीं है, क्योंकि हमें उसका इन्द्रिय अनुभव नहीं होता।

ह्यूम किसी अविभाज्य तथा तारतम्यपूर्ण आंतरिक द्रव्य के अस्तित्त्व का जिसे लोग आत्मा कहते हैं, कोई आधार नहीं पाते हैं। वे कहते हैं कि आत्मा प्रत्यक्षों तथा

मानसिक विचारों की शृंखला अथवा इसके समूह के अतिरिक्त कुछ नहीं है । उन्हीं के शब्दों में देखिये । 1. "We are Nothing but a bundle of different perceptions which succeed each other with an inconceivable rapidity." अर्थात् हम प्रत्यक्षों के समूहों के अलावा जो कि अत्यन्त तीव्रता के साथ एक के बाद एक आते जाते रहते हैं, कुछ नहीं हैं । इस प्रकार वे आत्मा को सरल और अविभाज्य तत्त्व के रूप में न मानकर, इसे मानसिक क्रियाओं का समूह, समुच्चय व शृंखला के रूप में देखते हैं । इनका कथन है— 2. "There is properly no simplicity in it (the self) at one time, nor identity in different (times)" अर्थात् ''इसमें न तो किसी एक समय एकत्व या सरलता है, और न भिन्न-भिन्न समयों में तादात्म्य ही ।'' जिसे लोग आत्मा, मनस्, संवित, चैतन्य आदि कहते हैं वे क्षणिक विचार ही हैं, जिनमें कोई नित्यता, समता तथा एकता नहीं है । आत्मा केवल विचारों की जंजीर या क्रम मात्र के तुल्य है । इन विचारों में कोई एकता, समता, सम्बन्ध, नित्यता, अभौतिकता आदि नहीं है । ये विचार एक दूसरे से पृथक् तथा स्वतंत्र हैं । विचारों की धारा ही आत्मा या मनस् मानी जाती है । इनमें किसी तादात्म्य का एकता को मानना भ्रम है । जैसे धारा में यद्यपि पानी के अलग-अलग कण हैं तथा भ्रमवश हम इनमें एकता देखते हैं और इसे एकता का नाम भूल से आत्मा रख देते हैं । वास्तव में इनमें कोई तादात्म्य नहीं है, ऐसा कोई द्रव्य अथवा पदार्थ नहीं है, जिसमें ये मानसिक अवस्थाएँ स्थित हों । ऐसा द्रव्य मानना मनुष्य की मानसिक कमजोरी के कारण है । उन्होंने आत्मा के अस्तित्व के विरुद्ध निम्नलिखित तर्क दिये हैं ।

१. विचारों, प्रतीतियों, सन्देहों, कल्पनाओं, स्मृतियों, उद्वेगों, संवेगों, भावनाओं, इच्छाओं, संकल्पों आदि मानसिक क्रियाओं का अस्तित्व स्वतंत्र तथा पृथक् रूप से है । उनको एक सूत्र में बाँधने वाला आत्मा जैसा कोई तत्त्व नहीं है ।

२. ह्यूम महोदय का कथन है कि अगर कोई आत्मा होती तो मैं उसे देख सकता, परन्तु ऐसा नहीं है । मुझे किसी आत्मा की चेतना अथवा अनुभव नहीं होता है। उनका कहना है कि—

"जब मैं इस पदार्थ में अपनी ''आत्मा'' कहता हूँ, गहराई से प्रवेश करता हूँ, तब मैं गर्मी या सर्दी, प्रकाश या अन्धकार, प्रेम या घृणा, सुख या दुख अथवा किसी और विशेष या प्रतीति को पाता हूँ । मैं कभी अपने को प्रत्यक्ष के अतिरिक्त या शेष कुछ नहीं पाता हूँ ।''[१६]

इस आधार पर ह्यूम ने किसी नित्य आत्मा को नहीं माना है । ह्यूम केवल मानसिक विचारों को ही आत्मा मानता है । उनके अनुसार हमारा मनस नाटक के रंगमंच के समान है जिस पर विभिन्न विचार आते और जाते रहते हैं । ये विचार अस्थाई होते हैं । इनसे शीघ्रता से आगे जाने से हमें एक "आत्मा" की अनुभूति होती है । ह्यूम का कथन है कि प्रत्यक्ष के बिना किसी भी समय स्वयं को नहीं पकड सकता ।"

वे आत्मचेतना की अनुपस्थिति में आत्मा को नहीं मानते । उन्होंने लिखा है - जब अनुभूतियाँ मुझमें नहीं रहती, जैसा कि गहरी नींद में होता है, तब मुझे अपनी आत्मा का अनुभव नहीं होता और इस समय वास्तव में मेरा कोई अस्तित्व नहीं रहता । अतएव वे कहते हैं कि मेरा विश्वास है, कि आत्मा के समान कोई तत्त्व अथवा शक्ति मेरे अन्दर नहीं है ।"

I am certain that there is no such principle (self) in me."[१७]

कुछ दार्शनिकों ने आत्मा की सत्ता की सिद्धि के लिए ह्यूम के विरुद्ध यह आक्षेप लगाए कि यदि आत्मा नहीं है तो विचार आदि मानसिक क्रियाओं का अनुभव कौन करता ? इस आक्षेप का निराकरण करते ह्यूम कहते हैं "विचार स्वयं अपना अनुभव करता है और उसके लिये किसी भी आत्मा की आवश्यकता नहीं है" इस प्रकार ह्यूम के "आत्मतत्त्व के अस्तित्व के विरुद्ध" उपरोक्त विवेचन से निम्नलिखित बातें सामने आती हैं कि ह्यूम के अनुसार –

१. आत्मा प्रत्यक्ष का विषय नहीं है ।

२. आत्मा मानसिक क्रियाओं का समूह है ।

३. आत्मा नित्य नहीं है ।

४. विचार स्वयं अपना अनुभव करता है ।

चार्वाक, बौद्ध एवं ह्यूम के "आत्मा के अस्तित्व के विरोध में दी गई उपरोक्त युक्तियों में बहुत कुछ साम्यता दृष्टिगोचर होती है । निम्न बिन्दुओं द्वारा हम यह प्रतिपादित करेंगे कि ह्यूम किन-किन मतों में भारतीय दार्शनिक चार्वाक एवं बौद्धों से साम्यता रखते हैं ।

चार्वाक दर्शन में आत्मतत्त्व के विरुद्ध प्रथम मत प्रस्तुत किया है वह यह कि प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण मानने के कारण भूत जड तत्त्व को ही एकमात्र तत्त्व मानते हैं और चूँकि आत्मा का तो प्रत्यक्ष होता नहीं है, अतः प्रत्यक्ष द्वारा अग्राह्य होने के कारण आत्मा की सत्ता स्वीकार्य नहीं ।

चार्वाक की ही भाँति ठीक इसी तरह विचार ह्यूम के दर्शन में भी दृष्टिगोचर होते हैं। "ह्यूम महोदय प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक बर्कले के इस मत को स्वीकारते हैं कि किसी वस्तु के अस्तित्व का प्रमाण, इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष अनुभव है और जो वस्तु, उदाहरणार्थ, कथित अमूर्त प्रत्यय इन ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो पाती, वह यथार्थ में ही नहीं, एक ख्याली पुलाव, कपोल कल्पित कल्पना के तुल्य है[१८]।"

बर्कले के उपरोक्त मत को स्वीकारते हुए ह्यूम ने यह प्रतिपादित किया कि कोई आत्मतत्त्व नहीं है क्योंकि हमें उसका इन्द्रिय अनुभव नहीं होता। ह्यूम के उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि ह्यूम महोदय भी आत्मा के अस्तित्व के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण की अनिवार्यता सिद्ध करते हैं। चार्वाक की ही भाँति उन्हें भी प्रत्यक्ष प्रभाव द्वारा ही आत्मा की सत्ता स्वीकार्य है। ह्यूम के इस कथन से कि "प्रत्यक्ष के बिना मैं किसी भी समय स्वयं को नहीं पकड सकता" स्पष्ट है कि वे आत्मा की सिद्धि के लिये प्रत्यक्ष प्रमाण के अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण का सहारा नहीं लेते हैं। इस साम्यता के अतिरिक्त चार्वाक की ह्यूम से जो पार्थक्यता दृष्टिगोचर होती है वह यह है। चार्वाक ने "चैतन्यविशिष्ट देह एवात्मा कहकर" आत्मा के अस्तित्व को पृथक् से स्वीकार न करके चैतन्ययुक्त देह को ही आत्मा कह दिया है तथा चैतन्यता को आत्मा का गुण न मानकर शरीर का गुण माना है, जबकि ह्यूम महोदय किसी-किसी अविभाज्य तथा तारतम्यपूर्ण आन्तरिक द्रव्य के अस्तित्व का जिसे लोग आत्मा कहते हैं कोई आधार नहीं पाते, उन्होंने आत्मा को "प्रत्यक्षों तथा मानसिक विचारों की श्रृंखला जिसमें न तो किसी एक समय एकत्व या सरलता होती है, और न भिन्न-भिन्न समयों में तादात्म्य ही" माना है। अर्थात् चार्वाक जहाँ चेतनता को ही आत्मा कहते हैं वहीं ह्यूम महोदय मानसिक क्रियाओं के समूहों को आत्मा कहते हैं। ह्यूम महोदय जिन चार्वाकों से पार्थक्यता रखते हैं वे सदानन्द के अनुसार देहात्मवादी चार्वाक हैं क्योंकि सदानन्द ने चार्वाकों के चार प्रकार के सम्प्रदायों का वर्णन किया है जिसे हम पूर्व में वर्णित कर चुके हैं किन्तु मनात्मवादी चार्वाकों के अनुसार मन ही आत्मा है अर्थात् वे भी ह्यूम की तरह मन को ही आत्मा स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं, चार्वाक और ह्यूम महोदय में आत्मा के अस्तित्व के विरोध में विचारों की दृष्टि से बहुत कुछ साम्यता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि ह्यूम एवं चार्वाक के विचारों में साम्यता तो अवश्य दृष्टिगोचर होती है किन्तु वह कुछ विचारों को लेकर ही है

जबकि ह्यूम के मतों को यदि बौद्धों के समक्ष रखकर उनका अवलोकन करें तो उनमें परस्पर चार्वाक की अपेक्षा कुछ अधिक साम्यता दिखलाई देती है ।

हम निम्न बिन्दुओं द्वारा ह्यूम एवं बौद्धों के आत्मतत्त्व के विरोध में दिये गये मतों की साम्यता पर प्रकाश डालकर उनकी साम्यता का अवलोकन करेंगे ।

१. बौद्ध दर्शन के अनुसार "आत्मा प्रत्यक्षगोचर मानसिक प्रवृत्तियों का पुञ्जमात्र है । इन प्रवृत्तियों के समूहों के अतिरिक्त अन्यत्र उसकी सत्ता कभी प्रत्यक्षगोचर नहीं होती । इसी तरह ह्यूम महोदय भी "आत्मा की मानसिक विचारों की श्रृंखला के अथवा समूह के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानते । उन्होंने भी इस बात पर बल दिया है, कि आत्मतत्त्व नहीं है, क्योंकि हमें उसका इन्द्रिय अनुभव नहीं होता ।

२. बौद्ध दर्शन के अनुसार जो आत्मा रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान इन पञ्चस्कन्धों का पुञ्जमात्र है, वह पुञ्जस्कन्ध बौद्धों के अनुसार दो क्षण भी समान रूप से स्थिर नहीं रहता । वह तो प्रतिक्षण में परिणाम को प्राप्त करता रहता है, इस प्रकार क्षणिकवादी बौद्ध आत्मा को जल अथवा ज्योति के कणों या बूँद के प्रवाह के समान विचार के क्षणों की श्रृंखला मानते हैं । त्रिपिटकों के कथनानुसार यह आत्मा तथा जगत् अनित्य है । इसी प्रकार बौद्धों की भाँति ह्यूम भी किसी नित्य आत्मा को नहीं मानते हैं । उनका कथन है कि "जिसे लोग आत्मा, मनस्, संवित, चैतन्य आदि कहते हैं, क्षणिक् विचार ही है, जिनमें कोई नित्यता, समता तथा एकता नहीं है । उनके मतानुसार विचारों की धारा ही आत्मा मानी जाती है इनमें किसी प्रकार की तारतम्यता एकता नहीं दिखाई देती ।

"जैसे" धारा में यद्यपि पानी के अलग-अलग कण हैं, तथापि हमें भ्रमवश एक ही धारा दिखाई देती है । इसी प्रकार विचार भी अलग-अलग तथा क्षणिक हैं भ्रमवश हम उनमें एकता देखते हैं और इस एकता का नाम भूल से आत्मा रख देते हैं, वास्तव में इनमें कोई तादात्म्य नहीं है ।

३. ह्यूम महोदय का कथन है कि अगर आत्मा होती तो मैं इसे देख सकता, परन्तु ऐसा नहीं है । मुझे किसी आत्मा की चेतना का अनुभव नहीं होता, मुझे तो केवल विचारों की अनुभूति होती है । जिस प्रकार आत्मा अदृश्य होने पर उसकी सत्ता से इन्कार करते हैं, उसी प्रकार भगवान् बुद्ध का कथन है कि किसी अदृश्य और अप्रमाणित रमणी से प्रेम करना जैसा हास्यास्पद है, वैसा ही अदृष्ट और अप्रमाणित आत्मा से प्रेम रखना भी हास्यास्पद है । आत्मा के प्रति अनुराग रखना

मानों एक ऐसे प्रासाद पर चढने के लिये सीढी तैयार करना है, जिस प्रासाद को कभी किसी ने नहीं देखा ।

ह्यूम एवं बौद्धों के उपरोक्त कथन से यह बात सामने आती है कि जिस प्रकार ह्यूम ने किसी भी ऐसे तत्त्व को नहीं स्वीकारा है, जो प्रत्यक्ष से परे हो, ठीक उसी प्रकार बौद्धों ने भी आत्मा को अदृष्ट एवं अश्रुत होने पर अस्वीकार कर दिया । इस प्रकार चार्वाक, बौद्ध एवं ह्यूम के द्वारा आत्मा के विरुद्ध दिए गये तर्कों में स्पष्टतया एक सामान्य सिद्धान्त दृष्टिगोचर होता है, वह यह है कि तीनों चिंतकों ने आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि के लिये इन्द्रिय प्रत्यक्ष की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया है, यद्यपि आत्मा के अस्तित्व के विपरीत उन्होंने अनेकानेक मतों का प्रतिपादन भी किया है, तथापि वे गौण दृष्टिगोचर होते हैं । आत्मा के अस्तित्व के विरुद्ध उनका मुख्य सिद्धान्त यही दृष्टिगोचर होता है कि चूँकि आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये उसकी सत्ता कथमपि स्वीकार नहीं की जा सकती । उनके मतों से यही प्रतीत होता है कि यदि शरीर से पृथक् आत्मा नामक तत्त्व विशेष का इन्द्रिय प्रत्यक्ष होता तो वे अवश्य स्वीकार करते, किन्तु ऐसा होता नहीं है ।

अतएव निष्कर्षत: यही कहा जा सकता है कि चार्वाक, बौद्ध एवं ह्यूम इन तीनों ही दार्शनिक के अनात्मवाद का आधार "इन्द्रिय द्वारा आत्मा का अप्रत्यक्षीकरण है ।

शोध छात्रा **दिव्या भारद्वाज**
संस्कृत अध्ययनशाला
विक्रम विश्व विद्यालय
उज्जैन (म. प्र.)

टिप्पणियाँ

१. नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावक: ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत: ।। २३ ।।, श्रीमद्भागवतगीता अध्याय २, पृष्ठ संख्या ४६, गीताप्रेस गोरखपुर, सं. २०१९

२. डॉ. दीवानचन्द्र, पश्चिमी दर्शन, पृ. १५१, प्रकाशन ब्यूरो, उ. प्र. सरकार, १९५९

३. "चैतन्यविशिष्टदेहो एवात्मा । माधवाचार्य, सर्वदर्शन संग्रह, अध्याय १, पृ. ४, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी (उ. प्र.)

४. माधवांचार्य, सर्वदर्शन संग्रह, अध्याय १, पृ. ९, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी (उ. प्र.)

५. वहीं, पृ. ९

६. वही, पृ. ५

७. तेभ्य एव देहाकार परिणतेभ्य: किण्वादिभ्यो मदशक्ति वच्चैतन्यमुपजायते। माधवाचार्य, सर्वदर्शन संग्रह, अध्याय १, पृ. १०

८. मिश्र उमेश, भारतीय दर्शन (हिन्दी अनुवाद), भाग १, पृ. ८७, हिन्दी समिति सूचना विभाग (उत्तर प्रदेश) लखनौ १९६४

९. तेषु विनष्टेषु स्वयं विनश्यति - माधवाचार्य, सर्वदर्शन संग्रह, अध्याय १, पृ. ४

१०. वही, पृ. २४

११. डॉ. राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन्, भाग दो, पृ. २५०, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली ६, १९६६

१२. डॉ. हरिदत्त शास्त्री एवं नरेन्द्र देवीसिंह ११६ से ११९, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ

१३. सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय एवं धीरेन्द्र दत्त, भारतीय दर्शन, पृ. १०७, पुस्तक भण्डार पटना, केहरिया सराय, राँची

१४. डॉ. बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, षष्ठ संस्करण, पृ. १२६, शारदा मंदिर, वाराणसी

१५. डॉ. ब्रजगोपाल तिवारी, पश्चिमी दर्शन का आधुनिक युग, पृ. २९५-२९६, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, हॉस्पिटल रोड, आगरा-३

१६. वही, पृ. २९५-२९६

१७. डॉ. जे. एन. सिन्हा, पश्चिमी दर्शन, पृ. १९५, जयप्रकाश नाथ एण्ड कम्पनी, मेरठ १९६०

१८. डॉ. ब्रजगोपाल तिवारी, पश्चिमी दर्शन, पृ. २९६, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, हॉस्पिटल रोड, आगरा-३

रसाभास का यथार्थ लक्षण और वास्तविक क्षेत्र

भारतीय काव्यशास्त्र में सर्वोत्तम काव्य के रूप में जिन भेदों का वर्गीकरण किया गया है (जिसे उत्तम काव्य या ध्वनि काव्य भी कहा गया है) उनमें रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति आदि आते हैं। मम्मट ने काव्यप्रकाश में काव्य के तीन भेदों में उत्तम काव्य का नाम ध्वनि-काव्य[१] बताया है, जिसके दो भेद किये हैं – अलक्ष्यक्रम तथा संलक्ष्यक्रम। इनमें प्रथम भेद के अन्तर्गत जिस प्रकार रस और भाव हैं उसी प्रकार रसाभास और भावाभास[२] भी हैं, अर्थात् दोनों उत्तम काव्य के भेद होते हैं। रसाभास और भावाभास को आरम्भ से अन्त तक सभी आचार्यों ने उत्तम काव्य माना है, किसी ने उसका स्थान थोडा भी नीचे नहीं बताया। भरत ने नाट्यशास्त्र में रसाभास को अलग से नहीं गिनाया है। आनन्दवर्धन ने इसका अलग से उल्लेख किया है किन्तु लक्षण नहीं बताया। ध्वन्यालोक के टीकाकारों तथा भरत के टीकाकारों द्वारा रसाभास का लक्षण करते समय उसकी परिभाषा जिन शब्दों में दी गई, लगता है, उनसे कुछ मत-मतान्तर भी बने जिन पर आज भी कुछ विवेचन की आवश्यकता है। सर्वप्रथम यह ध्यान देने योग्य बात है कि "आभास" शब्द का एक कालविशेष में जिस प्रकार का अर्थ लगाया जाने लगा था, उसकी प्रतिमा अच्छी नहीं थी। शायद इसका प्रारम्भ न्याय शास्त्र के हेत्वाभास शब्द से हुआ था। वहाँ किसी कार्य को जो वास्तविक कारण होता था उसे हेतु कहा जाता था किन्तु जो वास्तविक कारण न होकर कारण जैसा प्रतीत होता था उसे हेत्वाभास[३] कहा जाता था। यह हेतु नहीं होता था और बिल्कुल गलत होता था। सम्भवतः इसी साम्य के कारण बाद में आभास शब्द मिथ्या का सूचक भी हो गया और गलत तथा हीन का सूचक भी हो गया। शायद इसी कारण प्राचीन हिन्दी में इस प्रकार के वाक्य भी चल पडे "उस सभा में तो इस विवाद के कारण बडा रसाभास हो गया"। इस प्रकार रसाभास को हीन, गर्हित और निन्दनीय अर्थ मिल गया। यह जगन्नाथ के रसगंगाधर से और भी स्पष्ट हो जाता है जहाँ उन्होंने हेत्वाभास का साम्य बताते हुए रसाभास की परिभाषा में पक्ष-प्रतिपक्ष करने की चेष्टा की है।[४]

विचारणीय बात यह है कि आज रसाभास की जो अर्थछाया बनी है उसने क्या काव्यशास्त्र के वास्तविक उद्देश्य को धूमिल नहीं कर दिया है? स्पष्ट है कि यदि

रसाभास हीन या गर्हित स्थितियों का सूचक होता तो उसे रस के समान ही उत्तम काव्य क्यों माना जाता ? पुनः यह दोहराना अनुचित नहीं होगा कि काव्यशास्त्र में रस और रसाभास को उत्तम काव्य की परिभाषा में एक ही आसन पर रखा गया है, छोटा-बडा नहीं माना गया । अब इसकी परिभाषा पर भी ध्यान देना होगा । मम्मट ने लिखा – "तदाभासा अनौचित्यप्रवर्त्तिताः"[५] । यहाँ अनौचित्य शब्द का अर्थ विचारणीय है । संभवतः यह शब्द अभिनवगुप्त ने सर्वप्रथम लिखा (नाट्यशास्त्र की टीका अभिनवभारती तथा ध्वन्यालोक की टीका लोचन में "अनौचित्येन[६] तदाभासः)। उल्लेखनीय है कि अभिनव गुप्त ने इसकी स्पष्ट परिभाषा नहीं की है कि अनौचित्य यहाँ किसे माना जाये । सर्वप्रथम मम्मट ने इसकी व्याख्या जिन शब्दों में की उनसे स्पष्ट है कि आभास शब्द का जो तात्पर्य है उसकी कोई भी छाया अनौचित्य शब्द से नहीं मिलती । आभास का तात्पर्य "अवास्तव" होता है, अनुचित नहीं – जैसे प्रतिबिम्ब । यही परिभाषा शब्दकल्पद्रुम आदि शब्दकोषों में दी भी गई है ।[७] इससे यह तात्पर्य निकलना चाहिये कि जहाँ वास्तव में रस हो वहाँ रस और जहाँ वास्तव में रस न होकर उसका आभास हो वहाँ रसाभास माना जाय । अभिनवगुप्त ने रसाभास का जैसा भी निर्वचन किया है और उदाहरण दिये हैं उनसे यही परिभाषा पुष्ट होती है[८] । इसमें उचित अनुचित का कोई झगडा खडा नहीं होना चाहिये क्योंकि यह स्पष्ट है कि अनौचित्य ज्यों ही आता है रस समाप्त हो जाता है, काव्यास्वाद सम्भव नहीं रहता और काव्यत्व भी नहीं रहता ।[९] फिर अनुचित होते हुए भी उसे उत्तम काव्य मानना कहाँ तक सम्भव है ? कीटानुविद्ध रत्न की तरह कोई शब्दार्थदोष होने पर भी काव्यत्व माना जा सकता है पर उसके लिए भी रस का होना तो वहाँ भी जरूरी बताया गया है ।[१०]

इस सबके आधार पर मेरा यह अनुमान है कि रसाभास का सम्बन्ध अनौचित्य की उस परिभाषा से नहीं है जिसे आज हम समझते हैं, जिसके आधार पर सर्वप्रथम मम्मट जैसे कुछ प्राचीन आचार्यों ने[११] इसकी परिभाषा करने की चेष्टा की है । यह अनुमान इस निष्कर्ष पर आधारित है कि कालिदास आदि महाकवियों के जिन प्रसंगों को लेकर आचार्यों ने रसाभास को रस से अलग माना और उसके बावजूद भी उसी के समान सिंहासन पर उत्तम काव्य का दर्जा देकर बिठाया, उनके सूक्ष्म विवेचन से यह गुत्थी सुलझ सकती है । अनेक आचार्यों ने रसाभास के उदाहरणस्वरूप इन काव्यों को उद्धृत भी किया है । कुमारसंभव के वसन्त-वर्णन में कालिदास ने प्रकृति के सभी पक्षों पर जहाँ शृंगार का प्रभाव बताया वहाँ इस प्रकार का मार्मिक

वर्णन किया कि वसन्त आते ही जिस प्रकार पेड-पौधों पर यौवन इठलाने लगा, पुष्पों और कलियों जैसे प्रतीक वसन्त (नायक) के साथ स्त्री-पुरुष सुलभ शृंगार भावनाओं में डूबे दिखाई देने लगे उसी प्रकार हिरन, हिरनियों को प्रेम से सहलाने लगे, अपनी प्रिया के साथ कलियों के प्यालों से मधु पीने लगा आदि[१२]। रस के लक्षण में यह बतलाया गया कि जब स्थायिभाव, विभाव, अनुभाव और संचारी के सहयोग से अभिव्यक्त हो वहाँ रस होता है। जैसे शृंगार रस में दुष्यन्त (आश्रय) विभाव अर्थात् शकुन्तला को देखकर प्रेम चेष्टाएँ (अनुभाव) और आवेग आदि (संचारी) अनुभूत[१३] करता है उस से उस में शृंगार रस होता है। पाठक के हृदय में जो रति का भाव बीज रूप में विद्यमान होता है वह जब इस प्रकार के काव्य को पढ़कर जागृत हो जाता है तो उसे शृंगाररस की निष्पत्ति कहा जाता है।

इसी कथ्य को अनेक आचार्यों ने अनेक रूपों में व्याख्यात किया है। जहाँ नाटक में नट के अन्दर ऐसा रस दिखाई देता हो वहाँ शृंगार रस भरत मुनि ने बताया था किन्तु जहाँ ऐसा रस अस्तित्व में न हो, उसका आभास मात्र हो, जहाँ कवि ने अपनी कल्पना से रस बना दिया हो और उससे अलौकिक आनन्द की अनुभूति हो उसे क्या माना जाय, यह प्रश्न भी सामने आया। इसके अतिरिक्त कालिदास के इस वसन्त-वर्णन की बात अन्यत्र भी प्रकृतिवर्णन संस्कृत साहित्य में खूब मिलते हैं। यहाँ पुष्पों और भौरों में वास्तविक रति या शृंगार नहीं होता, उसका आभास मात्र होता है किन्तु उसे कवि इस तरह से निबद्ध करते हैं कि उनमें रति भासित होने लगती है। ठीक वही स्थिति यहाँ होती है जिसे पाश्चात्य आलोचकों ने पैथेटिक फैलेसी कहा है। जहाँ वास्तविक भावनाएँ नहीं हों किन्तु हमें भावनाएँ लगती हों (आरोप) वहाँ यह पैथेटिक फैलेसी मानी जाती थी। उसका नाम भी फैलेसी होते हुए भी किसी निन्दनीय अर्थ में नहीं आता था, यह साहित्य का अच्छा अङ्ग माना जाता था। आज चाहे आधुनिक वैज्ञानिकों ने भौरों और मछलियों तक के सेक्स का विश्लेषण कर दिया हो पर उस समय पशुओं में रति की असम्भाव्यता उसी प्रकार मानी जाती थी जिस प्रकार पेड-पौधों में। इसीलिए ऐसे प्रसङ्गों में जहाँ वास्तविक रति नहीं है किन्तु आभासित होती है, शृंगार का रसाभास माना गया। सम्भवतः इसी आशय को निबद्ध करने के लिए अभिनवगुप्त ने एक स्थान पर अनौचित्य शब्द इसी दृष्टिकोण से लिख दिया कि जहाँ रति की सम्भावना न हो वह अनुचित (असम्भाव्य) और जहाँ रति सम्भावित हो अर्थात् जहाँ रति का अस्तित्व उचित पाया जाय वहाँ उचित। इस अनौचित्य शब्द से ही शायद भ्रम यह हुआ कि जहाँ गलत या निन्दनीय

स्थितियाँ हो वहाँ रसाभास माना जाय । इसे लेकर मम्मट ने इसी आधार पर उदाहरण दे दिये और परवर्ती अनेक आचार्यों ने मम्मट का अनुसरण किया ।

संभवत: यही कारण है कि तब से लेकर अब तक सभी काव्यशास्त्रियों ने हमेशा इस पर संदेह और अस्पष्टता व्यक्त की है कि इसे उत्तम काव्य किस आधार पर माना गया । डॉ. नगेन्द्र ने अपने रस सिद्धान्त में भी मत–मतान्तर बताते हुए ऐसा ही संदेह[१४] व्यक्त किया । वे यद्यपि इस बात का स्पर्श तो कर पाये हैं कि तिर्यक् और अचेतन पदार्थों में रस का आरोप करके रसाभास मानने का कुछ काव्यशास्त्रियों ने मत दिया है और उसे वे पैथेटिक फैलेसी के सिद्धान्त तक भी ले[१५] गये हैं पर लक्षणकारों ने अनौचित्य शब्द जो लक्षणों में लिख दिया उसके कारण समाज की परम्पराओं के विरुद्ध श्रृंगार के वर्णन को भी उन्हें रसाभास मानना पडा और इसमें अपने चिन्तन के आधारपर कुछ प्रश्नचिह्न भी उन्होंने लगाये । डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने परिवर्तिनी लोकमान्यताओं पर आधृत होने के कारण रसाभास को नये युग में अप्रासंगिक बताया ।[१६] राजस्थान के कुछ अन्य आलोचकों ने भी जिनमें डॉ. पुष्करदत्त शर्मा और चन्द्रकिशोर गोस्वामी के नाम लिये जा सकते हैं ये ही प्रश्न चिह्न उभार कर प्रस्तुत[१७] किये और यह अभिमत भी व्यक्त किया कि लक्षणकारों ने सम्भवत: इस पर उतना विचार नहीं किया जितना होना चाहिए था । इन सब पर उपर्युक्त अभिमत के आधार पर सारे लक्षण और सिद्धान्त की व्याख्या की जाये तो कुछ गुत्थियाँ सुलझ सकती हैं ।

जैसा कि ऊपर बताया गया है रसाभास का क्षेत्र वहाँ माना जाय जहाँ आश्रय में आलम्बन के प्रति वास्तविक रति आदि स्थायि भावों की सत्ता या अस्तित्व सङ्गत नहीं बैठता (अनुचित या असङ्गत अथवा असम्भाव्य पाया जाता है), केवल कवि को आरोपित या आभासित होकर प्रतीत होता है तो कुछ निष्कर्ष सही दिशा में निकल सकेगा । हमारे इस कथन के पीछे अनेक व्याख्याकारों, लक्षणकारों और चिन्तकों का समर्थन भी उपलब्ध है । जिन विद्वानों को यह समस्या स्पष्ट प्रतीत हुई उन्होंने भी आभास का यही निर्वचन करने का प्रयत्न किया । इनमें अभिनवगुप्त सर्वप्रथम है जिन्होंने शुक्ति में रजत के आभास की उपमा देकर बताया कि जहाँ रति नहीं, केवल ''ऊहित'' है अर्भात् रत्याभास है, वहाँ रसाभास होगा, रावण यह समझता है कि सीता मुझ पर आसक्त है, अत: वह रत्याभास अनुभव करता है । उसकी उस रति में श्रृंगार है अत: वह श्रृंगार रसाभास हुआ । भरत के अनुसार नाटक में मंचीय उपयोग के लिये वह बाद में दर्शक के दृष्टिकोण से चाहे हास्यरस

की ही सृष्टि[१८] करे। काव्यप्रदीपटीकाकार गोविन्द ठक्कुर[१९], चमत्कारचन्द्रिका के रचयिता कविचन्द्र, काव्यानुशासन के लेखक हेमचन्द्र, प्रभावृत्ति के लेखक वैद्यनाथ, संकेतटीका के लेखक माणिक्यचन्द्र[२०], काव्यादर्श के[२१] लेखक सोमेश्वर भट्ट तथा अलङ्कार[२२] महोदधि के लेखक नरेन्द्रप्रभु सूरि एवं काव्य शिक्षा[२३] के लेखक बिनयचन्द्र सूरि ने भी इन्हीं आधारों पर रसाभास उन्हीं क्षेत्रों में मानने पर बल दिया है जहाँ आश्रय और आलम्बन इस प्रकार के हों जिनमें स्वभावत: रति न होकर आभास या आरोप के कारण कवि द्वारा बतायी गई हो। ऐसी स्थितियों में रसनिष्पत्ति पूरी होती है, काव्य चमत्कार और आस्वाद भी उतना ही होता है जितना रस में। केवल विवेचन की दृष्टि से सूक्ष्म और अवान्तर भेद करने की प्राचीन भारतीय लक्षणकारों की प्रवृत्ति के अन्तर्गत दो अलग-अलग क्षेत्र बता दिये गये। कालिदास के बसन्तवर्णन में किस सहृदय को उत्तम और उत्कृष्ट रसानुभूति नहीं होगी? फिर उसे रसाभास किसी अपकृष्टता के कारण थोडे ही माना गया हैं।

यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि तिर्यक् जातियाँ अर्थात् पशुओं आदि में रति का अस्तित्व नहीं मानने के कारण उसे ही रसाभास के उदाहरण के रूप में दिया गया है किन्तु जहाँ अन्य रसों का प्रश्न है, जैसे भयानक, वहाँ पशु में भी भय की स्थिति मानी जाने के कारण उसे आरोपित या आभास न मानकर रस ही माना गया है। मम्मट ने इसीलिए कालिदास के "ग्रीवाभंगाभिरामम्" श्लोक को भयानक रस के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया[२४] है भयानक रसाभास के रूप में नहीं। यह बात अलङ्कार महोदधि के लेखक नरेन्द्रप्रभु सूरि ने[२५] भी स्पष्ट की है। इस तथ्य से भी हमारा ही यह पक्ष पुष्ट होता है कि सामाजिक लोकमान्यताओं की दृष्टि से उचित-अनुचित का प्रश्न रसाभास के विषय में नहीं उठता, केवल वास्तविक-अवास्तविक का ही उठता है।

अनौचित्य शब्द से जो भ्रम पैदा होता है तथा आभास शब्द का अर्थ हेत्वाभास के साम्य के कारण जिस प्रकार अपकृष्ट हो गया है उससे यह सारी विमर्श परम्परा शुरू होना स्वाभाविक ही था, यह अनुमान भी इस विवेचन के बाद स्वभावत: स्पष्ट हो जाता है।

इसी क्रम में यह विचार भी किया जा सकता है कि जिस प्रकार अनौचित्य के कारण भावाभास माना गया उसी प्रकार उन्हीं स्थितियों में अनौचित्य के रहते हुए यदि भावोदय, भावशान्ति, भावशबलता आदि हों तो उन्हें भावोदयाभास, भावप्रशमाभास और भावशबलताभास आदि क्यों नहीं माना गया? इसका भी कोई सुसंगत आधार

प्रतीत नहीं होता। अनौचित्य की परिभाषा सामाजिक वर्जना के आधार पर करने के बावजूद भी यह भेद माने जा सकते थे। इसी प्रकार आरोप या आभास के आधार पर निर्वचन करने पर भी क्या यह भेद माने जा सकते हैं? इस पर अधिक विचार अपेक्षित है। "इस प्रकार भेदों की आवश्यकता नहीं है", इसके पक्ष में केवल एक ही तर्क दिया जा सकता है, वह यह कि तिर्यक् और अचेतन पदार्थों में रस और भाव का आरोप तो किया जा सकता है पर इतनी बारीक स्थितियाँ उनमें कहाँ पायी जायेंगी कि किस भाव का उदय हुआ या समाप्ति हुई? यह तर्क हमारे इस मत को और पुष्ट करता है यद्यपि इस तर्क में अधिक वजन नहीं दिखता। हमारा उद्देश्य तो यहाँ केवल यही है कि रसाभास परिभाषा परम्परा, रूढी और लक्षण के विषय के विवेचकों को जो संदेह हुए हैं और अनेक विवेचकों ने इस बात पर बार-बार प्रश्न चिह्न लगाये हैं कि इस जगह रस क्यों नहीं माना गया, रसाभास क्यो माना गया, उन सबका कुछ समाधान उपर्युक्त विवेचन में मिल सकता है। किसी समय विशेष में किसी आचार्यविशेष द्वारा जो परिभाषा लिख दी जाये उसे आचार मानकर चलने से ऐसी स्थितियाँ पैदा हो जाना असम्भव नहीं। स्वयं अंग्रेजी के पैथिटिक फैलेसी शब्द के साथ भी यही हुआ है। दर्शन के क्षेत्र में इसे सम्यक् ज्ञान न मानकर मिथ्या ज्ञान माना गया था। अत: शब्द को देखकर तो यह भ्रम होना ही था कि यह कोई दोष या हीनता की स्थिति है। अत: रस्किन[२६] ने इस पर भी बहुत विवेचन किया है। किन्तु काव्यशास्त्रियों ने इसे काव्य के लिए शोभाजनक और अलङ्कारस्वरूप ही बताया। हडसन ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया कि यह दोष नहीं[२७] गुण है। ऐसा ही एक उदाहरण है अर्वाचीन संस्कृत काव्यशास्त्र का सहृदयता शब्द। अधिक सहृदय होना सामान्य स्थिति नहीं है, ऐसी विवेचनासरणि अपनाते हुए रसगंगाधरकार पंडितराज जगन्नाथ ने इसे सहृदयताख्य दोष कहकर उद्धृत किया[२८] है। इस शब्द से भी यह लगता है कि यह कोई बुरी चीज है किन्तु स्वयं उन्होंने विवेचन में यह स्पष्ट किया है कि यह काव्य-रसिक के लिए बडा गुण माना गया है, जिसके बिना काव्य का आस्वाद ही नहीं हो पायेगा। ऐसी ही कुछ स्थिति रसाभास की भी हुई लगती है। यही कारण है कि डॉ. नगेन्द्र ने 'रससिद्धान्त' में यह बात गले उतरती नहीं पाई कि ऐसे प्रकृतिवर्णनों में (जैसे कालिदास का वसन्तवर्णन) रस क्यों नहीं माना गया? रसाभास क्यों? डॉ. नगेन्द्र के अन्दर का न्यायप्रिय आलोचक इन वर्णनों की रसवत्ता को अन्य रसविषयों की बजाय किसी भी भाँति कस नहीं पाता। अत: उसे रसाभास का लांछन देकर नीचा दर्जा दिया जा रहा है। यदि उनके अन्तर्मन

में 'रसाभास' शब्द के साथ का यह हेयता का एसोशियेशन न होता तो उन्हें इतनी पीडा क्यों होती? रस हो या रसाभास, दोनों उत्तम काव्य हैं— बिलकुल प्रथम श्रेणी के। केवल वर्गीकरण के लिए भेद हैं— प्रथम श्रेणी के ही दोनों डिब्बे हैं— एक उत्तर रेल्वे का, दूसरा मध्य रेलवे का, तब क्या कोई छोटा बडा हो गया? फिर यह शोक क्यों ? अन्य सभी आलोचकों के, जिन्होंने इस शब्द की परिभाषा पर प्रश्नचिह्न लगाये हैं, अवचेतन का यह 'हेयता साहचर्य बोध' ही इन सब ऊहापोहों का कारण रहा है। आश्चर्य केवल इतना सा है कि जगन्नाथ पंडितराज जैसे तत्त्वदर्शी आलोचक भी, नव्यन्याय के इस 'एसोसियेशन' के कारण ही, रसाभास की यही परिभाषा कर गये.। उनका मूल आधार तथा अभिगम नव्यन्याय का ही था अतः ऐसा होना अपरिहार्य था।

कलानाथ शास्त्री

निवर्तमान अध्यक्ष,
राजस्थान संस्कृत अकादमी,
सी-८, पृथ्वीराज रोड,
जयपूर

टिप्पणियाँ

१. "इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद्, ध्वनिर्बुधैः कथितः"। (काव्यप्रकाश,१-४)

२. "रस-भाव-तदाभास-भावशान्त्यादिरक्रमः" । (काव्यप्रकाश, ४-२६)

३. "अनेकान्तो विरुद्धश्चाप्यसिद्धः प्रतिपक्षितः । कालात्ययापदिष्टश्च हेत्वाभासास्तु पंचधा । तल्लक्षणं तु तद्विषयकत्वेन ज्ञानस्यानुमितिविरोधित्वं तत्वम् ।" (न्यायसिद्धान्तमुत्तावली, २-७१)

४. "तत्र रसाभासत्वं रसत्वादिना न समानधिकरणं, निर्मलस्यैव रसादित्वात् हेत्वाभासत्वमिव हेतुत्वेन इत्येके ।" (रसगंगाधर-प्रथमानन, पृ. ११९)

५. काव्यप्रकाश (४-३६)

६. प्रथम उद्योत ।

७. प्रतिबिम्बादिवदवास्तवस्वरूपम् । सदृशः प्रतिबिम्बम् इति वेदान्तः । (शब्दकल्पद्रुमः)

८. अनुकृतिरमुख्यता, आभास इति ह्येकोऽर्थः (ध्वन्यालोक-लोचन, प्रथमोद्योत)

९. सौष्ठवभृतोऽपि नीरसा एव नियमेन भवन्ति, तत्र त्वनौचित्यमेव हेतुः ।"तदयमेव परमार्थः "अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम् । प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु

रसस्योपनिषत्परा (आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक तृतीयोद्योत)

१०. "कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता । दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः।" (साहित्य-दर्पण, प्रथम परिच्छेद)

११. "तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः ।" के बाद भी यद्यपि मम्मट ने कहीं यह स्पष्ट नहीं लिखा है कि अनौचित्य का अर्थ लोक मर्यादा द्वारा निर्धारित उचित-अनुचित विषयों के आधार पर किया जाए किन्तु उन्होंने "स्तुमः कं वामाक्षि" के उदाहरण में जो योजन किया है उससे लगता है कि उन्हीं से इस आशय की परिभाषा प्रारम्भ हुई ।

१२. देखो, कुमारसम्भव तृतीय सर्गः वसन्तवर्णन - "मधु द्विरेफःकुसुमैकपात्रे आदि पद्य (३-३६)

१३. "काव्ये नाट्ये च कविना नटेन च प्रकाशितेषु विभावादिषु, व्यंजन व्यापारेण दुष्यन्तादौ शकुन्तलादिरतौ गृहीतायाम्" जगन्नाथ-रसगंगाधरः प्रथमआननः रसलक्षण

१४. "रससिद्धान्त" के पंचम अध्याय (घ) में उन्होंने इस प्रकार की परिभाषा को नैतिक दृष्टि से तो गले उतरती बताया है पर प्रश्नचिह्न लगाये हैं कि भक्तिमार्ग की एक शाखा में जहाँ परकीया भाव तथा बहुवल्लभत्व का प्राचुर्य है वहाँ क्या होगा। अनुभयनिष्ठ या एकांगी रति फारसी और उर्दू जैसी भाषाओं की शायरी में प्रमुख है। अचेतन-विषयक और तिर्यक् रति भी कालिदासादि में रसमय लगती है । अतः यह सब "नीतिसम्मत होते हुए भी न्यायसंगत नहीं है और इसीलिए उसे सार्वभौम स्वीकृति प्राप्त नहीं हो सकती ।"

१५. "यूरोप के काव्य में भी एक ऐसा समय आया था जब विवेकी आलोचकों को प्रकृति के भावनात्मक चित्रों में चैतन्याभास या भावाभास (पैथेटिक फैलेसी) नामक दीप की कल्पना करनी पडी थी परन्तु कल्पना के बढते हुए पंखों को छाँटने में यह दुर्बल कर्तरी एकदम असमर्थ सिद्ध हुई कहकर उन्होंने संकेत मात्र किया है। (घ-पंचम अध्याय-रससिद्धांत)

१६. भारतीय काव्यशास्त्र का अध्ययन — डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, १९७९, सप्तम अध्याय-रसवाद, "रसाभास और रस की असंगति" पृ. ४०५

१७. लेख "रसाभास के लक्षण में रूढि, सीमा एवं कारण" श्री चन्द्रकिशोर गोस्वामी "अध्ययन अनुसंधान" पत्रिका जयपूर अंक ५, मार्च १९७७, डॉ. पुष्करदत्त शर्मा, "रससिद्धान्त का चक्रव्यूह और रसाभास" (अध्ययन अनुसंधान पत्रिका,

अंक १, पृ. २२)

१८. "यद्यपि शृंगारानुकृतिर्या तु स हास्य:" इति मुनिना निरूपितं तथाप्यौत्तरकालिकं तत्र हास्यरसत्वम् ।" अभिनव गुप्त, ध्वन्यालोकलोचन, द्वितीयोद्योत ।

१९. "तच्चैकाश्रयत्वे तिर्यगादिविषयतायाम् " (काव्यप्रदीप: काव्यप्रकाश)

२०. "तथा निरिन्द्रियतरुलतातरुनदीशैलादे: सेन्द्रियपश्वादेश्च य: काव्ये कामादिव्यवहारस्तत्र रसभावाभासतैव ।" (संकेतटीका)

२१. आभासोनुकृतिरमुख्यतेति एकोऽर्थ: । तेन निरिन्द्रियेषु तिर्यगादिषु चारोपणात् तदाभास: ।

२२. तिर्यगादिष्विन्द्रियवर्जितेष्वपि च नायकत्वारोपात् रसाभासा, भावाभासा: ।

२३. निरिन्द्रियेषु तिर्यगादिषु चारोपाद रसभावाभासौ ।

२४. काव्यप्रकाश: चतुर्थ उल्लास: भयानक रस का उदाहरण (नवरस भेद प्रसंग में)

२५. इदं च तिर्यगादिगमतमाभासत्वं शृंगारविषयमेव, नान्यरसविषयम् ।"ग्रीवाभंगाभिराभम्" इत्यादावप्याभासत्व-प्रसंगात् ।

२६. "मोडर्न पेन्टर्स्" खण्ड ३ भाग ४ "द पैथेटिक फैलेसी" अध्याय में उन्होंने इसे विषयिगत दोष माना है ।

२७. "ए इंट्रोडक्शन टु द स्टडी ऑफ लिटरेचर" डब्लू. एच. हडसन, अध्याय ३ "द स्टडी ऑव पोयट्री" ।

२८. प्रथमानन, रसलक्षण, "नव्यास्तु" से प्रारंभ होने वाला तृतीय मत "सहृदयतोत्वासितस्य भावनाविशेषरूपस्य... दोषस्य महिम्ना... ।" स्पष्ट है कि असाधारण स्थिति होने के कारण पंडितराज इसे दार्शनिक या मनस्तात्त्विक दृष्टिकोण से सिद्धान्तत: "दोष" कहते हैं पर इसे हेय नहीं मानते, श्लाघ्य ही मानते हैं ।

परामर्श (हिंदी) प्रकाशन

आत्मस्वीकृति – ले. प्रो. सुरेंद्र बारलिंगे
अनु. प्रा. राजमल बोरा
सं. डॉ. सुभाषचंद्र भेलके

पृ. ८८ मूल्य रु. ६०।-

मनुष्य और समाज के गौरवशाली अस्तित्व की प्रस्थापना में दर्शन किस तरह अपनी भूमिका अदा कर सकता है ? दार्शनिक का भावविश्व एवं विचार-विश्व किस तरह का होता है ? दार्शनिक अपना जीवन किस तरह व्यतीत करता है ? इन प्रश्नों की खोज का समाधान दिलानेवाली यह पुस्तक अवश्य ही पाठकगण के लिए नयी दृष्टि प्रदान करेगी ।

नव्यन्याय के पारिभाषिक पदार्थ (प्रथम खंड)

ले. डॉ. बलिराम शुक्ल

पृ. २१० मूल्य : रु. १६०।-

नव्यन्याय के अध्ययन के लिए पारंपरिक शिक्षा की आवश्यकता है । लेकिन प्राथमिक स्तर पर तथा तौलनिक अभ्यासकों के लिए नव्यन्याय के पदार्थों का मौलिक परिचय होना जरूरी है । इस दृष्टि से यह पुस्तक पाठकों की सहायता करेगी ।

भारतीय संगीत का जीवन-दर्शन

आज भू-मंडलीय एकीकरण के प्रयास हर क्षेत्र में किये जा रहे हैं साथ ही अपनी विशिष्ट पहचान बनाने की ओर भी प्रयास करना होता है। ऐसे स्थलों पर संगीत की तरफ से हम कहना चाहते हैं कि भू-मंडलीय एकीकरण के साथ-साथ अपनी विशिष्ट पहचान बनाने में कला, विज्ञान, वाणिज्य, राजनीति, तकनीकी सब को समुचित प्रोत्साहन मिलना चाहिए। एक उत्कृष्ट एवं स्वतंत्र कला के रूप में भारतीय संगीत हमारी राष्ट्रीय संस्कृति को पूर्व काल से आज तक ढोती आयी है। संगीतकार स्वयं में एक सामाजिक इकाई है। समाज से वह कुछ लेता है और समाज को कुछ देता है। वह एक सामाजिक प्राणी है। किसी भी संगीतज्ञ का सामाजिक स्तर आर्थिक स्वतंत्रता और मानसिक संरक्षण निश्चित रूप से पूरे समाज को प्रभावित करता है। विश्वशांति सद्भाव और पारस्परिक सहिष्णुता हेतु किये जाने वाले प्रयासों में सांगीतिक अनुष्ठान, संगीत सम्मेलन और सांगीतिक गोष्ठी का सर्वोपरि महत्त्व सर्वजन स्वीकृत है।

स्वर संधान तथा संगीत प्रदर्शन क्रम में संगीत के परमाणु मानवीय दुर्बलताओं को नियंत्रित कर उसकी सात्त्विक वृत्तियों को प्रशस्त करके आत्मिक शक्ति का आविर्भाव करते हैं। जिसका प्रभाव मानव-जगत्, पशु-जगत्, तथा वनस्पति-जगत् पर पडे बिना नहीं रहता। जब समाज में राजनीतिक स्थिरता आती है तो समाज का आर्थिक विकास होता है। उस समय घट रही हर घटना स्मृति पर चली जाती है और वह इतिहास बन जाती है। बीते इतिहास को हम उसी तरह दुहरा नहीं सकते लेकिन उसकी अमिट छाप उस समय की विभिन्न कलाओं में परिलक्षित होती है जिससे बदलती परिस्थिति के अनुरूप नई दिशा ढूँढते हैं। इस संदर्भ में विचारणीय है कि राजनीतिक स्थिरता आर्थिक विकास की अनिवार्य शर्त है जिसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति हम विभिन्न श्राव्य-दृश्य कलाओं में प्रत्यक्ष करते हैं। प्राचीन कालीन वस्तु, मूर्ति, चित्र, काव्य, एवं विभिन्न गायन शैली इनके अनमोल उदाहरण हैं।

संगीत भारत की वह कला है जो अन्य ललित कलाओं की तरह 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम' के भाव को जीवन दृष्टि बनाती है और मानवीय अनुभूतियों के विविधताओं का समन्वय करती हुई विश्वजनीन बन जाती है। यह ऐसी कला है जो

अपनी अभिव्यक्ति में ब्रह्मानुभूति कराने में सक्षम है ।

चूँकि इस कला की न्यूनतम इकांई श्रुति और स्वर हैं । ये श्रुति और स्वर मधुर ध्वनियों के अनेक अनुरणन को एक करने से बनते हैं । साथ ही यह भी देखा जाता है कि ये ध्वनियाँ मधुर हों । इस तरह संगीत विभिन्न ध्वनियों को मिलाने वाली वह कला है जिसके द्वारा मनोभावों के प्रदर्शन में रोचकता, माधुर्य एवं विविध बोली, पक्षियों के उन्मुक्त कलरव, वायु की सनसनाहट सब को सम्मिलित कर लेता है । प्रकृति की ओर अपना ध्यान आकर्षित करने पर हम पाते हैं कि नदी की कलकल ध्वनि, पहाडियों में गिरते हुए झरनों का जल-स्वर, वायु की सनसनाहट, इन सभी की अलग-अलग ध्वनियाँ प्रतिध्वनित होकर संगीत का रूप धारण कर लेती हैं । भारतीय संगीत निश्चित ही स्वाभाविक विद्या है लेकिन जिस तरह अन्य विद्या के स्वाभाविक होने पर भी व्यक्तित्व में परिमार्जन हेतु उसे सीखना आवश्यक है । इसी तरह संगीत का विधिवत् प्रशिक्षण लेने पर ही हम इस विद्या को सीख सकते हैं । यह ऐसी विद्या है जिसकी ध्वनि पर मुग्ध होकर विषैले जीव-जन्तु भी इसके आकर्षण में बँध जाते हैं । इसमें विभिन्न रोगों के निवारण की क्षमता है । यों तो संगीत का इतिहास ई. पू. ६००० वर्ष पहले से देखा जाता है । लेकिन यहाँ हम स्पष्ट करना चाहते हैं कि वैदिक काल से आज तक भारत में संगीत का उपयोग मानव की भौतिक, मानसिक और मनोवैज्ञानिक दुर्बलताओं से मुक्त होने के लिए किया जाता रहा है ।

संगीत का प्रभाव मानव जीवन पर जन्म से मृत्युपर्यन्त देखा जाता है । गहराई से उतरने पर हम पा सकते हैं कि ऐसा होना संगीत की 'उत्पत्तिजन्य' परिस्थिति ही है । क्योंकि संगीत की उत्पत्ति श्रुतियों और स्वरों के मेल तथा उनके क्रम संचय के साथ हुई है । श्रुतियाँ मधुर ध्वनियाँ हैं जिनमें सम्मोहन एवं ऐक्य क्षमता है । कला रूप में संगीत और नृत्य की विशिष्टता यह है कि सर्वाधिक अमूर्त विद्या होते हुए भी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति के लिए विशेष उपयोगी है और इनसे मन का सूनापन मिटता है । गणना के प्रति सजग रहे बिना भी सम्पूर्ण विश्व में निहित सामंजस्य पूर्ण गणना की भावपूर्ण अभिव्यक्ति है । जैसा कि हिन्दी विश्वकोश में कहा गया है- जब स्वर और लय व्यवस्थित रूप धारण करते हैं तब एक कला का प्रादुर्भाव होता है और इस कला को 'म्युजिक' या 'मौसिकी' कहते हैं, जिसे ब्रह्म-सदेह या नाद-ब्रह्म कहा गया है ।[१] तात्पर्य यह है कि गायन, वादन एवं नृत्य इन तीनों का एक जगह उपस्थित होना ही 'संगीत' है । नृत्य अंगों और भावों की सौंदर्यमयी

भाषा है । हर्ष, शोक, भय आदि भावों की उत्पत्ति मानव जाति के जन्म के साथ ही हुई है और इतना ही पुराना इसका इतिहास भी है । मानवीय सभ्यता के विकास में नृत्य का महत्त्वपूर्ण योगदान है- शरीर विज्ञानी, मनोविज्ञानी तथा विकासवादी विद्वानों ने ऐसा ही माना है । विल्हेमबुण्ट का मत है कि भाषा विकास से पूर्व आरम्भ में नृत्य ही मानव की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति[२] का माध्यम था ।

सांगीतिक राग-रागिनि की रचना करते समय मस्तिष्क को केन्द्रित करना, ध्यान एकाग्र करना, मन के आंतरिक भावों को प्रकाशित करने हेतु नवीन रागों की संयोजना करते समय मनुष्य का संगीताभ्यास, योगाभ्यास के समान होता है । जैसे किसी भाषा के निर्माण के लिए वर्णमाला सबसे छोटी इकाई कही जाती है, उसी तरह संगीत की सबसे छोटी इकाई स्वर ही है जिसकी रचना श्रुतियों के मेल से होती है । श्रुतियों की रचना ध्वनि के उतार-चढाव को समझ कर की जाती है । ध्वनि की ऊँचाई पहचानने पर हम शब्दों के अर्थ और उनके सही उच्चारण को जानते हैं। जिन मधुरतम ध्वनियों से हम सांगीतिक श्रुतियाँ अलग करते हैं, उनमें ध्वनियों की ऊँचाई-निचाई से विविध मनोभावों की जानकारी मिलती है, साथ ही इन्हीं से मनोभावो की अभिव्यक्ति भी होती है, क्योंकि इन्हें जानकर ही हम मानव सहित पशु-पक्षियों, वनस्पति-जगत् के सभी संगीत के प्रभावों को जान सकते हैं । राग-रागिनियों की रचना कैसे हुई ? इनका विकास कैसे हुआ ? इनके गंभीर अध्ययन से स्पष्ट होता है कि इनके पीछे ये ही कुछ कारण रहे हैं । उदाहरण के लिए राग-तोडी हिरण को मोहित करता है, बीन की ध्वनि पर सर्प मंत्र-मुग्ध हो जाता है और मृदंग की आवाज से हाथी मस्त हो जाता है । कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि वृन्द-वादन से प्रसारित भयानक ध्वनि हमें भयभीत कर देती है ।

इन्हीं कारणों से हमारे वैदिक ऋषियों ने मानव, पशु-पक्षियों पर सांगीतिक श्रुतियों के प्रभावों का गहन अध्ययन किया है । अध्ययन से मिले परिणामों को उन्होंने प्रत्येक श्रुतियों पर मनोभावों को नियोजित कर बताया है, श्रुतियों के मेल से उद्भूत स्वरों के मनोभावों को भी बताया है । वेदों में औषध तथा शक्ति दोनों रूपों में संगीत कला प्रयोग हुई है । बाह्य जगत् में अथवा मानव शरीर के भीतर की कोई भी वस्तु जो हवा में तेजी से कंपन करती है ध्वनि (आवाज) या तरंग उत्पन्न करती है। हवा के माध्यम से संचारित ध्वनितरंगे ठोस या तरल पदार्थों से होकर भी आगे बढ सकती हैं । ध्वनि के पैदा होने के लिए कोई ऐसा माध्यम होना चाहिए जिसमें अणु अपने पास के अणुओं से टकरा सकें । टकराकर ये ध्वनियाँ आगे बढती हैं।

ध्वनियाँ कटु भी होती हैं तथा कर्णप्रिय भी । कई तरह की ध्वनियों में सांगीतिक ध्वनि हमें अच्छी लगती हैं जबकि शोर उत्पन्न करने वाली ध्वनि हमें परेशानी में डाल देती हैं । शरीरजन्य तथा सांगीतिक उपकरणों से उत्पन्न ध्वनि नियमित तथा एक समान तरंग-लम्बाई की होती हैं, जब कि शोर आम तौर पर कई तरंग लम्बाईयों की ध्वनि तरंगों के आपस में मिलने से पैदा होती हैं । अनियमित प्रघात के रूप में प्राप्त ध्वनि तरंगे श्रवण स्नायुओं के जरिए कान के पर्दे पर पडकर कर्णप्रिय न लगकर कर्णकटु लगती हैं ।

संगीत के शास्त्रज्ञ यह स्वीकार करते हैं कि श्रुति स्वर आदि सांगितिक ध्वनियाँ नादोत्पन्न हैं । हमारे दार्शनिक कहते हैं 'नादाद् बिन्दु समुद्भाव:' इससे पता चलता है कि ध्वनि के सांगीतिक विचार ने नाद अथवा नाद-ब्रह्म के सिद्धान्त को उत्पन्न किया तदुपरान्त शब्द-ब्रह्म के सभी विशेष गुणों को नाद-ब्रह्म से स्वभावत: संबंधित कर लिया गया । नाद वायु महाभूत से उत्पन्न हुआ प्राणवायु है । जिस तरह वायु महाभूत अदृश्य है उसी तरह प्राण वायु नाद भी अदृश्य है । नाद की अभिव्यक्ति पिंड में होती है जिसमें प्राणतत्त्व सहायक होता है । नाद की अभिव्यक्ति के लिए नाद उत्पादन करनेवाला, नाद को ग्रहण करनेवाला और नाद को वहन करने वाला तीनों उपकरण चाहिए ।[३] तीनों संगीत से सिद्ध होते हैं । नाद सदा ही गमनशील, क्रियाशील है । संगीत कला परनाद अथवा शब्द-ब्रह्म को प्रदर्शित करती है[४] तथा यह कला मधुर ध्वनियों के साधन से स्वप्रदर्शित वस्तु अर्थात् शब्द-ब्रह्म के अनुभव की ओर श्रोता को ले जाती है ।

राग मानव के कुछ संवेदनशील रसों की ओर संकेत करते हैं जो किसी समय पर जीवन में होने वाली घटनाओं अथवा परिस्थितियों द्वारा उद्वेलित हो जाते हैं। हमारी जो स्वाभाविक ध्वनि है उसे नियमित रूप श्रुति तथा स्वर देते हैं ।

हम प्राकृतिक ध्वनियों को रूपान्तरित कर श्रुति तथा स्वरों को मेल देकर अपनी इच्छानुसार एक आकार देते हैं और उनका गायन कर प्रयोग में लाते हैं। संगीत के शास्त्रकार बताते हैं कि श्रुति तथा स्वरों का मेल इस प्रकार का हो कि इनका अबाध रूप से गायन भी हो सके साथ ही इन स्वरों का आनंद भी मिल सके। हमारी संस्कृति में जहाँ संगीत को व्यक्तिगत मनोरंजन का साधन माना गया है वहीं इसे आत्मा और परमात्मा के संयोग का साधन बताया गया है ।

मध्यकालीन संगीतशास्त्रज्ञ पंडित शार्ङ्ग देव ने मानव शरीर के कुछ चक्रों का परिचय दिया है । इन चक्रों पर कुंडलियों का नियंत्रण योगाभ्यास द्वारा बताया गया

है। इनमें से पाचवीं कुण्डली को हृदय में स्थित बताया जाता है इसे ही आहत नाद कहते हैं। ज्ञान-विज्ञान की समस्त कथाओं और उनके तकनीकी विकास का स्रोत यही नाद है। नाद ही मस्तिष्क का निवास स्थान माना गया है। नाद का संबंध मस्तिष्क के बुद्धि-कोष से है और यह सोचता है तथा विविध अविष्कारों की प्रेरणा देता है। मस्तिष्क को किसी स्थान पर केन्द्रित करने के लिए इसकी क्रियाओं पर नियंत्रण रखना आवश्यक है। रागों की रचना में उपर्युक्त बातों का विशेष ध्यान रखा गया है। यह ठीक है कि अक्षर स्वर का आधार है लेकिन स्वर का संबंध रस है और रस का संबंध जल से है। जल से ही समस्त सृष्टि विकसित होती है उसी में यह (सृष्टि) विलीन हो जाती है। यह भाषा रहित स्वर-संगीत ही था (श्रीकृष्ण की वंशी की धुन) जिसके आवाहन से सोलहसहस्त्र गोपबालाओं ने मध्य रात्रि में यमुना के निकट एकत्र हो श्रीकृष्ण के सान्निध्य में 'महारास' को पूर्ण किया था। भाषा के माध्यम से इतनी गोपियो को एक-एक कर बुलाने में शायद कई वर्ष लग जाते। अस्तु स्वर की महिमा में उद्धरित निम्न श्लोक विचारणीय है :-

मृगः सोऽपि तृणाहारो विचरन्नटवीं सदा।
लब्धकादपि संगीत श्रुत्वा प्राणान् प्रयच्छति ॥[5]

भाषाहीन स्वर संगीत के प्रभाव में मृग पशु प्राणों की आहुति दे देता है। वैसे तो जन्म से मृत्युपर्यन्त हर समय और हर जगह हमारा सम्पूर्ण जीवन ताल-लय बद्ध है। आलंकारिक रूप में यह कहना सर्वथा सत्य है कि जीवन रूपी अध्याय के हर पृष्ठ पर संगीत वर्तमान है। हमारे प्राचीन ग्रन्थकारों ने भाषा संबंधी दर्शन के अन्तर्गत ध्वनि, अक्षर, शब्द, आदि का वैज्ञानिक प्रतिपादन किया है। इनके सांगीतिक विवेचन क्रम में हमें आत्मानुशासन मिलता है और स्वर-ब्रह्म से तादात्म्य कोई अनुशासित मानव ही स्थापित कर सकता है।

मानव विज्ञान समस्त मानव की प्रकृति एवं मानव व्यवहार को समझने के लिए विश्वव्यापी संस्कृतियों का अध्ययन करता है। विश्व के विभिन्न क्षेत्रों के मानव का सांस्कृतिक अध्ययन 'सांस्कृतिक मानव विज्ञान' करता है। 'सांस्कृतिक मानव विज्ञान' के तुलनात्मक अध्ययन का क्षेत्र धर्म, अर्थ, न्याय, लोक-कथा, प्राचीन कला के साथ ही संगीत शास्त्र भी रखा गया है।[6]

आज वैज्ञानिक और प्राविधिक उत्कर्ष ने हर ओर परिवर्तन ला दिया है। जहाँ इन उत्कर्षों ने हमारे दैनन्दिन जीवन में अनगिनत सुविधाएँ जुटाई हैं वहीं दिनोंदिन एक सत्य उभर कर सामने आ रहा है कि अनुभूत मानव मूल्यों के प्रति हमारी

अनास्था निरंतर बढती जा रही है । हम विज्ञान से विरोध नहीं रखते साथ ही वैज्ञानिक दृष्टिकोण के पक्षधर भी हैं इसलिए विज्ञान को हम अपनी दैनिक आवश्यकता मानते हैं । तब समस्या कहाँ है ? समस्या वहाँ से उत्पन्न होती है जब विज्ञान पर आत्मिक चेतना का नियंत्रण नहीं रहता । फलस्वरूप मानवीयता और मानवीय संस्कृति दोनों में उत्तरोत्तर ह्यासोन्मुखी प्रवृत्ति बढती जाती है । वर्तमान समय में जगत्-व्यापी विनाशलीला के कई कारणों में एक महती कारण वैज्ञानिक प्रगति पर आत्मिक चेतना का अनियंत्रण स्वीकारा जाता है । लेकिन इस प्रगति के साथ प्रेम, सौंदर्य, सत्य, और आत्मबोध लेकर चलें तो शायद धरती का जीवन स्वर्ग में परिणत हो जाये । संगीतशिक्षा मानव को मानव से जोडने का काम करती है । जोडने की शक्ति संगीत की मधुर ध्वनियों में है । ये ध्वनियाँ प्राणिमात्र के स्वरूप को भावात्मकता देती हैं लेकिन इसका उद्घाटन और सम्पादन अर्थात् व्यापक विचार एवं व्यवहार संगीत तथा दर्शन के सम्मिलित अध्ययन से संभव होता है । वर्तमान समय में भारत सहित सम्पूर्ण विश्व अलगाव-वादी प्रक्रिया से घिर गया है। मानव की भोगोन्मुखी प्रवृत्ति से उपजी अशांति और अराजकता ने पुनः जीव-जगत् के अस्तित्व को विनाश के कगार पर पहुँचा दिया है । ऐसे समय में आवश्यकता इस बात की है कि हम अपनी कालजेयी रत्नगर्भा वैदिक संस्कृति का मंथन कर वह अमृत निकालें जिसका पान कर हम सामाजिक, राजनैतिक विकृति के रोगों से मुक्त हो सकें । अपनी घातक सभ्यता से दुखी तथा कथित सुसभ्य पाश्चात्य जगत् पुनः उत्कट अभिलाषा लिए भारत की ओर देख रहा है । राष्ट्रचिंतक, साहित्यकार, वैज्ञानिक, संगीतकार सबों को मिलकर संस्कृति, अनुशासन पर विचार करना है; दिशाएँ खोलनी हैं । क्योंकि मानव से मानव की भावात्मक एकता की संगीत ने हर काल में विश्व स्तर पर बढाया है । यदि हम इस ललित कला का अध्ययन दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक समाजदर्शन के धरातल पर करके आधुनिक युग के अनुरूप दिशा निर्देश करें तो बहुत हद तक मानसिक तनाव, साम्प्रदायिक झगडे, वर्गभेद, क्षेत्रीयता जैसी समस्याएँ सुलेंगी । भारतीय संगीत अपने प्रयोग में समाज की ऐक्य प्रस्तुति है, इसलिए सामाजिक अनुशासन, सामाजिक एकता तथा सामाजिक व्यवहार संगीत के माध्यम से संबंधित होते हैं । मानव व्यक्तित्व में मन की भूमिका अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह मानव के समस्त क्रिया-कलापों को प्रभावित करता है । ये क्रिया-कलाप मानव के सामाजिक जीवन से संबंधित होते हैं । संगीत का संबंध मानव मन से ही है । राष्ट्ररूप में भारत जब तक प्रमादी, उग्रवादी, अतिवादी तत्वों

की वासनामयी तृष्णा से अपनी मर्यादा को बचाता रहा है तब तक संगीतमय समस्वरता से हमारा जीवन शांतिपूर्ण सर्वांगीण विकासहेतु प्रयत्नशील रहा है क्योंकि लय-ताल युक्त सांगीतिक समस्वरता के लिए सतत अभ्यास एवं अनुशासन आवश्यक शर्त है। जिनके हृदय में दया, प्रेम, स्नेह, करुणा के भाव होते हैं उनके शारीरी वीणा (कंठ) से नि:सृत संगीत की सुरीली धारा अपनी अभिव्यक्ति में श्रोता के हृदय की घृणा, द्वेष, आक्रोश, कलह और हिंसा के भाव को पिघलाकर अच्छे भावों में परिणत कर देती है। संगीत सीखने की प्रथम शर्त प्रेम है। जिसकी अभिरुचि संगीत में है वे सरल करुणामय, दयावान, स्नेही और सहयोगी होते हैं। जब हृदय के कोमल भाव पिघलते हैं तभी कंठ से सुरसरिता बहती है।

भारतीय संगीत के विविध राग विविध मनोदशाओं के द्योतक हैं। जिस राग से जैसा भाव उत्पन्न होता है वैसे ही रस का संचार व्यक्ति में होता है। प्रत्येक रागों के गायन का समय यहाँ निर्धारण किया गया है तथा निर्देश भी यही है कि राग के समय का ध्यान करते ही रागों को प्रस्तुत किया जाय, क्योंकि कुसमय में कोई रागं गाने-बजाने से न तो श्रोताओं पर अच्छा प्रभाव पडता है और न राग से रसोत्पत्ति ही संभव है।

'सा रे ग म प ध नि', जो इसके मूल स्वर हैं उनकी सारणी में वंश, जाति, द्वीप, ऋषि, देवता, छंद तथा रस निर्धारित हैं। जो लोग इतिहास में उल्लिखित तानसेन और गायक बैजू की संगीत स्पर्धा को किम्वदन्ती मानते हैं इनके समक्ष वाग्देवी के वरद पुत्र पं. ओंकारनाथ ठाकुर द्वारा किये गये प्रयोग को उद्धरित करना चाहते हैं। पं. ओंकारनाथ ठाकुर ने चिडियाघर के बर्बर शेर को कोमल गंधार वाले राग का श्रवण कराकर दुम हिलाने पर मजबूर किया था। प्रख्यात वनस्पति शास्त्री सर जे. सी. बोस की प्रयोगशाला में भैरवी राग के गायन से पौधों पर पडे प्रभाव का अध्ययन हम नकार नहीं सकते। अभी भी अन्नामलाई विश्वविद्यालय में वनस्पति विभाग के छात्र प्रयोग में रत हैं। प्रयोग में देखा गया है कि एक ही किस्म के दो पौधों में से जिन पौधों को संगीत सुनवाया गया वे अपनी ही किस्म के दूसरे पौधों की अपेक्षा सवा गुणी गति से बढे। इस तरह सांगीतिक स्वरों का प्रभाव वनस्पति जगत् पर प्रत्यक्ष देखा जाता है। सर जे. सी. बोस ने पुस्तक Work on Plant Life में वनस्पति में जीव की सत्ता प्रमाणित की है। अपनी पुस्तक में आपने गायन का प्रभाव पौधों पर देखा है। इस संबंध में डॉ. पद्मा सूधी ने निम्न विचार व्यक्त किये हैं -

.......authoritatively declared that crystals no less than plants derive their shape from their Vital energy (sound) : as we can not see the minute changes that after form, also, we can not hear the fundamental sounds of which it is the visible manifestation. so there is nothing which does not possess sound-energy.[7]

हालाँकि ध्वनि इनमें हुए बदलाव का कारण है फिर भी हम इस सूक्ष्म परिवर्तन को नहीं देख सकते । डॉ. जे. सी. पॉल कृत संगीत चिकित्सा में क्रमश: वनस्पति पर संगीत का प्रभाव तथा विभिन्न रागों द्वारा विभिन्न बीमारियों का उपचार: ये कुछ उदाहरण हैं । जिनके आधार पर हमें खोज करना होगा कि क्या दीपक राग गायन से दीपक पुन: जल सकते हैं ? मेघ राग से वृष्टि हो सकती है ? आखिर वह कौन सी शक्ति है कि राग की शुद्ध अवतारणा से जंगली हिरण व्यक्ति के पास आ जाता है ।

निष्कर्ष :- हमारा निष्कर्ष यही है कि भारतीय संगीत का प्रयोगात्मक पक्ष (संगीतात्मक अभिव्यक्ति) हृदय के शुद्ध भावों की रसपूर्ण अभिव्यक्ति है जिसकी धारा में मानव, पशु, पक्षी, वनस्पति जगत् सभी सहज आकृष्ट हो जाते हैं । जहाँ संगीत का सतत अभ्यास आत्मानुशासन तथा स्वरब्रह्म से तादात्म्य स्थापित करता है। वहीं मानव व्यक्तित्व को सहज संतुलित बनाता है । मानसिक शांति आत्मसंतोष हमें धीरे-धीरे 'जीवेम शरद: शतम्' की ओर प्रवृत्त करती है ।

डॉ. शैल कुमारी
व्याख्याता, दर्शनशास्त्र विभाग
लंगट सिंह महाविद्यालय
बी. आर. एल. बी. यु.
मुज्जफरपुर (बिहार) ८४२००१.

अश्विनीकुमार सिंह
विभागाध्यक्ष, संगीत
डॉ. जगन्नाथ मिश्र महाविद्यालय,
बी.आर.ए.बी.यू. मुजफ्फरपुर

टिप्पणियाँ

१. हिन्दी विश्वकोश खण्ड ।। पृ. ३५४ 'विद्युतिकरण' से 'सल्फोनेमाईड' तक नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी - १९

२. कत्थक नृत्य शिक्षा, द्वितीय भाग, पृ. १- डॉ. पुरूदाधीच संगीत नाटक

आकादमी, नई दिल्ली द्वारा प्रायोजित, विन्दु प्रकाशन, उज्जैन, मध्यप्रदेश १९८७.

३. संगीत रत्नाकर १/२/६०-६१

४. स्वतंत्र कला शास्त्र, पृ. ५९१-५९२ - डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय, चौखंबा संस्कृत सीरिज ऑफिस वाराणसी १- , १९६७

५. पंडित रामाश्रय झा 'रामरंग' - व्यंजना और स्वर, भाषा और स्वर (संगीत) शीर्षक लेखक पृ. १४-१५, इलाहाबाद विश्वविद्यालय संगीत सम्मेलन पत्रिका १९८० से उद्धरित ।

६. विश्वज्ञान संहिता (प्रथम भाग) पृ. ६०.
सामाजिक विज्ञान (मनोविज्ञान, समाज विज्ञान, मानव विज्ञान तथा शिक्षा विज्ञान)- प्रधान संपादक मोदूरि सत्यनारायणं, हिन्दी विकास समिति मद्रास, नई दिल्ली, हिन्दी विकास समिति ७ फर्स्ट क्रिसेंट रोड अड्यार, मद्रास- ६०००२०

७. Aesthetic theory of India, Dr. Padma Sudhi, Vol-2.

यज्ञ का विज्ञान

यज्ञ का अर्थ है व्यष्टि का समष्टि में रूपान्तरण अथवा 'स्व' का समाजीकरण। जब आत्मा का अनन्त विस्तार हो जाता है तो सब कुछ आत्मवत् बन जाता है । अपने से भिन्न कुछ लगता ही नहीं । यही 'आत्म-भाव' 'यज्ञ-भाव' है । अपने में सब को और सब में अपने को देखना ही आत्मबोध है - यज्ञ-विज्ञान है । वही पण्डित (आत्मवित्) है जो परमात्मभाव से सभी प्राणियों की सेवा करता है : ''एवं तु पण्डितैर्ज्ञात्वा सर्वभूतमयं हरिं ।'' यज्ञरूप में अपने को प्रस्तुत करने में ही जीवन की सार्थकता है और यज्ञ का भाव भी यही है कि परमात्मा के प्रति अपने को समर्पित कर देना और उसके प्रसार का - उसकी व्यञ्जना का सजीव एवं सक्रिय माध्यम बन जाना । ''इस समर्पण के उपरान्त व्यष्टित्व की सीमाएँ मिट जाती हैं और अन्य से संस्पर्श स्थापित करने की तरल रेखाएँ बन जाती हैं । अर्थात् जो पहले बाधाएँ प्रतीत होती थीं वे सम्पर्क स्थापित करने की अनिवार्य स्थितियों के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं और अशिव रूप में दिखायी देने वाला यह जगत् 'शिव' में रूपान्तरित हो जाता है ।''[१] जब व्यक्ति पर 'अहंभाव' का आधिपत्य होता है तो वह स्वार्थ और वासना के घेरे में बन्द रहता है । 'अहं' का निर्गलन होते ही व्यक्ति फिर व्यक्ति नहीं रह जाता, अपितु तरल होकर पूरे समाज में फैल जाता है । वह ज्यों ही परमात्मा से जुडता है त्यों ही उसके 'अहंभाव' का 'वयंभाव' में दिव्य रूपान्तरण हो जाता है । धरती पर उसे कुछ भी तुच्छ या अपवित्र नहीं लगता, जिसे ठेलकर आगे बढा जा सके । वह समाज के लिए जीता है और समाज के लिए मरता है । वह समाज से बहुत थोडा लेता है और अपने सारे जीवन की साधना समाज को सहर्ष अर्पित कर देता है । उसका शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि सब दूसरों के लिए होता है । अर्थात् उसका सारा जीवन यज्ञ बन जाता है ।

परमात्मा को समर्पित हो जाना ही 'यज्ञ' का असली मन्तव्य है । जब मनुष्य परमात्मा पर समर्पित होकर जीवन जीता है तो परमात्मा सब तरह से उसकी चिन्ता करता है । पूरी प्रकृति उसके अस्तित्व का कवच बन जाती है । बादल भरपूर बरसने लगते हैं, वृक्ष फलों से लद जाते हैं, नदियाँ निरन्तर बहती रहती हैं, सूरज

चमकता रहता है, फलों की सुगन्ध में जीवन मौज-मस्ती में डूब जाता है। ये सब तभी होता है जब सत्कर्म करना मनुष्य का स्वभाव बन जाता है। जब आदमी अहंकार से भर जाता है, बुरा कर्म करने लगता है और दम्भ में पागल होकर कहने लगता है कि मैं ही सब कुछ हूँ - कोई परमात्मा नहीं है तब जीवन सब तरफ से विकृत होना शुरू हो जाता है। जीवन में रस की तलाश ही अमरत्व है। जीवन जीने में मजा तभी आता है जब जीवन आस्वाद बनता है — सुख का भी और दुख का भी। सब के साथ सामञ्जस्य स्थापित करना, एक दूसरे का पूरक बनना और साथ-साथ रहकर एक दूसरे का दुख - दर्द बाँटना जीवन की नियति बन जाती है। यही कारण है कि हमें बुढापा भयभीत नहीं करता है और हम मृत्यु के भय से आतंकित नहीं होते हैं। हम यह जानते हैं कि मरना नये जीवन का आरम्भ है। जीवन के सीमान्त के रूप में हमने मृत्यु को कभी देखा ही नहीं। यदि कोई व्यक्ति दुःख-दर्द से भरी दुनिया में कूद सकता है और लोगों का दुख-दर्द कम करने में अपना सारा जीवन अर्पित कर सकता है तो वही व्यक्ति यज्ञ-भाव की महनीयता को समझ सकता है।

ऋग्वेद में 'ऋत' को ज्योतिष्चक्र के रूप में व्याख्यायित किया गया है, जिसके निर्देशन में देवों या प्रकाशपुञ्जों की गतियाँ नियमित एवं नियन्त्रित होती हैं। यही 'ऋत' सभी का उपजीवक और लोकस्थिति का कारण है। ऋग्वेद में 'ऋत-पथ' को सुगम एवं निष्कण्टक बताते हुए कहा गया है कि यज्ञ इसी सरल मार्ग से चलता है। देवगण भी 'ऋत' से सम्बद्ध हैं (ऋतस्पृशा); 'ऋत' से वृद्धि पाते रहते हैं (ऋतावृधा तत्रैव) और 'ऋत' से ऋत की वृद्धि करने वाले हैं (ऋतेन ऋता वृधौ)। यास्क ने निघण्टु में 'ऋत' को यज्ञ का पर्याय कहा है। 'यज्ञ-प्रक्रिया' स्वतः संचालित है और प्रकृति के माध्यम से उसका निरन्तर सम्पादन होता रहता है। सूर्य अपनी रश्मियों द्वारा जल का शोषण करके बादल के रूप में उसे धरती पर बरसा देता है। फल पृथ्वी के भीतर अपनी आहुति देकर वृक्ष के रूप में सहस्रों फलों का प्रदाता बन जाता है। प्रकृति की इस 'यज्ञ-प्रक्रिया' के अनुकरण के फलस्वरूप लोक में 'द्रव्य-यज्ञ' का प्रचलन हुआ है जिसका याजक देवता के प्रति अपनी सर्वाधिक प्रिय वस्तु की आहुती देकर उससे कई गुना उपयोगी सामग्रियाँ प्राप्त कर लेता है। यही 'दो और लो का सिद्धान्त' है। देवगण (ब्रह्माण्ड की नियामक शक्तियाँ) इसी 'यज्ञ-प्रक्रिया' से पर्यावरण का शोधन करते रहते हैं और ब्रह्मांड के सन्तुलन को नियमित बनाये रहते हैं।

प्रकृति का उपभोग तो सभी करते हैं, किन्तु बिना हानि पहुँचाये प्रकृति को मित्र बनाकर उससे निरन्तर कुछ लेते रहना विवेकियों का कार्य है । हम प्रकृति को निरा भोग की वस्तु समझने लगे हैं और उसके प्रति हमारी सहज आत्मीयता घटने लगी है । हम यह भूल रहे हैं कि हम जितने भीतर हैं, उससे कहीं अधिक बाहर हैं। बाहर जो कुछ सम्पन्नता या विपन्नता है, वह सब हम हैं । प्रकृति की हरियाली हमारे भीतर की प्रसन्नता की अभिव्यक्ति है । पेड-पौधों में फल-फूल आना हमारा ही विकास है । इसी स्वीकार भाव से मनुष्य की आत्महन्ता भूख मिटेगी और उसकी भूख का शिकार बनी इस प्रकृति का बचाव हो सकेगा । "आदमी जब तक यह पहचान नहीं शुरू करेगा कि वह प्रकृति का नहीं अपना दोहन कर रहा है, हरी डाल नहीं अपनी हड्डी तोड रहा है तब तक पर्यावरण के साथ वह अपना अस्तित्व सन्तुलित न कर सकेगा । जब तक वह स्वयं सम्पूर्ण अस्तित्व नहीं बन जाता तब तक वह अपने अस्तित्व के प्रति भी आश्वस्त नहीं हो सकता । जब तक ऐसी पहचान न बनेगी तब तक विज्ञान की कोई भी तरकीब कारगर नहीं होगी । आदमी आदमी न बन सकेगा ।"[२] आज विज्ञान को यज्ञ-भाव का पुट देने की जरूरत है तभी पर्यावरण के प्रति लोगों में जागृति आएगी । यज्ञ-भाव से देखने पर यही पार्थिव, खण्डित और गन्दी प्रकृति दिव्य चेतना का आह्लादकारी चिद्विलास प्रतीत होने लगती है। तत्त्ववेत्ता ही यह समझा सकता है कि पेड को काटने में भलाई नहीं है, उसका निरन्तर फल खाते रहने में भलाई है । यही कारण है कि भारत में पृथ्वी, वृक्ष, नदी, पहाड सभी को देव समझकर पूजा जाता रहा है । प्रकृति की हर घटना में देवत्व का साक्षात्कार करने वाला याजक ही प्रकृति के आत्मीय संरक्षण की वकालत कर सकता है । इसी सर्वात्मकभाव का बोध जन-जन को कराना होगा; अपनी व्यक्तिगत चेतना को सर्वगत चेतना से जोडना होगा और उसके अनन्त संकल्प के समक्ष व्यष्टित्व को समर्पित करके जीवन को सार्थक एवं परिपूर्ण बनाना होगा । ऐसा बोध होने पर संकुचित दृष्टि ठहर न पायेगी और मनुष्य यह समझने लगेगा कि ब्रह्मांड का हर कण उसका अपना अंग है । इसी यज्ञ-भाव से व्यक्तित्व का दिव्य रूपान्तरण सम्भव है । व्यष्टि में समष्टि का प्रतिबिम्ब है; अणु में विराट भरा पडा है । ब्रह्माण्डीय घटकों के पार्थक्य में लक्ष्य की एकतन्त्रता है । जिस प्रकार 'एकतान संगीत' विविध वाद्ययन्त्रों की विशिष्ट स्वरलहरियों का अतिसन्तुलित सामञ्जस्य है, उसी प्रकार प्रकृति में सभी घटक अनुशासित ढंग से इस प्रकार क्रियाशील हैं कि मानों वे विश्वात्मा द्वारा शासित हो रहे हैं । प्रकृति ने कलात्मक रीति से जीवन का

जाल बुना है । किसी एक घटक के रुग्ण होने का अर्थ है सर्वनाश। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एक जीवित सम्पूर्ण है । पर्यावरण कहीं भी दूषित होगा तो समूचा विश्व उससे प्रभावित होगा, जैसे एक अंग में कैन्सर होने से अन्य स्वस्थ अंग भी मृत्यु को समर्पित हो जाते हैं ।

गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं : "सम्पूर्ण प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं; अन्न की उत्पत्ति वर्षा से होती है; वर्षा यज्ञ से होती है और यह यज्ञ विहित कर्मों से उत्पन्न होता है ।"[३] आज के विकृत परिवेश मे इस सूत्र के निहितार्थ को समझना बहुत कठीन है, क्योंकि पूर्व भी पश्चिम के विज्ञान में उलझकर अपनी समझ खोता जा रहा है । पूर्व ने सदा ही मनुष्य को प्रकृति के आत्मीय मित्र के रूप में देखा है । प्रकृति को - पृथ्वी को हमने माता का दर्जा दिया है और आकाश को पिता का । यही हमारी जीवन-दृष्टि है, जिसमें हम जीवन को समग्रीभूत एक परिवार मानते हैं- सकल विश्व को एक कुटुम्ब मानते हैं । इसलिए हमने कभी प्रकृति को जीतने की भाषा नहीं सोची । पश्चिम में प्रकृति को आदमी के शत्रु के रूप में देखा जाता रहा है । इसीलिए वे कहते हैं कि जीतना है प्रकृति को । इस सोच से भारतीय संस्कृति आहत है और आश्चर्य व्यक्त करती है कि भला माँ कोई जीतने की चीज है? परन्तु पश्चिम इस जिद पर अडा है कि प्रकृति से लडना है; उसे जीतना है- हराना है। वर्ट्रेंड रसेल की एक कृति है- "कांक्वेस्ट ऑव नेचर" । यानी प्रकृति की विजय की बात पश्चिम का ही कोई दार्शनिक कर सकता है । परन्तु पूर्व के दार्शनिक - कपिल, कणाद, महावीर, बुद्ध, कृष्ण, राम - प्रकृति की विजय के बारे में सोच भी नहीं सके हैं । आखिर हम प्रकृति के ही तो अभिन्न अंग हैं । प्रकृति पर विजय वैसा ही पागलपन है जैसे कोई यह कहे कि मेरा हाथ शरीर को जीत लेगा । हाथ तो शरीर ही है । वह लडेगा किससे? जीतेगा किससे? जीतने की भाषा ही खतरनाक है । परन्तु पश्चिम तो द्वन्द्व की भाषा ही जानता है । वह सोचता है कि प्रकृति और हम दुश्मन हैं । अत: पश्चिम में यदि बेटा बाप का दुश्मन हुआ जा रहा है तो कोई आश्चर्य नहीं है । बाप से दुश्मनी करनेवाला अपनी माँ (प्रकृति) का दुश्मन हो ही जायेगा।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि अन्न से बनता है मनुष्य । हम इस कथन को सुनकर आश्चर्य में पड जाते हैं और भावुकता में श्रीकृष्ण को भौतिकवादी कह देते हैं, क्योंकि भगवान् कृष्ण जैसे आध्यात्मिक पुरुष से हम इस बात की अपेक्षा ही नहीं करते । परन्तु पश्चिम का प्रभाव उनके कथन का मन्तव्य समझने में बाधा उत्पन्न करता है । असल में पश्चिम कहता है कि सब कुछ पदार्थ है- जड पदार्थ । परन्तु

पूर्व मानता है कि सभी परमात्मा है । अन्न भी परमात्मा है - जीवन्त परमात्मा - "अन्नैव ब्रह्म ।" यदि ब्रह्म से सब कुछ उत्पन्न है तो अन्न से मनुष्य को निर्मित मानने में कोई विसंगती नहीं है । जब अन्न से मनुष्य निर्मित होता है तो अन्न भी जीवन्त है – चिन्मय जीवन है । अत: अन्न कोई पदार्थ नहीं है । अन्न आता है वृष्टि से- वर्षा से । वर्षा न हो तो अन्न न हो । वर्षा आती है यज्ञ से । वैज्ञानिक इन बातों को सुनकर विफरेगा और चीखकर कहेगा कि वर्षा और यज्ञ में क्या सम्बन्ध है? यह निरर्थक बात है - पागलपन है । वैज्ञानिक तर्क देगा कि वर्षा बादल से होती है । श्रीकृष्ण का प्रश्न होगा कि बादल कहाँ से आते हैं? विज्ञान उत्तर देगा कि बादल आते हैं समुद्र से - नदियों से । अब प्रश्न यह है कि मनुष्य और बादल के बीच क्या कोई आत्मिक सम्बन्ध है? जब यह कहा जाता है कि वर्षा आती है यज्ञ से तो इसका सीधा आशय है कि वर्षा और हमारे बीच जीवन्त सम्बन्ध है । वर्षा हमारे लिए आती है; हमारी आकांक्षाओं-अभीप्साओं को पूरा करने के लिए आती है; हमारी भूख-प्यास मिटाने के लिए आती है । वह हमारी प्रार्थनाएँ सुनकर आती है । समझने की बात सिर्फ इतनी है कि प्रकृति और मनुष्य के बीच लेन-देन है - कम्युनिकेशन है । पश्चिम कहता है कि प्रकृति अन्धी है । मनुष्य से उसका कोई मतलब नहीं है । लेकिन भारत का तत्त्ववेत्ता पूरे विश्वास के साथ कहता है कि प्रकृति, जो जड-खण्डित-पार्थिव-गन्दी दिखायी दे रही है, वह नितान्त बुद्धिसंगत है । जो ज्ञान मनुष्यों में बौद्धिक नियमों के रूप में प्रकट होता है वही ज्ञान बाह्य प्रकृति में व्यवस्था एवं एकतन्त्रता के रूप में दृष्टिगत है । ज्यों-ज्यों बुद्धि प्रकृति में मूल्यों को खोजती जा रही है त्यों-त्यों प्रकृति के प्रति लोगों की धारणा बदलती जा रही है । टेनेण्ट ने "प्रकृति में उद्देश्यपूर्णता को मूल्य-सम्प्रत्यय कहा है ।"[४] "आज जीवनसंग्राम के स्थान पर जीवन-संग्रह जरूरी है । आदर्शों के संग्राम में विजयी आदर्श पराजित आदर्श को ध्वंस न करके उनको आत्मसात् कर लेते हैं । जीवन-संग्राम की यह अभिनव व्याख्या है और पर्यावरण के संरक्षण की दार्शनिक दृष्टि भी" ।[५] परिवेश को रुग्ण करके मनुष्य लम्बे समय तक स्वस्थ नहीं रह सकता । प्रकृति से उतना ही लो जितना उसे दे सको । प्रकृति में एक विलक्षण अभियोजन क्षमता है । सभी का अस्तित्व एक दूसरे पर निर्भर है । तितलियों और मधुमक्खियों का अस्तित्व पेड-पौधों पर निर्भर है और पेड-पौधों का भविष्य उनके द्वारा सुरक्षित है । आखिर मधु भी तो मनुष्य के स्वास्थ्य का संवर्धक है । इस ब्रह्माण्ड में कुछ

भी ऐसा नहीं है, जो अलग है । सब की सुरक्षा ही अपनी सुरक्षा है ।

एक नयी साइन्स-इकॉलॉजी - तेजीसे विकसित हो रही है । जब इकोलॉजी पूरे विकास पर होगी तो भगवान् कृष्ण की वाणी समझ में आने लगेगी । यह इकोलॉजी नया विज्ञान है और पश्चिम में विकसित हो रहा है, क्योंकि वहाँ असन्तुलित पारिस्थिति को लेकर मुश्किल खडी हो गयी है और प्रकृति अस्तव्यस्त हो चली है । एकबार तिब्बत के एक गांव में डी.डी.टी. छिडका गया । ग्रामीणों ने इसका विरोध किया और कहा कि हम सदा से मच्छरों के साथ रहते आये हैं। इनके साथ रहने में कोई ज्यादा अडचन भी नहीं है । परन्तु किसी ने उनकी नहीं सुनी और डी.डी.टी. छिडककर सारे मच्छरों को मार डाला । लामा ने कहा कि मच्छरों के मरने से कोई दिक्कत तो नहीं खडी होगी । चिकित्सकों ने परिहास में कहा कि क्या पागलपन की बातें करते हो? लेकिन लामा की बात ही सही निकली । मच्छरों के साथ बिल्लियाँ भी मर गयीं और चूहों की तादात बढने लगी । मलेरिया तो गया, किन्तु प्लेग की बीमारी फैल गयी । लामा ने कहा कि मलेरिया तो फिर भी ठीक था यह प्लेग तो भयंकर मुसीबत है । अब इससे हम कैसे बचेंगे ? चिकित्सकों ने कहा कि हम पावडर छिडककर चूहों को भी मार डालेंगे । इसका विरोध करते हुए बूढे लामा ने कहा कि अब हम ऐसा कतई न होने देंगे । अभी तो प्लेग आया है, अब महाप्लेग फैलाने की कोशिश मत करो । अब हम तुम पर भरोसा नहीं कर सकते। तुम सब जाओ, हम पुरानी व्यवस्था फिर से कायम करेंगे । बूढे लामा ने आस-पास के गांवों से बिल्लियाँ मँगवाकर गाँव में छोडने का निर्देश दिया । चूहे कम होने लगे, प्लेग ठहर गया और मच्छर वापस लौट आये । इस उदाहरण पर ध्यान देने से 'इकोलॉजी' का मतलब समझ में आ जाता है कि जीवन एक जीवित परिवार है, जहाँ सारी चीजें एक दूसरे से जुडी हैं । सडक के किनारे पडा हुआ पत्थर भी जिन्दगी का अभिन्न हिस्सा है । जब हमने वृक्षों की धुआँधार कटाई की तो पता चला कि हम मुश्किल में पड गये । वृक्षों के कट जाने से अब बादल वर्षा ही नहीं करते अब वृक्ष बादलों को निमन्त्रित ही नहीं करते । बादल आते हैं और बिना बरसे चले जाते हैं । हमें यह पता नहीं था कि पृथ्वी के दो सौ मील के बाद गैस की एक मोटी पर्त दीवाल की तरह पृथ्वी को घेरे हुए है । उस पर्त के कारण सूर्य की वही किरणें पृथ्वी तक पहुँचती हैं, जो जीवन के लिए हितकर हैं और वे किरणें बाहर रह जाती हैं, जो अहितकर हैं । अब वैज्ञानिकों को पता चल रहा है कि हमने जहाँ-जहाँ से अन्तरिक्ष यान भेजे हैं वहाँ-वहाँ बडे-बडे छिद्र हो गये हैं । इन छिद्रों से सूर्य की

वे किरणें धरती पर पहुँचने लगी हैं जो जीवन के लिए अत्यन्त खतरनाक हैं। इस प्रकार जीवन एक संयुक्त घटना है। आकाश में जब बादल चलते हैं तो वे भी हमारे हृदय की धडकन से जुड जाते हैं। सूर्य प्रकाशित होता है तभी धरती पर जीवन चलता है। यदि सूर्य ठंडा हो जाय तो ठीक आठ मिनट के बाद हमारा जीवन भी ठंडा हो जाय। अगर हम ठंडे हो जाय तो सूर्य भी निश्चित रूप से कुछ गवां देगा। व्यवहारसिद्ध मत है कि पति के मरने पर पत्नी में कुछ कम हो जाता है और पत्नी के मरने से पति में कुछ क्षरण होने लगता है। जीवन संयुक्त है। जब एक टूटेगा तो दूसरा भी बिखरेगा।

पदार्थ और चेतना में कोई बुनियादी फर्क नहीं है। अन्न से मनुष्य बनता है — पदार्थ से आत्मा निर्मित है। इसका मतलब सिर्फ इतना है कि पदार्थ में चेतना छिपी है। अन्न खाने से खून बनता है - हड्डियाँ बनती हैं - बुद्धि बनती है - चेतना आती है। अन्न से ये सब इसलिए बनता है कि उसमें चेतना विद्यमान है। वह भी जीवन है और भीतर आकर फैल जाता है - खिल जाता है। अब बात स्पष्ट हुई कि अन्न आता है वर्षा से, वर्षा आती है यज्ञ से और यज्ञ का प्रादुर्भाव सत्कर्मों से होता है— ईश्वरार्पण से होता है — भगवत्कृपा से होता है। ऐसा होने पर पूरी प्रकृति चारों तरफ से मनुष्य की चिन्ता करती है। अर्थात् बादल बरसते हैं, पौधे अन्न देते हैं, वृक्ष फलते हैं, नदियाँ बहती हैं, सूर्य चमकता है और फूल खिलते महकते हैं। जब मनुष्य बुरा हो जाता है तो उसका जीवन चारों तरफ से विकृत होने लगता है। प्रकृति का नियम है कि अच्छा करो तभी अच्छा बनोगे। आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में एक छोटी सी प्रयोगशाला है — डिलाबार। वहाँ बडी गहनता से एक शोध चल रहा है — दो क्यारियों में बोए गये बीजों के विकास पर संगीत की तरंगों के प्रभाव का प्रयोग चल रहा है। दोनों में एक से बीज, एक-सी खाद, एक-सी मिट्टी और एक-सा सूरज का रुख सुनिश्चित किया गया है। एक क्यारी के ऊपर पॉप म्यूजिक बजता रहा है और दूसरी क्यारी के ऊपर क्लासिकल म्यूजिक (शास्त्रीय संगीत) बजता रहा है। जिस क्यारी पर पॉप म्यूजिक बजाया गया, उस क्यारी के बीजों ने फूटने से इन्कार कर दिया। फलने की बात तो दूर, फूल भी नहीं आये। जिस क्यारी पर शास्त्रीय संगीत बजाया गया उसके बीज समय के पहले ही फूट आये, उनमें डेढ गुना फूल आये और सर्वाधिक संख्या में फल भी आये। ऐसा क्यों न हो ? पॉप म्यूजिक संगीत कम विसंगति ज्यादा है और शास्त्रीय संगीत सही अर्थों में स्वरों का संगम है - उत्फुल्ल तरंगों का संगम। यह प्रयोग वैज्ञानिकों द्वारा किया

गया। उनका कहना है कि संगीत की विविध तरंगों ने अन्तर पैदा कर दिया। जब संगीत से तरंगें उत्पन्न होकर बीजों-पौधों को प्रमाणित कर सकती हैं तो मनुष्य के सत्कर्मों (यज्ञ-कर्मों) से उत्पन्न तरंगें जीवन को प्रभावित क्यों नहीं कर सकतीं ? अगर संगीत से तरंगे पैदा होती हैं तो आदमी की चेतना से तरंगें क्यों पैदा नहीं हो सकतीं ? क्या अहंकार से भरा मनुष्य अपने चारों तरफ विसंगति नहीं फैलाता है ? क्या अहंकार से शून्य विनम्र आदमी अपने चारों ओर शास्त्रीय संगीत की लयबद्धता नहीं फैलाता है ? यज्ञ से वर्षा होने का आशय है कि जब निरहंकारी लोग इस पृथ्वी पर अपना वर्चस्व कायम करते हैं तो समग्र प्रकृति उनके लिए सब कुछ करने को तैयार हो जाती है। बादल वर्षा करते हैं, पौधे अन्न से भर जाते हैं और अन्न प्राण लेकर जीव में प्रवेश करते हैं। जब व्यक्ति गलत तरंगें चारों ओर फैलाने लगता है तो वह जिन्दा लाश बन जाता है।"[६]

आपमें से बहुतों को यह अनुभव होता होगा कि जब आप किसी व्यक्ति के पास जाते हैं तो अचानक रिपल्सिव मालूम होता है कि हट जाएँ; जैसे कि कोई चीज आप को धक्का देती हो। किसी के पास जाते हैं तो लगता है कि आलिंगन कर लें — लगता है कि जैसे कोई चीज खींच रही है, अट्रैक्ट कर रही है। फ्रान्स के एक वैज्ञानिक ने एक यन्त्र विकसित किया है, जो बताता है कि व्यक्ति से निकलने वाली तरंगे रिपल्सिव हैं या अट्रॅक्टिव। उस मशीन के सामने खडे होते ही कांटा घूमकर बताता है कि इस व्यक्ति से निकलने वाली किरणें लोगों को दूर हटानेवाली होंगी या पास खींचने वाली होंगी।"[७] -जैसे समझ गहरी होती जायेगी वैसे-वैसे इस सत्य का रहस्य खुलता जायेगा। अगर आज वर्षा कम हो रही है, अन्न कम पैदा हो रहा है, वृक्षों का फलना बन्द हो गया है और सर्वत्र दुर्दिन एवं दुख का कुहासा छा गया है तो इसका कुल कारण इतना ही नहीं है कि आबादी बढ गयी है - धरती की उत्पादक क्षमता घट गयी है — वैज्ञानिक खाद उपलब्ध नहीं हो पा रही है। इसके और गहरे कारण हैं। मनुष्य से निकलनेवाली तरंगों का प्रकृति की तरंगों से ताल-मेल नहीं बैठ रहा है — इनर हार्मोनी टूट गयी है — मनुष्य ने स्वयं बुद्धि का दुरुपयोग करके सारा सामञ्जस्य बिगाड दिया है। वह अकेला खडा हो गया है आत्महन्ता दुश्मन की तरह। न बादलों से कोई दोस्ती है, न नदियों से प्रेम और न वृक्षों से कोई आत्मीयता। वे लोग आज हमें पागल लगते हैं, जो किसी नदी को नमस्कार करते हैं। परन्तु ऐसा समझ लेना नादानी है — पागलपन है। जिन लोगों ने पहली बार नदी को नमस्कार किया होगा, उनके आत्मीय भाव का नये सिरे से

अनुस्मरण करना होगा । जरूर उन्होंने नदी से मैत्री का — हार्मोनी का अनुभव किया होगा । परन्तु आज की दुनिया में भाव बिना भाव की चीज है — भावुकता निरा मूर्खता है । आज उसका कोई मूल्य ही नहीं है । हालाँकि ऐसी सोच ही मूर्खता है - पागलपन है — निर्मूल्य है । भाव के माहात्म्य को सन्त समझ सकता है - रहस्यदर्शी ही अनुभव कर सकता है । बुद्धिविलासी तो इसे अनर्गल ही कहेगा।

यज्ञपूर्ण कर्मों से यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि आग में हवन करने से वर्षा हो जायेगी । बात इससे भी काहीं ज्यादा गहरी है । यह सब तभी सम्भव होगा जब मनुष्य और प्रकृति मित्रों की तरह - प्रेमियों की तरह एक दूसरे का हिस्सा बनकर जीना शुरू करेंगे । उस क्षण यदि हम आग में हवन करके बादलों से बात करते हैं तभी उसका कोई अर्थ होता है । जब भावविभोर होकर लोग यज्ञ की बेदी के चारों तरफ नाचकर बादलों से प्रार्थना करते हैं तभी अचानक असंभव घटित होने लगता है — वर्षा होने लगती है । तब हमारा पूरा जीवन यज्ञ हो जाता है । आज सर्वत्र भावशून्यता की स्थिति है, अतः कृत्रिम यज्ञ से कुछ भी होनेवाला नहीं है । एक गाँव में बहुत दिन से वर्षा नहीं हुई थी । गाँव के बाहर यज्ञ चल रहा था । सारे लोग प्रार्थना करने जा रहे थे । एक छोटा बच्चा छाता लगाकर यज्ञ-स्थल पर पहुँच गया । बडे-बूढों ने उसे पागल कहते हुए डाँटा कि दो वर्षों से पानी नहीं बरस रहा है और तुम छाता लगाकर आये हो । उस बच्चे ने कहा कि आप सभी यज्ञ में जा रहे हैं, मैंने सोचा कि आप को भरोसा होगा कि आपकी प्रार्थना सुनी जायेगी और वर्षा होगी । इसी पवित्र भाव से मैं छाता लगाकर आया हूँ । जब आपको भरोसा नहीं है तो हवन करके अन्न खराब मत करो । उससे कुछ होने वाला नहीं है । यही छोटा बच्चा यज्ञ करने का अधिकारी था । उसने पूर्ण समर्पण से प्रार्थना की और वर्षा हो गयी । कहने का आशय यह है कि हम सब एक दूसरे से जुडे हैं । हम और बादल दूर-दूर नहीं हैं । सब एक- दूसरे में घुले मिले हैं । अनन्त-अनन्त दूरी पर जो है, वह भी मेरे शब्दों की ध्वनि से प्रतिध्वनित है — मेरे हृदय की झंकार से झंकृत है और मेरा हृदय उसकी झंकार से झंकृत है । सब में पवित्र भाव जगाने की जरूरत है । सम्पूर्ण जीवन ही एक इकोलॉजी है । जब तक लोगों में ऐसी समझ विकसित न होगी तबतक विश्व का कल्याण नहीं होगा ।

यज्ञ-विज्ञान के तीन सूत्र हैं— १. जयनम् (इन्द्रिय निग्रह) २. यजनम् (सर्वात्मभाव) और ३. भजनम् (ईश्वरार्पित सेवाभाव) । जयनम् का निहितार्थ है असंग्रह का भाव। 'यजनम्' का लक्ष्यार्थ है 'स्व' के समाजीकरण का भाव और 'भजनम्' का भावार्थ

है समस्त प्राणियों की ईश्वर के रूप में सेवा का भाव। ये तीनों मिलकर 'परार्थभाव' का बोध कराते हैं। यही 'परार्थभाव' यज्ञ का विज्ञान है।

प्रपाठक दर्शनशास्त्र विभाग गणपत सहाय पी. जी. कॉलेज, सुलतानपुर (अवध)

दुर्गादत्त पाण्डेय

टिप्पणियाँ

१. समकालीन भारतीय दर्शन, उ.प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी (१९७४), पृ. २२३
२. डॉ. विद्यानिवास मिश्र के निबन्ध 'भारतीय परम्परा में भारत' से उद्धृत।
३. "अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥" - गीता-३/१४
४. "Teleology, after all, is a value-concept," F.R. Tennant, 'Cosmic Teleology', पृ. १२२.
५. डॉ. दुर्गादत्त पाण्डेय, 'चिन्तन के विविध आयाम', प्रामानिक पब्लिकेशन्स, युनिवर्सिटी रोड, इलाहाबाद (१९९५), पृ. ४५.
६. ओशो, 'भारत:एक सनातन यात्रा', डायमण्ड पॉकेट बुक्स प्रा. लि., एक्स-३०, ओखला इण्डस्ट्रियल एरिया, नई दिल्ली - २०, पृ. ८२
७. वही, पृ. ८३.

"सन्त ज्ञानेश्वर के दर्शन में नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन का एकत्व एवं उसकी व्यापकता : ज्ञानेश्वरी के संदर्भ में"

सन्त ज्ञानेश्वर महाराष्ट्र के ही नहीं अपितु भारत के महान सन्त माने जाते हैं। अपने गम्भीर एवं ओजस्वी विचारों के द्वारा उन्होंने भारतीय अध्यात्म एवं दार्शनिक परम्परा को समृद्ध किया। ज्ञानेश्वरी उनके द्वारा रचित वह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जिसमें उन्होंने दर्शन एवं अध्यात्म के अति-गम्भीर पक्षों का सुगम प्रस्तुतीकरण किया है। वैसे तो ज्ञानेश्वरी, सन्त ज्ञानेश्वर द्वारा भगवद्गीता पर लिखा हुआ भाष्य है परन्तु उन्होंने जिस प्रकार से उसका मौलिक विवेचन किया है, उससे यह अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ बन गया है। ज्ञानेश्वरी में तत्त्व-मीमांसा, नीति-मीमांसा एवं अध्यात्म दर्शन की विस्तार से विवेचना की गई है। मानवीय जीवन की अनेक मनोवैज्ञानिक एवं नैतिक समस्याओं का विवेचन तथा उनका समाधान इस ग्रन्थ में सुझाया गया है। ज्ञानेश्वरी को सभी दृष्टिकोणों से एक पूर्ण ग्रन्थ माना जाता है, क्योंकि यह ग्रन्थ न केवल अध्यात्म, दर्शन, नीति एवं साहित्य की दृष्टि से श्रेष्ठ है बल्कि सिद्धान्त की दृष्टि से भी अनुपम है।

ज्ञानेश्वरी का नीति-दर्शन अपने आप में पूर्ण नीति-दर्शन है। अर्जुन को निमित्त बनाकर भगवान श्रीकृष्ण ने मानव-मात्र को जो नैतिक एवं आध्यात्मिक उपदेश दिया है वही ज्ञानेश्वरी का मूल सार है। कुरूक्षेत्र के युद्धक्षेत्र में अर्जुन की किंकर्तव्यविमूढता की जो स्थिति है वही जीवन-संग्राम में सम्पूर्ण मानव जाति की है। इस जगत् में जन्म लेने के साथ ही बहुत सी प्रतिकूल शक्तियाँ मानव को जीवन-संग्राम के लिए प्रेरित करती हैं और इस द्वन्द्व में मानव शुभ का चुनाव और अशुभ का त्याग करता है। युद्धक्षेत्र में दोनों ओर स्वजनों को उपस्थित देखकर अर्जुन सम्मूढता की स्थिति में आ जाता है। अब वह धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य एवं नैतिकता-अनैतिकता के मध्य अनिश्चय की स्थिति को प्राप्त होता है एवं स्वधर्म का निश्चय कर पाने में असमर्थ हो जाता है। अर्जुन द्वारा युद्ध को अधर्म घोषित करना सामान्य मानव की नैतिकता है। लेकिन अर्जुन के मन की "अनिश्चय" की स्थिति किंकर्तव्यविमूढता की स्थिति है, और तब वह इस स्थिति से उभरने के लिए भगवान्

श्रीकृष्ण की शरण लेता है । अर्जुन के भ्रम को दूर करने के लिए श्रीकृष्ण ने उसे विश्व-रूप दर्शन के द्वारा यह दिखलाया कि "इस विश्व का कर्ता मनुष्य नहीं है, ईश्वर है । विश्व के क्रिया-कलाप मानव-इच्छा से नहीं, अपितु ईश्वर-इच्छा से घटित होते हैं । अत: ईश्वर-प्रदत्त साधन-क्षेत्र से पलायन की स्वतन्त्रता मनुष्य को प्राप्त नहीं है ।" इस प्रकार गीता के उपदेश की विवेचना करते हुए ज्ञानेश्वरी में दर्शाया गया है कि स्वधर्म का निर्वाह करना ही मानव का धर्म है, तथा स्वधर्म से ही स्वकर्म अर्थात् कर्तव्यों का निर्वाह होता है । यही नैतिक दृष्टि से शुभ है ।

सन्त ज्ञानेश्वर ने मानवीय प्रकृति एवं नैतिक आचरण का विश्लेषण करते हुए ज्ञानेश्वरी में बतलाया है कि मानवीय प्रकृति त्रिगुणात्मक है- सत्त्व, रजस् एवं तमस्। इन तीनों गुणों से ही मानव की यथार्थ प्रकृति का निर्माण होता है एवं मानव-मनोविज्ञान निर्धारित होता है । भगवान् श्रीकृष्ण ने यहाँ तक कहा है कि सृष्टिरचना का कारण त्रिगुण ही है तथा पुनर्जन्म त्रिगुणों में परिवर्तन और वृद्धि के कारण होता है । अत: मानव की प्रकृति इन तीनों गुणों से संचालित होकर आचरण करती है। सभी गुणों के पृथक्-पृथक् लक्षण हैं एवं उनके धर्म भी हैं, जिनके द्वारा मानवीय मनोविज्ञान निर्धारित होता है । परन्तु नैतिक मूल्य मानवीय प्रकृति एवं उसके आचरण को प्रभावित करते रहते हैं । यही नैतिक मूल्य उसके आचरण की आधारशिला है ।

ज्ञानेश्वरी के अनुसार ईश्वर-साक्षात्कार या परमतत्व की खोज हमारे जीवन का अन्तिम लक्ष्य है तथा इस लक्ष्य की पूर्ति नीति एवं तत्त्व-मीमांसा के समन्वय द्वारा ही सम्भव है । ज्ञानेश्वरी में नीति एवं तत्त्व मीमांसा के लक्ष्य में भेद नहीं है क्योंकि यदि हम नीति के लक्ष्य की गहराइयों में प्रवेश करें तो परमतत्त्व की ओर ही अग्रसर होते हैं । वस्तुत: ज्ञानेश्वरी में नीतिदर्शन एवं तत्त्वज्ञान का सुन्दर समन्वय है । सन्त ज्ञानेश्वर ने ईश्वर-साक्षात्कार को मुख्य सद्गुण कहा है तथा इसी सद्गुण के तात्त्विक स्वरूप से तादात्म्य स्थापित करना तत्त्वज्ञान का मुख्य लक्ष्य है । ज्ञानेश्वरी में तत्त्वमीमांसीय समस्याओं की विवेचना करते हुए कहा गया है कि अपरा-प्रकृति, अधिभूत क्षेत्र और क्षर-पुरुष विनाशशील है तथा परा-प्रकृति, अधिदैव क्षेत्रज्ञ और अक्षर-पुरुष अविनाशी है । क्षर और अक्षर पुरुष से अतीत तृतीय उत्तम पुरुष परमात्मा है । इसी परमात्व तत्त्व से साक्षात्कार करना तत्त्वज्ञान का चरम उत्कर्ष है एवं "परमात्मा की भक्ति" को प्राप्त करना ज्ञानेश्वरी के नीतिदर्शन की परमोपलब्धि है ।

ज्ञानेश्वरी के अनुसार ईश्वर से युक्त होकर कर्मों को करना ही निष्काम कर्म है। इस रूप में कर्तव्यकर्मों को सम्पादित करना कर्मयोग है। निष्काम कर्मयोग के द्वारा ही अन्तःकरण की शुद्धि होती है, अन्तःकरण की शुद्धि से आत्मज्ञान होता है एवं आसक्ति में निवृत्ति होती है। यह निवृत्ति कर्मों को ईश्वर के अर्पण करने से ही प्राप्त होती है। ज्ञानेश्वरी के अनुसार कर्मयोग का तात्पर्य "समता" है। यहाँ योग, समता और परमात्मा तीनों को एक तत्त्व ही माना गया है। "समता" की प्राप्ति संसार के विच्छेद होने से होती है क्योंकि संसार विषम है। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है- "दुःख-संयोग के वियोग को योग नाम से जानना चाहिए।" संसार दुःखों का घर है, अतः संसार से सम्बन्धित होना ही "दुःख-संयोग" है। इस दुःख रूपी संसार से वियोग होने पर ही मानव योग में प्रतिष्ठित होता है तथा वह समता व परमात्मा को प्राप्त होता है। स्वधर्म के अनुसार फलों की आशा से रहित आचरण को समबुद्धि से करना ही कर्मयोग का आदर्श है। मानव की सहजवृत्ति को "स्वधर्म" कहा गया है। ईश्वर से युक्त होकर वृत्ति के अनुसार स्वकर्मों का सम्पादन करना स्वधर्म है। कहने का तात्पर्य है कि ईश्वर का सतत स्मरण करते हुए अपने आपको मात्र "निमित्त" मानते हुए अपने कर्तव्य-कर्मों का सम्पादन करते रहना ही नैतिक आचरण है।

सन्त ज्ञानेश्वर का अभिमत है कि गीता में दर्शाए गए विभिन्न सद्गुणों को आचरण में लाने से ही व्यक्ति नैतिकता की उत्कर्षता को प्राप्त होता है। ज्ञानेश्वरी में वर्णित समस्त सद्गुणों में एक विशिष्ट प्रकार का तारतम्य है, जो साधक को ईश्वर साक्षात्कार की ओर अग्रसर करता है। यह भी कहा गया है कि यदि ईश्वर साक्षात्कार हो जाए तो समस्त सद्गुणों का स्वतः ही आविर्भाव हो जाता है। अतः यह कहना उपयुक्त होगा कि ज्ञानेश्वरी में वर्णित दिव्य सद्गुणों का आचरण में समन्वय पारमार्थिक जीवन का परम लक्ष्य है तथा इन दिव्य सद्गुणों के अभाव में नैतिक दर्शन शुष्क और निरर्थक ही होगा। सद्गुणों पर विचार करते हुए ज्ञानेश्वरी में यह भी विचार किया गया है कि दुर्गुण क्या है एवं इन्हें किस प्रकार दूर किया जा सकता है, एवं साथ ही इन्हें दूर करने के उपायों पर भी विवेचन किया गया है। ज्ञानेश्वरी में कहा गया है कि आसुरी प्रकृति वाले व्यक्ति के कर्मों से ही समस्त संसार दुःखों एवं कष्टों से ग्रसित होता हैं। दुर्गुण के त्याग से आसुरी प्रकृति को समाप्त करके व्यक्ति "ज्ञान" में प्रतिष्ठित हो सकता है क्योंकि अज्ञान के कारण ही मनुष्य दुष्कर्मों को सम्पादित करता है।

सन्त ज्ञानेश्वर का यह अभिमत है कि नैतिक जीवन के द्वारा ही पारमार्थिक जीवन विकसित होता है । अतः नैतिकता और पारमार्थिकता में घनिष्ठ सम्बन्ध है। उनकी मान्यता है कि नैतिक जीवन की पूर्णता पारमार्थिक जीवन के अभाव में पूर्णतया असंभव है तथा पारमार्थिक जीवन नैतिक जीवन के अभाव में न केवल आधारहीन होगा बल्कि नैतिक सद्गुणों से रहित होने के कारण पारमार्थिक उच्चता से वंचित होगा । सन्त ज्ञानेश्वर के अनुसार नैतिक जीवन का विकास अतिनैतिक जीवन में होता है एवं अतिनैतिक जीवन का विकास आनन्दवाद में होता है । अतः उनके अनुसार नैतिक और पारमार्थिक जीवन में कोई भेद नहीं है, तथा उनके द्वारा प्रतिपादित नैतिक जीवन की धारणा इतनी व्यापक है कि उसमें पारमार्थिक जीवन का समावेश स्वतः ही हो जाता है । उनका कहना है कि जो नैतिक दृष्टि से आदर्श पुरुष होता है, वह नैतिकता से प्रगति करके पारमार्थिक जीवन में प्रवेश कर जाता है ।

सन्त ज्ञानेश्वर का नीतिदर्शन के क्षेत्र में विशिष्ट योगदान रहा है । ज्ञानेश्वरी के अनुसार नैतिक एवं पारमार्थिक जीवन को दो नितान्त पृथक् भागों में विभाजित नहीं किया जा सकता है । मानव का व्यक्तित्व एक ऐसी संगठित ईकाई है कि जिसमें नैतिकता की परिपक्वता होते-होते पारमार्थिक गुणों का स्वतः विकास होता है । इस प्रकार नैतिकता और पारमार्थिकता का घनिष्ठतम सम्बन्ध है । ज्ञानेश्वरी में "ईश्वर-प्रेम" को सर्वश्रेष्ठ केन्द्रीय सद्‌गुण के रूप में प्रतिपादित किया गया है । इस दृष्टिकोण से मानव का नैतिक जीवन कोई संकीर्ण जीवन न होकर उसके विशाल पारमार्थिक जीवन का ही एक अंश है । अतः सन्त ज्ञानेश्वर की नैतिक जीवन की व्याख्या में पारमार्थिक जीवन का भी समावेश हो जाता है । ज्ञानेश्वरी के अनुसार काम, क्रोध तथा लोभ - ये तीनों नर्क के द्वार हैं । सत्त्व गुणों के पराभव होने से रजोगुण और तमोगुण का साम्राज्य स्थापित हो जाता है । दैवी संपत्ति पर आसुरी संपत्ति हावी हो जाती है । माया की नदी के प्रवाह में मानव ईर्ष्या, क्रोध तथा द्वेष के भँवर में फँस जाता है एवं उसके लिए माया नदी को पार करना असंभव हो जाता है । प्रश्न उठता है कि ऐसी अवस्था में पारमार्थिक लाभ की प्राप्ति किस प्रकार से हो ? और यदि यह भी मान लिया जाए कि नैतिकता के अभाव में पारमार्थिक जीवन संभव हो सकता है, तो क्या वह परमार्थ निष्कलंक और क्षुद्र होगा? इसके उत्तर में ज्ञानेश्वरी में बार-बार कहा गया है कि इस माया नदी को पार करने के लिए "ईश्वर की शरण" में जाना ही एक मात्र उपाय है । भगवद्‌भक्ति से बडे से बडा दुराचारी

भी सभी संकटों से पार जा सकता है । अर्थात् ईश्वर के शरणागत होने से मानव सब पापों से मुक्त हो जाता है ।

यहाँ एक अन्य प्रश्न भी उत्पन्न होता है कि क्या मनुष्य को पूर्णतः नैतिक जीवन को अपनाने एवं नैतिक आचरण को जीवन का आधार बनाने के उपरान्त भी परमार्थ का अवलम्बन करना चाहिए? तथा क्या पवित्र एवं शुद्ध आचरण के अभाव में परमार्थ संभव है? इसके उत्तर में सन्त ज्ञानेश्वर का कहना है कि परमार्थ के अभाव में नैतिक जीवन पूर्णतः प्राप्त नहीं हो पाता है । दोनों के समन्वय से ही पूर्णता की प्राप्ति संभव है । मनुष्य नीतिमान् तो हो सकता है, किन्तु पारमार्थिक जीवन के लिए "निस्त्रैगुण्य" होना अत्यन्त आवश्यक है । नैतिक श्रेष्ठता तो मनुष्य के प्रयत्न से संभव है, परन्तु पारमार्थिक जीवन में प्रतिष्ठा सद्गुरु और ईश्वर-कृपा से ही संभव है । नैतिक जीवन से परे हटने से मनुष्य का पतन हो जाता है, और तब ऐसी परिस्थिति से उसे ईश्वर-कृपा और सद्‌गुरु का मार्गदर्शन ही बचा सकता है । अन्ततः पूर्वजन्म के पाप, प्रारब्ध कर्मों के प्रवाह अथवा क्रियमाण पापों को रोकने की सामर्थ्य सद्‌गुरु में ही है । सन्त ज्ञानेश्वर के अनुसार मनुष्य को ईश्वर के दिव्य नाम का स्मरण श्रद्धा, प्रेम, आदर एवं भय के साथ समर्पणबुद्धि से करना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि जब तक मनुष्य की बुद्धि समर्पण-भाव से "नाम-स्मरण" और "स्वरूप-ध्यान" में प्रतिष्ठित रहेगी, तब तक उसका मन दुष्कर्मों की ओर आकृष्ट नहीं होगा । अतः पूर्ण नीतिमान् होने का आधार परमार्थ ही है ।

डा. डी. आर. भण्डारी

अध्यक्ष, दर्शन विभाग
जे. एन. वी. विश्वविद्यालय,
जोधपुर

गांधी और लोकविद्या

गांधी स्वदेशी, स्वावलम्बन, स्वाभिमान और स्वरोजगार की नींव पर अपने सपनों के भारत को खडा करना चाहते थे। श्रम, स्वावलम्बन और सहकार का भाव जगाने वाली लोकविद्या को वे भारत की सच्ची प्रगति का सूचक मानते थे क्योंकि यही सही अर्थों में हमें आत्मनिर्भर बना सकती है। यह परम्परागत विज्ञान के रूप में हममें समर्पण और न्याय का भाव जागृत करती है अत: इसे बढावा देना गांधी जी की दृष्टि में सच्ची स्वदेशी भावना है। लोकविद्या ही सच्ची कला है जो आत्मा के उत्थान में सहायक है। उनका मत था कि हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि उनमें कला या सौंदर्य का अभाव है क्योंकि उच्चतम कला बाह्य संमितता या सौंदर्य मात्र नहीं है उसमें कुछ तत्त्व आन्तरिक भी है। वह सौंदर्य जो सत्य है, वह सत्य जो अहिंसा है, वह अहिंसा जो प्रेम है वह महान् प्रेम जो ग्रामीण की अपने हस्त-कौशल द्वारा जीविकोपार्जन में सहायता देता है। गांधीजी भविष्यद्रष्टा थे अत: लोककलाओं के स्थान पर मिल की बनी वस्तुओं को अपनाने से भारत के औद्योगीकरण तथा औद्योगिक समाज के अमानवीय रूप को वे भली-भाँति पहचानते थे इसलिए उन्होंने न केवल मशीनीकरण का विरोध किया प्रत्युत् वे तो उसे पाप भी समझते थे।

गांधीजी का मत था कि अहिंसक समाज-व्यवस्था में ही शोषण का सम्पूर्ण अन्त हो सकता है। रस्किन की भांति उन्हें भी उद्योगवाद के बढते चरण मानव-समाज के आधारभूत नैतिक आदर्शों के लिए सचमुच अभिशाप मालूम पडे। उनकी दृष्टि में उद्योगवाद असंख्य पापों और अनर्थों की जड है। उनका यह अनुभव अपने देश में वैदेशिक उद्योगों से उत्पन्न दुष्प्रभावों पर आधारित था। उद्योगों के लिए काफी मात्रा में कच्चा माल और इसके तैयार माल के लिए बडा बाजार चाहिए जिसके लिए प्राय: विदेशों पर निर्भर रहना पडता है। इस प्रकार अविकसित देशों का शोषण उद्योगवाद का एक आवश्यक अंग हो जाता है। इसके साथ ही औपनिवेशिक-विस्तार की भूख, साम्राज्यवादी प्रवृत्ति, औद्योगिक एकाधिकार, प्रतिस्पर्धा रखने वाले दूसरे औद्योगिक देशों के आर्थिक एवं राजनैतिक विकास को गन्दे

राजनयिक ढंग से रोकने का दुष्चक्र, उनसे उत्पन्न बार-बार के कलह तथा युद्ध और शोषण करने वाले का सांस्कृतिक, धार्मिक और जातीय श्रेष्ठता का हवामहल खडा कर शोषित राष्ट्रों का नैतिक पतन करने का षड्यन्त्र आदि मिलकर समस्त संसार को पतित बना रहे हैं ।

भारी पूँजी एवं बडे पैमाने पर श्रमिकों को लगाकर चलने वाले बडे उद्योगों के विस्तार से मालिक और मजदूरों के बीच की खाई बहुत चौडी हुई है जिससे श्रम और पूँजी के बीच संघर्ष की उतनी ही बडी समस्या खडी हो गयी है । गांधीजी ने पूंजीवादी उद्योगपतियों के द्वारा अदृश्य एवं सूक्ष्म हिंसा के विरूद्ध रूस एवं अन्य देशों में मजदूरों के द्वारा लोमहर्षक और हिंसक क्रांति भी देखी थी । उनका यह भी मानना था कि इसकी पुनरावृत्ति भारत के कुछ औद्योगिक क्षेत्रों में भी सम्भव है। इसलिए वे नहीं चाहते थे उनका देश भी इस प्रकार अन्धाधुन्ध ढंग से औद्योगिक विकास के पीछे पडकर उन्हीं रोगों का शिकार बन जाय जिससे आज पांश्चात्य सभ्यता परेशान हो चुकी है । गांधी जी ने यह भी देखा कि भारत के कुछ नगरों में बडे उद्योगों के विस्तार में बहुत लोग गाँवों को छोड-छोडकर घनी आबादी वाले शहरों में आने लगे हैं । इससे गाँव उजडते हैं और नगरों में बेतहाश भीड हो जाती है । ग्रामीण जीवन के टूटने से स्वस्थ सामाजिक बन्धन तथा पडोसियों के प्रति प्रेम की भावना भी ढीली पडने लगी है । व्यक्ति तो मानों भीड में खो गया है और उसका अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व इस विशालकाय यन्त्ररूपी समाज के पहिये के नीचे दब गया है । वह अस्तित्वहीन एवं व्यक्तित्वहीन हो गया है जिससे उसकी सहज स्फूर्त नैतिक भावना भी दब गयी है । अमर्यादित भोगवादी यन्त्रीकरण के कारण ग्रामीण कारीगरों को उत्पादन के क्रम में जो आनन्द मिलता है वह तो मानो दुर्लभ हो गया है । जीवन यन्त्रवत् और नीरस हो गया है । बोरियत और नीरसता आधुनिक औद्योगीकरण के महारोग बन चुके हैं । इसलिए मनुष्य अपने को भूलने के लिए शराब, जुआ आदि में विषयासक्त होकर अपना सर्वनाश कर रहा है । गांधीजी का मत था कि औद्योगिक विकास की सम्पूर्ण प्रक्रिया यन्त्रीकरण और अमानवीयकरण की राक्षसी प्रक्रिया है इससे व्यक्ति पतित होता है तथा वह अपने अन्तर्निहित सद्गुणों का कभी विकास नहीं कर पाता ।

गांधी का यह भी मानना था कि दूसरे देशों में जहाँ श्रमिकों की संख्या अनुपात में भारत से कम है वहाँ यन्त्रों की अधिक उपयोगिता है । भारत में इतनी बडी जनसंख्या है कि यहाँ सभी को काम मिलना ही एक बडी समस्या है । श्रम

बचाने वाले यन्त्रों से यहाँ घरेलू उद्योगों, कृषि आदि में लगे हुए करोडों लोग बेकार हो जाएँगे तथा उनकी रोटी छिन जाएगी। यदि यह कहा जाय कि बेरोजगारी तो अन्य प्रकार के उद्योगों को आरम्भ कर समाप्त की जा सकती है किन्तु इससे उद्योगवाद के दोष बढते ही जाएँगे। नए-नए उद्योग हमारे भोग-विलास की वस्तुएँ ही तैयार करेंगे जिससे समाज में अधिकाधिक भोग-विलास की वासना ही उत्पन्न होती जाएगी। मनुष्य की अधिकांश शक्ति भोग-विलास में लगेगी तथा सादा जीवन उच्च विचार का आदर्श विलासमय जीवन और कुत्सित विचार बनकर रह जाएगा। वांस्तव में मनुष्य का कल्याण भौतिक आवश्यकताओं की वृद्धि में नहीं अपितु उसे यथासम्भव कम करके आध्यात्मिक मूल्यों की साधना में है। गांधीजी का मत था कि भारत अपने मूल स्वरूप में कर्मभूमि है भोगभूमि नहीं।

गांधी लोकविद्या के प्रचार प्रसार द्वारा भारत की बेरोजगारी तथा भुखमरी का निदान करना चाहते थे। वे टालस्टाय के 'रोटी के लिए श्रम' के सिद्धान्त में विश्वास करते थे तथापि यन्त्र का मर्यादित विवेकपूर्ण उपयोग उन्हें मान्य था। उन्होंने केवल उन यन्त्रों का विरोध किया जिसके कारण बेरोजगारी उत्पन्न होती है। अमीर पूँजीपति गरीब मजदूर का और एक देश दूसरे देश का शोषण करता है। मनुष्य यन्त्रों पर अधिक आश्रित होकर श्रम से दूर भागता है। यन्त्रों के पीछे पागल होने के कारण ही केन्द्रीकरण, एकाधिकार तथा अनेक प्रकार के पाप उत्पन्न होते है। उन्होंने स्पष्ट कहा था 'मैं यन्त्रों का विरोधी नहीं मैं तो उसके पागलपन का विरोधी हूँ। मानव के लिए उस यन्त्र का भला क्या उपयोग है जिससे हजारों व्यक्ति बेकार होकर भूख से सडकों पर मारे-मारे फिरें। मैं तो मानव के किसी एक अंग के लिए नहीं सम्पूर्ण मानवता के लिए सोचता हूँ। मुझे भी समय और श्रम का बचाव अवश्य करना है किन्तु मुट्ठीभर आदमियों के लिए नहीं अपितु समस्त मानव जाति के लिए। घर में चलाने लायक यन्त्रों में सुधार किया जाय तो मैं उनका स्वागत करूँगा किन्तु समय और परिश्रम के कारण मुट्ठीभर आदमी धनाढ्य बन बैठे यह मेरे लिए असह्य है। वे तो सभी के पास धन देखना चाहते थे। आज यन्त्रों के कारण मुट्ठीभर आदमी लाखों की पीठ पर सवार होकर बैठे हैं और उन्हें सता रहे हैं। इसमें मनुष्य का श्रम बचाने की मानवीय भावना नहीं अपितु मुनाफे का शुद्ध लोभ है। इसलिए मैं इस व्यवस्था के विरुद्ध अपनी सम्पूर्ण शक्ति से संघर्ष कर रहा हूं।[1] ऐसे सादे औजारों, साधनों या यन्त्रों का जो व्यक्ति की मेहनत बचाये और झोपडियों में रहने वाले लाखों करोडों लोगों का बोझ कम करे - वे स्वागत करते

थे । उनका जीवन भर यही प्रयास रहा कि मुख्य रूप से कृषि और कुटीर उद्योगों के आधार पर यदि सम्भव हो तो कुछ छोटी-मोटी मशीनों की सहायता से प्रत्येक गांव को स्वावलम्बी बनाया जाय जिससे प्राकृतिक और स्वस्थ वातावरण में विकेन्द्रित स्वावलम्बी ग्राम-समुदाय की सद्भावना जन्म ले सके ।

गांधी जी का मत था कि आज भारत की कृषि-संस्कृति और ऋषि-संस्कृति दोनों नष्ट हो गयी हैं । समाज में किसान की न तो प्रतिष्ठा है और न उसे अपने उत्पादन का उचित मूल्य ही मिल रहा है । ग्रामोद्योग प्राय: समाप्त है, गाँव उजड रहे हैं जिससे नगरों में झुग्गी-झोपडियों की भयानक समस्या का निर्माण हुआ है जहाँ लोग कीडे-मकोडों के भाँति रहते हैं । इस समस्या का समाधान तभी हो सकता है जंब गांव स्वावलम्बी बने और अपनी आवश्यकता का पूरा अनाज और वस्त्र के लिए पूरी कपास स्वयं उत्पन्न करें । गांव में बन सकने वाली वस्तुएँ जैसे कपडा अर्थात् खादी, तेल, अनाज-प्रशोधन, गुड, जूते, साबुन, दन्तमञ्जन, खाद, शहद, खिलौने, मिठाइयाँ, चटाइयाँ, हाथसे बना कागज आदि का उत्पादन करें । जहाँ तक सम्भव हो वहा तक गाँव के कच्चे माल या उपज को वस्तु बनाकर ही गाँव के बाहर भेजा जाय जिससे गाँव में बेकारी दूर होगी और सभी को काम मिलेगा । आज गाँव की सारी उपज कच्चे माल के रूप में बाहर चली जाती है तथा शहरों के कारखानों में वस्तु तैयार होकर गाँव में बिकती है । इससे गाँवों की सब प्रकार से हानि होती है । गाँव की उपज सस्ते में बिकती है और पुन: उसी से बनी वस्तुएँ प्राय: पांच-दस गुना दाम में गाँव को खरीदनी पडती है । इस प्रकार गाँव का शोषण होता है, गांव में बेकारी और गरीबी बढती है तथा मजदूरी की दर घटती है। गांधी जी का मत था कि उचित तन्त्र विद्या द्वारा अर्थात् औजारों और छोटे यन्त्रों द्वारा कच्चे माल पर प्रक्रिया कर उसका पक्का माल वैकल्पिक ऊर्जा की सहायता से गांव में ही बनाया जाय जिससे गाँव की बेकारी की समस्या हल हो सके तथा बाहर जाने वाले कच्चे माल की बिक्री में और शहर से गाँवों में आने वाले पक्के माल की खरीदी में होने वाले दोहरे शोषण की मार से गाँव बच सके । ग्राम-विकास की समग्र योजना बनाकर उसपर आचरण करने से उन्हें अपनी शक्ति का भान होगा । इसी उद्देश्य से गांधीजी ने लाभ के स्थान पर सहयोग पर आधारित लाखों लोगों को काम देने वाली संस्था[२] अखिल भारत चरखा-संघ की स्थापना की थी ।

गांधीजी की दृढ धारणा थी कि "सब की आवश्यकताएँ पूरी करने की सम्पत्ति

धरती के पास है लेकिन एक भी आदमी का लोभ पूरा करने की इतनी दौलत समूची धरती के पास नहीं है'' । उनका मत था कि वैज्ञानिक और प्रभावकारी ढंग से कुटीर उद्योगों की स्थापना से उद्योगवाद की बुराइयाँ मिट जाएँगी जिससे मालिकों और मजदूरों के बीच न भयानक वर्ग-संघर्ष होगा न भारतवर्ष में स्थापित करने के लिए बृहत् उद्योगों में लगने वाली विशालकाय पूँजी की ही आवश्यकता होगी न विदेशों में मिलने वाली मशीनों और कुशल कारीगरों के लिए उनका मुंहताज होना होगा ।

गाँवो का स्वावलम्बन गांधी जी का सपना था । उनकी इच्छा थी कि गाँव अपने या पडोस के गाँव में उत्पन्न वस्तु का उपयोग करें । अन्न के पश्चात् जीवन में वस्त्र का महत्त्व है । कृषि के पश्चात् कपडे का ही सबसे बडा उद्योग होता है । सभी लोग सूत कातें क्योंकि वस्त्र शीतरक्षा का ही नही शीलरक्षा का भी काम करता है। वे छोटे-छोटे औजारों के माध्यम से करोडों हाथों से उत्पादन कराने की बात सोचते थे । उनके द्वारा प्रतिपादित रचनात्मक कार्यक्रम देश और दुनिया के लिए अमूल्य विरासत है । उनका मत था कि आत्मशुद्धि के लिए, श्रमिकों के जीवन से तादात्म्य के लिए हर रोज प्रत्येक व्यक्ति सूत कताई करे अर्थात् प्रतीकात्मक रूप से श्रम-यज्ञ करें । सूत कातने को वे श्रम का सबसे सादा और शुद्ध रूप मानते थे । उनका दृढ विश्वास था कि हाथ कताई तथा हाथ बुनाई के पुनरुज्जीवन से भारत के आर्थिक एवं नैतिक पुनरुद्धार में सबसे बडी सहायता मिलेगी । करोडों आदमियों की कृषि की आय में इस उद्योग से वृद्धि हो सकती है अत: उन्हें घरों में कताई करने योग्य बनाना होगा । उनका मत था कि कताई का साधन चरखा हमारी गरीबी का बिना कुछ खर्च तथा बिना किसी दिखावे के अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से हल कर सकता है । इसलिए चरखा उपयोगीही नहीं ऐसी आवश्यक वस्तु है जो हर घर में होनी ही चाहिए । वह राष्ट्र की समृद्धि और उसकी स्वतन्त्रता का प्रतीक है ।

चरखे का आन्दोलन यन्त्रों द्वारा होने वाले शोषण, धन तथा सत्ता का केन्द्रीकरण रोकने के लिए किया जा रहा संगठित प्रयत्न है ।[३] चरखा व्यापारिक युद्ध का नहीं व्यापारिक शान्ति का चिह्न है । उसका सन्देश संसार के राष्ट्रों के लिए दुर्भाव का नहीं परन्तु सद्भाव और स्वावलम्बन का है । उसे संरक्षण के लिए ऐसे लाखों लोगों के धार्मिक निश्चय की आवश्यकता है जो अपने घरों में उसी प्रकार सूत कातें जैसे वे अपने घरों में खाना बनाते हैं । चरखे के हर तार में शान्ति, सद्भाव और प्रेम की भावना है । चरखे को छोड देने से ही देश गुलाम बना है इसलिए चरखे के सब फलितार्थों के साथ उसके स्वेच्छापूर्ण पुनरुत्थान का अर्थ होगा हिन्दुस्तान

की (सच्ची) स्वतन्त्रता[४]। अखिल भारत चरखा-संघ ने सफलतापूर्वक यह दिखा दिया है कि लोगों के फुरसत के समय का सदुपयोग अगर कातने और उसके पूर्व की क्रियाओं में किया जाय तो इतने मात्र से गाँवों में हिन्दुस्तान की जरूरत के लायक कपडा उत्पन्न हो सकता है[५] । गांधी जी चरखे को जनसाधारण की आकांक्षाओं का प्रतीक मानते थे । यह देहातियों को आलस्य से बचाता है तथा विधवाओं का मित्र और सहारा बन सकता है । चरखे में पहले और पीछे के सब उद्योग लोढाई, पिजाई, ताना करना, माँड लगाना, रंगाई और बिनाई आ जाते हैं। इससे गाँव के बढई और लुहार काम में लगे रहते है । चरखे से भारत के सात लाख गाँव आत्मनिर्भर बने रह सकते है । चरखे के चले जाने पर तेल घानी आदि दूसरे ग्रामोद्योग खत्म हो गए और इन धन्धों का स्थान अन्य धन्धों ने नहीं लिया । इससे गाँवों के विविध धन्धे उनकी उत्पादक प्रतिभा और उनसे होने वाली थोडी बहुत आमदनी सबकी समाप्ति हो गयी । जब से गाँवों में चलने वाले अनेक उद्योगों में इस मुख्य उद्योग का तथा इससे जुडी हुई दस्तकारियों का बिना सोचे समझे मनमाने ढंग से तथा बेरहमी से नाश किया गया है तबसे हमारे गावों की बुद्धि और तेज नष्ट हो गया । ग्रामवासी निस्तेज और निष्प्राण हो गए तथा उनकी दशा उनके अपने भूखों मरने वाले ढोरों की सी हो गयी है ।[६] यदि ग्रामीणों को पुन: उनकी स्थिति में वापस लाना है तो चरखे ओर उसके साथ लगी हुई लोकविद्याओं का पुनरुत्थान करना होगा ।

गांधीजी का मत था खादी हिन्दुस्तान की समस्त जनता की एकता उसकी धार्मिक स्वतन्त्रता तथा समानता की प्रतीक है । स्वराज्य प्राप्ति के पूर्व खादी स्वराज्य की आकांक्षा की प्रतीक रूप थी और उसे स्वतन्त्रता का गणवेश माना जाता था। खादी वृत्ति का अर्थ है जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं की उत्पत्ति और उनके बँटवारे का विकेन्द्रीकरण । इसलिए हर एक गाँव को अपनी आवश्यकता की सब वस्तुएँ उत्पन्न करनी चाहिए और शहरों की आवश्यकता पूर्ति के लिए कुछ अधिक उत्पादन करना चाहिए । गांधीजी कहते थे कि "मैं जितनी बार चरखे पर सूत निकालता हूँ उतनी बार भारत की गरीबी का विचार करता हूँ । उन्हें किसी न किसी प्रकार के धन्धे की आवश्यकता है और यह धन्धा जो करोडों को काम देगा केवल हाथ कताई का ही हो सकता है । इसलिए मैंने कताई को प्रायश्चित या यज्ञ बताया है और मैं यह मानता हूँ कि जहाँ गरीबों के लिए शुद्ध और सक्रिय प्रेम है वहाँ ईश्वर भी है इसलिए चरखे पर मैं जो सूत निकालता हूँ उसके एक-एक धागे में मुझे ईश्वर

दिखायी देता है । [७] वे शरीर-श्रम का सबसे अच्छा और स्वीकार्य रूप कताई को मानते थे ।

गांधीजी स्वदेशी व्रत को इस युग का महाव्रत मानते थे । उनकी इच्छा थी कि प्रत्येक व्यक्ति गाँव की बनी वस्तु के प्रयोग को अपना धर्म समझे । भगवान ने जिन्हें हमारा पडोसी बनाया है उनकी सेवा करना यानी उनके उत्पादन को खरीदना । सब अपने या पडोस के देहातों से बना हुआ माल खरीदे तथा शहर के बने कल-कारखाने के माल के बहिष्कार करने की प्रतिज्ञा ले । जो चीजें गाँव में नहीं बन सकती हैं वे वस्तुएँ भारत की बनी खरीदी जाएँ । जब हम गाँवों के लिए सहानुभूति से सोचेंगे तब गाँव की बनी चीजें हमें पसन्द आने लगेंगी और पश्चिम की नकल के रूप में यन्त्रों की बनी चीजें हमें नहीं जँचेगी । इस प्रकार हम ऐसी राष्ट्रीय अभिरुचि का विकास करेंगे जो गरीबी, भुखमरी, आलस्य और बेकारी से मुक्त नए हिन्दुस्तान के आदर्श से मेल खाती होगी [८] ।

सर्वोदय अर्थव्यवस्था में स्वदेशी का महत्त्वपूर्ण स्थान है । सामान्यतया स्वदेशी का अर्थ देश में बनी वस्तु से लगाया जाता है किन्तु स्वेदशी की सही व्याख्या है पडोसी धर्म । दुनिया के सभी लोग हमारे अपने हैं किन्तु पडोसी की चिन्ता करना हमारा धर्म है । अत: वस्तुओं के सन्दर्भ में स्वदेशी की गिनती में सर्वप्रथम वे वस्तुएँ आएँगी जो हमारे परिवार, गाँव या पडोसियों द्वारा बनायी जाती हैं । दैनंदिन आवश्यकताओं की जो वस्तुएँ गाँवों में न बनती हों या न बन सकती हों तो आसपास के छोटे कारखाने द्वारा बनी वस्तुएँ स्वदेशी की परिधि में आएँगी । मनुष्य के हाथ से निर्मित वस्तु केन्द्रित कारखाने में बनी वस्तु की अपेक्षा अधिक स्वदेशी मानी जाएँगी क्योंकि इससे किसी जरूरतमन्द को रोजगार मिलता है । इस कसौटी पर इंग्लैण्ड में बनी खादी (हाथ कता हाथ बुना वस्त्र) यदि वहाँ के बेकार व्यक्ति के द्वारा बनाया गया हो तो भारत के किसी मिल के बने कपडे की तुलना में स्वदेशी माना याएगा । यह विचारणीय विषय है कि अपने स्वयं के श्रम या पडोसी के सहयोग से जरूरी आंवश्यकताओं के लिए उत्पन्न वस्तुओं का उपयोग कर जीवन को संरल, सीमित और सादा रखते हैं या दूसरों की मेहनत तथा उनके शोषण के बल पर सुख सुविधा या विलास की जिन्दगी बिताना चाहते हैं । इस दृष्टि से स्वदेशी विदेशी वास्तव में परिग्रह अथवा अपरिग्रह, परोपजीवी या श्रमजीवी, शोषण और सेवा, होड या सहयोग के बीच का चुनाव है ।

प्रेम तथा अहिंसा से उत्पन्न स्वदेशी धर्म है । स्वदेशी का महत्त्व केवल वस्तुओं

तक ही सीमित नहीं है क्योंकि यह केवल वस्तुओं का विशेषण नहीं है। यह एक मानसिकता का द्योतक है। स्वदेशी का सिद्धान्त केवल भौतिक वस्तुओं पर ही नहीं प्रत्युत् जीवन से सम्बन्धित प्रत्येक क्रिया पर लागू होता है। पडोसी की सेवा स्वदेशी धर्म का पालन है। गांधीजी ने अठारह रचनात्मक कार्यों में खादी और ग्रामोद्योग को भी स्थान दिया था। रचनात्मक कार्यों की परिपूर्ति को ही वे स्वराज्य मानते थे। स्वराज्य अर्थात् "पावर टू पिपुल" है। इसलिए ग्लोबलाइजेशन की बात करना स्वदेशी के सिद्धान्त की दृष्टि से गलत है। भारत में तो अर्थव्यवस्था का ग्लोबलाइजेशन नहीं लोकलइजेशन होना चाहिए।

लोकविद्या मनुष्य की सक्रियता का वह रूप है जिसे मनुष्य से अलग नहीं किया जा सकता इसका अपना एक सामाजिक दर्शन है जो समाज के प्रत्येक व्यक्ति, समूह तथा वर्ग विशेषकर कमजोर लोगों के हितों का संवर्धन करेगा और समाज का अन्तिम व्यक्ति भी एक सम्मानजनक तथा प्रतिष्ठापूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए गांधीजी के अन्त्योदय के आदर्श को चरितार्थ कर सकेगा।

बी. ३१/१८ डी-२, कलाधर कीर्ति
सत्येन्द्र कुमार गुप्त नगर
लंका, वाराणसी-२२१ ००५.

डॉ. ऊर्मिला चतुर्वेदी

टिंप्पणियाँ

१. यंग इण्डिया, १३.११.१९२४.
२. हरिजन ९.१०.१९३७.
३. यंग इण्डिया १७.९.१९२५
४. यंग इण्डिया ८.१२.१९२१.
५. हरिजन सेवक ३० अंक ३७
६. रचनात्मक कार्यक्रम, पृ. २६-२७.
७. यंग इण्डिया, २०.५.१९२६.
८. रचनात्मक कार्यक्रम, पृ. २६-२७.

राष्ट्रवाद एवं धर्मनिरपेक्षता का अन्तर्विरोध : दार्शनिक दृष्टि

राष्ट्रवाद एवं धर्मनिरपेक्षता का अन्तर्विरोध विचारों का संघर्ष हैं, अत: इन्हें विकल्पित करने अथवा उन द्वन्द्वों से बचाव के प्रयास भी बौद्धिक समझ उत्पन्न करने में निहित है और इस तरह बौद्धिक विचार-विमर्श का विषय होने से यह दार्शनिकों के चिंतन का उचित विषय बनता है। दार्शनिक विचारों, सिद्धान्तों एवं मान्यताओं के पारस्परिक विरोधों को उत्पन्न करनेवाली बुद्धि के रूप में समाज एवं मनुष्य को अपने चिन्तन का विषय बनाता है। वह अन्तर्विरोधों के बौद्धिक तथा नैतिक औचित्य की समीक्षा करता है और सामान्यीकरण की प्रक्रिया से उस पर अपने विकल्प को स्थिर करता है। दार्शनिक प्रथमत: परस्पर विरुद्ध विचारों के संघर्ष की स्थिति से आमने सामने होता है, फिर उनकी विषमताओं को, विश्लेषण एवं बौद्धिक तर्कों द्वारा, स्पष्ट कर उन्हें विशुद्ध बौद्धिक प्रक्रिया का विषय बनाता है और अन्तत: तो एक सर्वमान्य अथवा उभयपक्ष मान्य सामान्य समझ उत्पन्न करता है। चूँकि दर्शनशास्त्रीय व्यवहार स्वयं मानवीय जीवन एवं मूल्यों की प्रधानता को स्वीकार करके चलता है अत: अन्तर्विरोधों को दूर करने की दिशा में राष्ट्र के नागरिक होने के नाते ही नहीं, बल्कि विषय के चिंतक के रूप में भी दार्शनिकों के प्रयास एवं सहायता की आवश्यकता होती है।

यदि किसी समय किसी समाज में इस तरह के संघर्ष फल-फूल रहे हैं और उनसे व्यक्ति एवं समाज का जीवन संघर्ष और तनाव से आक्रान्त रह रहा है तो इसकी जिम्मेदारी दार्शनिकों की होती है। उस स्थिति में दार्शनिक या तो अपना काम करना बन्द कर दिए हैं अथवा ठीक ढंग से (बुद्धि और तर्कपूर्ण ढंग से) अपना कार्य नहीं करते हैं अथवा द्वन्द्व पैदा करने वाले किसी विचार के प्रति व्यामोहित हो गए हैं, और उसी के औचित्य सिद्ध करने में वे लग गये हैं और इस कारण उनकी बुद्धि ऐसे द्वन्द्वों के दार्शनिक या नैतिक विकल्प देने में सक्षम नहीं हो पा रही है। समाज में विभिन्न विचारधाराओं का होना स्वाभाविक है किन्तु उनसे परस्पर टकराव की हिंसक स्थिति तब पैदा होती है जब दार्शनिक अपना कार्य बन्द कर देते हैं

अथवा वैचारिक भ्रान्ति समाज में जीवन्त बनने लगती है ।

यदि यह कहें कि दार्शनिक पारस्परिक समझ और संवाद की परम्परा से दूर हट गए हैं, वे एक विचारधारा से दूसरे का खण्डन करने और अपने विचार की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए तर्क एवं प्रमाण खोजने और विरोधी को परास्त करने में लगे रहते हैं और इस तरह स्वयं वैचारिक या सैद्धान्तिक संघर्ष और दार्शनिक हिंसा के अनुयायी हो गए हैं तो ठीक नहीं । वस्तुत: दार्शनिक का कार्य परमत खण्डन एवं स्वमत मण्डन मानने पर भी वह दार्शनिक हिंसा जैसे किसी लक्ष्य को अपने चिंतन के समक्ष रखता है अथवा खण्डनपूर्वक परमतों पर विजयी होने तक ही सीमित है – ऐसा मानना ठीक नहीं । परमत खण्डन पूर्वक स्वमत मण्डन के पीछे भी दार्शनिक का उद्देश्य विचारों के संघर्ष में एक रास्ता निकालने या ऐसे सिद्धान्त को ढूँढ निकालने का रहता है जिसमें पूर्ववर्ती सिद्धान्तों के द्वन्द्व इस तरह समाहित हो जाते हैं कि वे द्वन्द्व ही नहीं रह जाते और एक सामान्य समझ उत्पन्न होती है जो द्वन्द्वों का उत्तम विकल्प या दार्शनिक विकल्प बनती है । दार्शनिक सैद्धान्तिक हिंसा को विचार विमर्श के विषय में रूपान्तरित करता है, सामाजिक एवं राजनीतिक अन्तर्विरोधों को यथार्थ विमर्शात्मक समस्या में बदलता है अथवा उसे दार्शनिक मॉडल में परिवर्तित करता है । सामान्य रूचियों की खोज, विभिन्न मूल्यों में सक्रिय भागीदारी और उपयोगी भेदों या विषमताओं की स्वीकृति के तर्क द्वारा अन्तर्द्वन्द्वों के समक्ष शांति और सहयोग का विकल्प प्रस्तुत कर उनका शमन करता है । दार्शनिक चिंतन व्यक्तिगत, सम्प्रदायगत एवं सामाजिक और राजनीतिक विषयों की अलग-अलग भूमिकाओं को स्पष्ट कर देता है । असहमतियों को बौद्धिक संवाद में बदलता है और परस्पर द्वन्द्व उत्पन्न करने वाले पक्षों में परस्पर सहमति के तत्त्व निकालकर उन अन्तर्द्वन्द्वों का नैतिक विकल्प देने का कार्य करता है । वह अन्तर्द्वन्द्वों के दार्शनिक गुलाम होने के व्यामोह से रोकने के लिए तर्क और औचित्य प्रस्तुत कर, अन्तर्द्वन्द्वों के बौद्धिक एवं अबौद्धिक आधारों का विश्लेषण प्रस्तुत करता है और इस तरह हमारी समझ का विस्तार करता है और अन्तर्विरोधों के नैतिक विकल्प खोजने में हमारी मदद करता है । इस विकल्प को हम द्वन्द्वों के समतुल्य बल वाला नैतिक विकल्प इसलिए मान सकते हैं क्योंकि इस विकल्प में अन्तर्विरोधों के सामंजस्य और उनसे उत्पन्न भ्रान्तियों के विरुद्ध शुद्ध यथार्थ समझ सामने आती है ।

राष्ट्रवाद और धर्मनिरपेक्षता के अन्तर्द्वन्द्व क्या हैं ? इसे स्पष्ट करने के लिए हमें इन पदों के अर्थों को स्पष्ट करना होगा । राष्ट्रवाद जिसके लिए अंग्रेजी में 'नेशनलिज्म'

शब्द का प्रयोग होता है, एक विचारधारा एवं राजनीतिक सिद्धान्त है जो राष्ट्रीय अलगाव की तरफदारी करता है, व्यक्ति राष्ट्रों की अनन्यता, राष्ट्रों के बीच भ्रामक तथा हिंसक सम्बन्ध का विचार रख़ता है। यह विचारधारा मानवता को बडे राष्ट्र, सम्पन्न-असम्पन्न, श्रेष्ठ और अश्रेष्ठ राष्ट्र के नागरिक रूप में बाँटती है और उसी तरह मानवीय गुणों श्रम एवं सोच को भी विभाजित करती है। यह जनकल्याण, धर्मनिरपेक्षता, राष्ट्रीयता, धर्म आदि की अपनी व्याख्या कर लोगों में दूसरे राष्ट्रों, धर्मो तथा अन्य राष्ट्र के व्यक्तियों के प्रति हिंसक भाव पैदा करती है और अपने राष्ट्र के लिए राष्ट्रों के सहअस्तित्व को एवं मानवीय अखण्डता के विचार को अपने लिए घातक रूप में प्रस्तुत करती है। राष्ट्रवाद दूसरे राष्ट्रों, धर्मों तथा अपने सिद्धान्त के अनुकूलन न दीखने वाले आदर्शों के प्रति असहिष्णु और आवेगात्मक विचार होता है। यह विस्तारवादी, साम्राज्यवादी विचारधारा है और यही कारण है कि राष्ट्रवाद चाहे राजनीतिक हो, धार्मिक या आध्यात्मिक राष्ट्रवाद हो, अन्त तो उसका निष्कर्ष एनार्किज़्म में होता है। राष्ट्रवाद भी जातिवाद है और जातिवादियों की तरह राजनीतिक एवं सामाजिक विवाद एवं ह्रास का कारण है। इसमें द्वेष एवं हिंसाबल की प्रधानता होती है और समाज तथा राष्ट्र शक्तिसम्पन्न तथा कमजोर वर्गों में बँट जाता है और ये शक्तियाँ कमजोरों को समाप्त करने, उपेक्षा करने या गुलाम बनाने को ही राष्ट्रधर्म समझने समझाने लगती हैं। ऐसे राष्ट्रवाद में शान्ति की अवस्थिति निरर्थक होती है और यह विचार श्रेष्ठ माना जाता है कि युद्ध तथा हिंसा के बल पर तनाव और द्वन्द्व का दमन कर लोगों की श्रेष्ठता सिद्ध की जा सकती है। मुसोलिनी ने अपनी पुस्तक "Doctrine of Fascism"[२] में स्पष्ट कहा है कि 'फासिज्म स्थायी शान्ति की सम्भावना में विश्वास नहीं करता और युद्ध तथा हिंसा ही मनुष्य की सारी शक्तियों को अधिकतम तनाव की ओर उसे उत्तेजित कर लोगों पर कुलीनता की मुहर लगा सकती है। 'हिटलर ने भी इसी तरह का विचार "Mein Kampt, The Bible of Nazism"[३] में व्यक्त किया है। उनके शब्दों में "Mankind has grown strong in eternal struggle, it will only perish through eternal peace". बाद में उन्होंने यह भी टिप्पणी की कि "Might alone makes right".[४]

John Dewey का मानना है कि राजनीतिक राष्ट्र द्वारा तार्किक एवं नैतिक जिम्मेदारियों को नकारा जाता है। उन्होंने इसे अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता का सिद्धान्त कहा है।

"For disguise, it, as one may, the doctrine of national sovereignty

is simply the denial on the part of a political state of either legal or moral responsibility. It is a doctrine of international anarchy."[५]

एनार्की (Anarchy) पद का सही अर्थ जानने वाले इस बात को अस्वीकार नहीं कर सकते कि विश्व के राष्ट्रों में अराजक सम्बन्ध व्याप्त है । उनमें कानूनसिद्ध या तर्कसिद्धसम्बन्ध (Legal and rational relation) नहीं है क्योंकि उन सम्बन्धों को संचालित करने में कोई स्थिर कानून का अनुपालन नहीं हो पा रहा है तथा कुछ राष्ट्र अपने-अपने ढंग से आन्तरराष्ट्रीय कानूनों को परिभाषित कर रहे हैं । अपने राष्ट्र के कानून के ऊपर, अपने राष्ट्र की रुचियों एवं प्राथमिकताओं के ऊपर किसी आन्तरराष्ट्रीय कानून की सत्ता और उसकी निरपेक्षता आज किसी राष्ट्र को स्वीकार्य नहीं हो पा रही है । संक्षेप में, उनके पारस्परिक सम्बन्धों को कानूनसिद्ध (Lawful) नहीं कहा जा सकता है क्योंकि कानून का कानून की तरह से अनुशासन व्यक्ति राष्ट्रों के अपने हितों से निरपेक्ष रूप में नहीं हो पा रहा है । सभी राष्ट्र अपने लिए कानून है और उनकी अपनी प्राथमिकताएँ हैं अत: राष्ट्र के स्वार्थ से सभी सम्बन्धों को गढा जा रहा है । स्थिति में आन्तर्राष्ट्रीय ट्रीटी को राष्ट्रहित या स्वदलगत राजनीति के हित में होने पर ही स्वीकार किया जा रहा है अन्यथा नहीं । सारे आन्तर्राष्ट्रीय समझौता वार्ता जैसा कि १९१४ में जर्मन इम्पेरियल चान्सलर Theobald Von Bethmann Hollweg ने बेल्जिंयम की तटस्थता कों जर्मनी द्वारा नष्ट किये जाने के बाद कहा था, "कागज के कतरन (scraps of papers) सिद्ध हो रहे हैं। राष्ट्रवादी यह नहीं समझ पा रहे हैं कि मानवता को नष्ट होने से राष्ट्र का विनाश होता है क्योंकि जब मानवता ही नष्ट हो जाएगी तो व्यक्ति राष्ट्र भी नहीं होंगे । राष्ट्रीय एवं आन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के प्रति राष्ट्रवादियों की व्यक्तिवादी प्रतिबद्धता एवं हिंसा तथा युद्ध से भय, विनाश एवं विस्तार की उनकी वासना मानवता के लिए सबसे बडा पाप है । मानवता को इस विनाश से बचाने के लिए राष्ट्रवादी नीति से ऊपर उठकर उसे मानवतावाद में रूपान्तरित करना होगा । इस बात का संकेत आज से १९५ वर्ष पूर्व जर्मन दार्शनिक इम्येनुअल काण्ट[६] ने किया था किन्तु समाज वैज्ञानिकों एवं दार्शनिकों ने इसे समझने का कारगर प्रयास करने में बहुत समय लगा दिया ।

आज भी बहुतायत मात्रा में ऐसे लोग हैं जो राष्ट्रवाद और राष्ट्रीयता का अन्तर बहुत स्पष्ट ढंग से नहीं कर पाते हैं । अगर किसी व्यक्ति के आचरण में देशप्रेम झलकता है तो वे उसे राष्ट्र्वादी के रूप में सम्बोधित करते हैं । उदाहरण के लिए भारत एक धर्मनिरपेक्ष प्रजातन्त्र है और इसके नागरिक होने के नाते हम इसके

संविधान, कानून एवं प्रशासन में अटूट आस्था रखते हैं। हम इसके लिए अपने प्राण न्योछावर कर सकते हैं और बदले में हमें हमारी इहलौकिक (सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक) प्रगति के लिए बिना किसी भेदभाव के हमारा राष्ट्र हमें साधन सम्पन्न बनाए रखने, अवसरों को खुला बनाए रखने के लिए प्रतिबद्ध है। इन बातों का सम्बन्ध राष्ट्रीयता से है और इसके लिए हमें राष्ट्रप्रेमी कहना तो ठीक है राष्ट्रवादी कहना तो ठीक उल्टा अर्थ देता है। हम शाश्वत शान्ति, द्वन्द्वों के ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति, साधन की पवित्रता, परस्पर सूझ में आस्था रखते हैं न कि तनाव, द्वन्द्व, युद्ध एवं विस्तारवादी संघर्षों में। हम बौद्धिक कानूनों और आन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों के बौद्धिक आधारों में आस्था रखते हैं न कि शक्ति और संघर्ष में। हम मानवमात्र की, मानवता की श्रेष्ठता में आस्था रखते हैं न कि शक्तिसम्पन्न राष्ट्र के अस्त्रों की श्रेष्ठता में। इस तरह हम एक बौद्धिक एवं तर्कपूर्ण राष्ट्रीयता से संचालित हैं न कि राष्ट्रवादी संवेगों एवं रुचियों से।

किसी नागरिक के लिए उसकी राष्ट्रीयता उसकी सामाजिक एवं राजनीतिक आत्मा होती है। वह राष्ट्र के संविधान, न्याय एवं प्रशासन में अटूट आस्था को ही अपना धर्म एवं बल समझता है और राष्ट्रीय प्रतीकों को अपने से अलग नहीं समझता। वह राष्ट्रहित में अपने व्यक्तिगत या अपने पंथ के हित को ही नहीं अपना भी बलिदान करके धन्य समझने की भावना रखता है। वह अन्तर्विरोधों के विरुद्ध सार्वजनिक समझ तथा शान्ति में विश्वास करता है। उसमें यह आस्था भी बलवती होती है कि उसकी व्यक्तिगत रुचियों एवं लक्ष्यों एवं सामाजिक एवं राजनीतिक प्रगति को प्रभावित करने वाली ताकतों से राष्ट्र का कानून एवं प्रशासन उसे भयमुक्त करता है। संक्षेप में, राष्ट्रीय भावना का अर्थ है कि व्यक्ति किसी भी धर्म, समुदाय या पंथ को मानता है किन्तु उसकी यह मान्यता व्यक्तिगत है और पारलौकिक फलों से सम्बन्धित है तथा जिस राष्ट्र का वह नागरिक है जिससे उसका आत्मिक या सांस्कृतिक अटूट रिश्ता है, उसकी विधायिका कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के प्रति उसमें अनन्य श्रद्धा है। राष्ट्रीयता ही नागरिक के लिए सर्वोपरि है और राष्ट्र की रक्षा, सुख, समृद्धि और शान्ति में मन-वचन-कर्म से भागीदारी करना उसका धर्म है। राष्ट्र के नागरिक होने के कारण उसका प्रथम कर्तव्य है राष्ट्र इसे सुनिश्चित करने में उत्तरदायी है।

मानवता, चाहे किसी राष्ट्र में बसती हो, को मानवीय सोच एवं क्रियाकलापों के केन्द्र में रखकर धर्मनिरपेक्ष प्रजातन्त्रों का अभ्युदय हुआ। यह धर्मनिरपेक्ष

प्रजातन्त्र सिद्धान्ततः सभी राष्ट्रों के समग्र सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्वतन्त्रता एवं विकास का एक ऐसा तर्क सिद्ध हुआ जो भूमण्डलीकरण एवं उदारीकरण के लिए आधारभूत बन गया। यह राष्ट्रवाद का एक नैतिक विकल्प है और राष्ट्रीय तथा आन्तर्राष्ट्रीय कानून सम्मत सम्बन्धों, सहअस्तित्व, शान्ति और प्रगति के महान् उदारतन्त्र के रूप में सम्मानित हो रहा है।

हम धर्मनिरपेक्ष प्रजातन्त्र है। हमारी नीतियाँ समाज के हर वर्ग के लिए समान रूप से स्वीकार्य हैं। वे समाज के हर वर्ग और हर राष्ट्र के बीच मानवीय एकता और प्रगति की नैतिकता के हिसाब से गढी गयी हैं। संघर्ष और हिंसक गतिविधियों में, विश्वास न कर भाईचारे, प्रगति और शान्ति में विश्वास करते हैं। राष्ट्रवाद और हमारी राष्ट्रीयता में जमीन आसमान का फर्क है और सिद्धान्ततः हम राष्ट्रवाद को कभी तर्कपूर्ण स्वीकार ही नहीं कर सकते। हम राष्ट्रवाद के यथार्थ नैतिक विकल्प है। हम आन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का सम्मान करते हैं; कानून-संगत आन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को बढाने एवं उनकी निरपेक्षता की गरिमा को मानवमात्र की प्रगति के साथ जोड कर देखते हैं। हम अपने विरोधियों का भी सम्मान करते हैं और विरोधों को भी सम्मान एवं स्वीकृति देते हैं।

'धर्मनिरपेक्षता' पद अंग्रेजी के 'सेक्युलरिज्म' शब्द का अनुवाद है। इसका अर्थ है इहलौकिकता। किसी पारलौकिक या अतात्कालिक नियम, व्यवस्था या लक्ष्य से निरपेक्ष रूप में राज्य के नागरिकों के अस्तित्व, उनकी राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक प्रगति से इहलौकिकता का सम्बन्ध है। धर्मनिरपेक्ष लोकतन्त्र में इहलौकिकता राष्ट्र की नैतिकता मात्र नहीं, अपितु निधि रूप भी है। धर्मनिरपेक्षता व्यक्ति के इहलौकिक या तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति एवं उसकी राजनैतिक एवं सामाजिक प्रगति को सुनिश्चित करने वाली व्यवस्था एवं विधान हैं। धर्मनिरपेक्ष राज्य की यह प्रतिज्ञा है कि राज्य धर्म, पंथ मूलवंश, जाति, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर कोई भेदभाव नहीं करेगा। व्यक्तियों को उसकी अन्तःकरण की स्वतन्त्रता है और व्यक्तिगत धार्मिक आस्थाओं एवं धार्मिक आचरण करने की व्यक्ति को स्वतन्त्रता है। राज्य उसके धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा; सभी धर्मों, पंथों के प्रति समभाव रखेगा और धार्मिक आधार पर कोई भेदभाव नहीं करेगा। शिक्षा संस्थाओं में धर्मविशेष को संरक्षण, प्रोत्साहन नहीं दिया जायेगा और नहीं धर्म के आधार पर किसी संस्थान में उसके प्रवेश को स्वीकृत या अस्वीकृत करेगा। स्पष्ट शब्दों में राज्य धर्म तथा धार्मिक आचरण से निरपेक्ष या तटस्थ रहकर राज्य के

नागरिकों के सामाजिक एवं राजनीतिक प्रगति, जिसे इहलौकिकता कहते हैं, को सुनिश्चित करेगा। धर्म का संबंध अतात्कालिक पारलौकिक फलों से है और इसके लिए व्यक्ति को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्राप्त है। नागरिक के रूप में यह उसका अधिकार नहीं है। इससे भिन्न राष्ट्रवाद व्यक्ति के सेक्युलर मामलों में छेडछाड करता है और धार्मिक या जातीय श्रेष्ठता को राजनीतिक एवं सामाजिक अनिवार्यता के रूप में बल प्रदान करता है। परिणामत: राष्ट्रवाद एवं धर्मनिरपेक्षता के अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न होते हैं।

सेक्युलरवाद चर्च की प्रताडना के विरुद्ध आन्दोलन के रूप में उभरा। जैकब होल्पोक ने १८५० ई. में सेक्युलरवाद का प्रयोग पहली बार सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं का समाधान तर्क या विवेक से होना चाहिए इस अर्थ में किया। भारत में आजादी की लडाई एक समग्र स्वायत्त राष्ट्र की लडाई थी और इसका आधार तार्किक था। अंग्रेजों की फूटपरस्त नीति के चंगुल में फँसे कुछ पृथक्तावादी तत्त्वों ने अपनी कुत्सित भावनाओं एवं स्वार्थों की पूर्ति के लिए जातिगत राष्ट्र की वंकालत की। परिणामत: देश का विभाजन हुआ और तब से राष्ट्रवाद के नाम पर विभाजनकारी प्रवृत्तियों को गोलबन्द करने की राष्ट्रीय एवं आन्तर्राष्ट्रीय कुचक्र होते रहे हैं। अनेक धर्म, पंथ या सम्प्रदायों के भारतीय समाज में हमारी सोच, हमारे राष्ट्र की सोच यदि सभी धर्मों के प्रति आदर या सम्मान की न हो तो अशान्ति और हिंसा को बढावा मिलता। राष्ट्रवादी अपने धर्म एवं जाति के दृष्टि से समाज को चलाने की राजनीति करते हैं, किन्तु इस दृष्टिकोण से हिन्दू राष्ट्रवाद, मुस्लिम राष्ट्रवाद, सिक्ख राष्ट्रवाद, ईसाई आदि राष्ट्रवाद की परस्पर प्रतिक्रियावादी विचारधाराएँ पैदा होती और सर्वत्र अशान्ति, अलगाववाद, पृथक्तावाद को बढावा मिलता। कोई भी जातीय राष्ट्रवाद दूसरे जातीय राष्ट्रवाद से टकराव की नीति पर आधारित होता है। यह साम्प्रदायिकता है और फासिस्ट प्रवृत्तियों का बढावा देने वाला है। इस स्थिति में चाहे हिन्दू-राष्ट्रवाद हो या मुस्लिम या कोई अन्य, राष्ट्रीयता के लिए घातक है और राष्ट्रीयता को इनके द्वारा अपने-अपने ढंग से परिभाषित करना हिंसा और अशांति को जन्म देगा ही। इस तरह राष्ट्रवाद हमारी धर्मनिरपेक्षता एवं 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' की संस्कृति के सर्वथा विरुद्ध होने से त्याज्य है और इसका नैतिक विकल्प धर्मनिरपेक्ष प्रजातन्त्र है जिसको अपनाकर हम अपनी अखण्डता एवं एकता को बनाए रखे हुए हैं और धार्मिक एवं जातीय श्रेष्ठता से उत्पन्न हिंसा को बढने के सारे अवसरों को समाप्त करने में सक्षम हुए हैं।

धर्मनिरपेक्ष प्रजातन्त्र के वास्तविक आधार समानता; धर्मनिरपेक्ष स्वरूप (Secular Nature), तर्कपूर्ण उचित शिक्षा (Proper education) तथा विरोध पक्ष के प्रति आदर एवं स्वीकृति (respect for and acceptance of opposition) है। राष्ट्रवाद इन आधारों को सर्वथा नकारता है तथा इन्हें राष्ट्र की प्रगति के लिएं बाधक समझता हैं। अत: राष्ट्रवाद की प्रवृत्ति इन तत्त्वों के उन्मूलन की होती है अन्यथा इसके स्वयं नष्ट होने का खतरा होता है।

भारत में अनेक धर्म पंथ एवं समुदाय के लोग रहते हैं और सबको अपने-अपने धार्मिक मामलों में स्वतंत्रता प्राप्त है। कभी-कभी धार्मिक या साम्प्रदायिक झगडे भी देखने को मिलते हैं किन्तु यह ध्यान रखने योग्य बात है कि इसकी तार्किक बुद्धि अतिविकसित हो चुकी है और यही कारण है कि आजकल के जो झगडे होते हैं वे वास्तव में कोई धार्मिक झगडे नहीं होते। धर्म, समुदाय, पंथ के नाम पर कुछ लोगों द्वारा जानबूझकर स्वार्थ के कुचक्र होते हैं। यदि वे सही मायने में धार्मिक झगडे होते तो उन्हें हम धार्मिक समझ से दूर करने में सर्वथा सक्षम है। ये झगडे स्वरूपत: धर्म और एक ईश्वर की धारणा से कोसों दूर है। इन झगडों की इजाजत न धर्म देता है न ही ये ईश्वर के प्रति निष्ठा के अनुकूल है। अत: इसमें न हमें धर्म को घसीटना चाहिए न ही ईश्वर को और धार्मिक निष्ठापूर्वक इसके तर्कहीन अबौद्धिक आधारों को, कुत्सित स्वार्थों को स्पष्ट कर देने से ये अवास्तविक धार्मिक झगडे भी असम्भव हो जायेंगे। हमारी नागरिकता अखण्ड है और वह धर्म, सम्प्रदाय, पंथ, जाति आदि में विभक्त नहीं है। हमारी व्यक्तिगत आस्थाएँ हमारी नागरिकता को, हमारे प्रजातन्त्र को विभाजित नहीं कर सकती क्योंकि हम दोनों के अन्तर को अच्छी तरह समझते हैं।

धर्मों के अध्ययन को पाठ्यक्रम में लाने का उद्देश्य धार्मिक दीक्षा नहीं अपितु नागरिकों को धर्म के क्षेत्र एवं लक्ष्य को स्पष्ट करने तथा सभी धर्मों की मुख्य अवधारणाओं से व्यक्ति को परिचित कराने का है। इस ज्ञान से ही व्यक्ति में धार्मिक समझ पैदा हो सकती है और वह धार्मिक द्वन्द्वों को दार्शनिक विकल्प से विकल्पित करने में सक्षम हो सकता है। आज बहुत सारे स्वार्थी तत्त्व हमारी धर्मनिरपेक्ष परम्परा में शिक्षा के पाठ्यक्रम में, इतिहास के तथ्य एवं घटनाओं को, गौरव गाथाओं को जोडे जाने पर साम्प्रदायिकता का आरोप लगाते है और वे साम्प्रदायिक नजरिए से पाठ्यक्रम में हमारी संस्कृति के अच्छे अध्यायों को भी रखने पर आपत्ति उठाते हैं और इस तरह द्वन्द्व उत्पन्न करने का प्रयास करते है। वास्तव में इसके पीछे

भी उनका स्वार्थ ही काम करता है । वे स्वयं साम्प्रदायिक भाव से इतिहास की, संस्कृति की अपनी व्याख्या करते हैं और अशांति का वातावरण पैदा कर गुटविशेष को गोलबन्द करने का प्रयास करते हैं । यह गोलबन्दी की सियासत हमारी धर्मनिरपेक्षता के सर्वथा विपरीत एवं अबौद्धिक आधारों पर आधारित होती है । उनकी रुचि शिक्षा एवं संस्कृति के ज्ञान में न होकर विषमता पैदा करने की होती है। एक धर्मनिरपेक्ष शिक्षा व्यवस्था में नागरिकों को अपने पूर्व के इतिहास एवं संस्कृति का ज्ञान सही शिक्षा की उचित समझ तो पैदा करती ही है सांस्कृतिक एकता में भी उपयोगी होती है । ऐसा ही विवाद भाषा को लेकर होता है जो कि वास्तविक विवाद प्रतीत नहीं होता । भाषा के प्रति भी हमारा दृष्टिकोण धर्मनिरपेक्ष होना चाहिए और है भी । थोपने की प्रवृत्ति से भाषाओं में नहीं उनको बोलने वालों में अन्तर की प्रवृत्ति को बल मिलता है, प्रतिक्रिया होती है और भाषीय आधार पर गुटबन्द होने का खतरा बनता है । एक धर्मनिरपेक्ष समझ उत्पन्न करने का प्रयास होना चाहिए कि दूसरे भाषा-भाषी नागरिकों से हमारा संवाद सुलभ हो सके । इसी से विचारों का विकास होगा और राष्ट्रीयता सुदृढ होगी । भाषा को शिक्षा, संवाद, सेवा, व्यवसाय एवं विज्ञान के प्रयोजन के अनुसार चलना है और इसी तरह से चलने देने में ही भाषीय बन्धन से मुक्ति मिल सकती है और व्यक्ति की प्रगति एवं राष्ट्र की एकता मजबूत हो सकती है ।[८] बाह्याचार, कर्मकाण्डों की विभिन्नता राष्ट्रीयता के लिए खतरा नहीं बन सकती क्योंकि वे व्यक्ति की व्यक्तिगत रूचि एवं आस्था के विषय हैं । इनके राजनीतिक एवं सामाजिक उदात्तीकरण से व्यक्ति में कर्तव्यबोध की भावना का उदय होता है, राष्ट्रधर्म की भावना का व्यक्ति में जन्म होता है ।

बहुत से साम्राज्यवादी राष्ट्र भारत में रहने वाले विभिन्न धर्म जाति के लोगों को अपने धर्म जाति का होने का हवाला देकर अपने कुत्सित भावनाओं का फैलाव करने के लिए रिझाते हैं । धर्मान्तरण की घटनाएँ इसी साम्राज्यवादी नीति का एक प्रतिफल है । किन्तु इस तरह की घटनाओं का एक प्रमुख कारण, गरीबी, अशिक्षा और सरकारी तथा प्रजातान्त्रिक धर्मनिरपेक्ष संगठनों के द्वारा भूखे, बीमार, अनाथ तथा असहायों की उपेक्षा है । यदि सरकार या इन संगठनों द्वारा उन अनाथों, असहायों एवं उपेक्षितों को रोजी-रोटी, कपडा, मकान, पानी, दवा एवं चिकित्सा की मुकम्मल व्यवस्था हो तो मरणयुक्त बलात् धर्मान्तरणों को रोका जा सकता है । इसके अभाव में इन सुविधाओं एवं सेवाओं को प्रदान करने वाला धार्मिक पंथ भूखे, बीमार, उपेक्षित असहायों को आदर्श लगता है और वे धर्मान्तरण द्वारा इन सुविधाओं

को और ठीक ढंग से प्राप्त करने या प्राप्ति की सुनिश्चितता की लालच में धर्मान्तरण के लिए अपने को सौंप देते हैं । उन्हें अपने प्राण, मन, शरीर, परिवार और सामाजिक प्रतिष्ठा बचाने का विकल्प नहीं दीखता । जो लोग धर्मान्तरण की निन्दा करते हैं उन्हें इस परिस्थिति को समझना होगा और सामाजिक कार्य समझकर उनके लिए उन आवश्यकताओं को उपलब्ध कराने में जुटकर काम करना होगा क्योंकि धर्मान्तरण कोई वास्तविक वैचारिक समस्या नहीं, बल्कि जमीनी समस्या है और उसे राष्ट्र को योजनाबद्ध ढंग से दूर करने में प्रशासनिक दक्षता तथा असहिष्णुता का परिचय देना होगा । उन्हें सही शिक्षा एवं सेवा से जोडने का सार्थक प्रयास करना होगा । उनके लिए व्यवसाय एवं कुटीर उद्योगों की उपलब्धता सुनिश्चित करनी होगी। धर्मनिरपेक्ष प्रजातन्त्र होने के नाते राष्ट्र में ही नहीं, पर राष्ट्रों में भी यदि ऐसे समूह हैं तो उन्हें भी प्रगति की धारा में लाने का प्रयास इसका परम कर्तव्य है । इसके उत्तरदायित्व से कोई भी लोकतन्त्र मुँह मोडकर लोकतन्त्र नहीं कहला सकता ।

लोकतन्त्र की आधारभूत विशेषता विरोध के प्रति आदर एवं उसकी स्वीकार्यता है । यह लोकतन्त्र का प्राण है । जितना सशक्त एवं सही विरोध होगा उसी अनुपात में राष्ट्र की कुशलता सुनिश्चित होगी । आज भारतीय लोकतन्त्र में द्वन्द्व एवं ह्रास के अनेक कारणों में सबसे प्रमुख कारण विरोध का सही नहीं हो पाना है । आज 'विरोध' भी धर्मनिरपेक्ष एवं लोकतांत्रिक न हो कर साम्प्रदायिक हो गया है । धर्मनिरपेक्षता को साम्प्रदायिकता एवं साम्प्रदायिकता को धर्मनिरपेक्षता कहना अथवा साम्प्रदायिकता का विरोध एक-दूसरे प्रकार की साम्प्रदायिकता से होना लोकतन्त्र में विरोध के अर्थ से सर्वथा विपरीत है । इसका कारण तथाकथित नेताओं में सही राजनीतिक एवं सामाजिक शिक्षा एवं प्रशिक्षण का अभाव है । सियासत करने वाले बहुत से लोग न तो राजनीति का सही अर्थ जानते हैं न धर्मनिरपेक्षता का और न ही राष्ट्रवाद और राष्ट्रीयता का । वे लोकतन्त्र का अर्थ भी स्वेच्छाचारी सोच और भाषणों द्वारा अपने भ्रम के विस्तार की स्वतंत्रता से अधिक नहीं समझते । अपनी नागरिकता और राष्ट्र का शोषण लोकतन्त्र नहीं है । यह 'विरोध' एक व्यापक अनुशासन और स्वेच्छाचारिता से अधिक मर्यादित जिम्मेदारी है और विरोध में यदि यह मर्यादा है तो वह राष्ट्र की प्रगति के लिए रामबाण है, आदरणीय है, और संग्राह्य है । वैसे भी, राजनीतिक एवं सामाजिक मूल्यों में ह्रास के अवसरों पर विरोध का अंकुश और स्वीकार्यता की परम्परा सरकारों को, राज्य को निरंकुश एवं जातिवादी होने से बचाती है । सरकारों के सम्भावित निरंकुश एवं स्वेच्छाधारी क्रियाकलापों के

अवसरों पर उनकी टांग खींचने में सचेष्ट रहने वाला बल 'विरोध' है। सरकारों के द्वारा होने वाले किन्हीं गलत नीतियों, सिद्धांतों एवं समझौतों के विरुद्ध उपस्थित 'विरोध' एक वैचारिक अथवा तार्किक संवाद की स्थिति पैदा करता है तथा सर्वमान्य समझ पैदा होने की अनुकूल प्रजातान्त्रिक भूमिका बनता है।

वर्तमान में विभिन्न विचारधारा वाले घटकों से मिलकर बनी हुई मोर्चा सरकारों में घटक दलों की भूमिका भी विरोध पक्ष की तरह हो रही है और विरोध पक्ष अलग बहुमत वाला मोर्चा बनकर सरकार पर काबिज होने की और केन्द्रित कूटनीति में लगा हुआ है। ऐसी स्थिति में सही लोकतान्त्रिक राजनीति नहीं हो पा रही है। पुन: बडी शक्तियाँ, विश्व बैंक तथा विश्व व्यापार संगठनों के दबाव पर कुछ ऐसे कार्यों को करने या न करने की स्थिति पैदा होती है जो राष्ट्र की धर्मनिरपेक्ष लोकतान्त्रिक मर्यादाओं के अनुकूल नहीं है। कुछ लोग अराजक प्रवृत्तियों को साथ लेकर सियासत में लगे हैं और साम्राज्यवादी राष्ट्रों के गुलामों जैसी क्रिया-कलापों में संलग्न है। ऐंसी स्थिति में वे धर्मनिरपेक्षता के विरुद्ध द्वन्द्व पैदा करते हैं। इन द्वन्द्वों का कारण सरकार एवं विरोध पक्ष के बीच वैचारिक समझ का अभाव नहीं माना जा सकता क्योंकि ये द्वन्द्व प्रशासनिक दक्षता और धर्मनिरपेक्ष इच्छा शक्ति से समाप्त हो जाने योग्य हैं।

जो कुछ भी हो, जिस धर्मनिरपेक्ष लोकतन्त्र में नागरिक को शिक्षा, व्यवसाय, नौकरी, चिकित्सा एवं अन्य सार्वजनिक सुविधाओं के लिए पैरवी पैगाम करनी पडती हो और उसके लिए अधिकारी के जाति, समुदाय विशेष के प्रभाव वाले लोगों की तलाश करनी पडती हो, सत्ता और सियासत के लिए मुल्ला, पादरी और महंथों के इशारों पर चलना तथाकथित राजनेताओं के लिए आवश्यक हो गया हो, अपनी सुरक्षा, राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक हित के लिए सरकार, कानून, प्रशासन एवं न्याय की अपेक्षा धार्मिक समुदायों के अध्यक्षों की कृपा का पात्र बनना ज्यादा कारगर प्रतीत होता हो, राजनीति एवं सियासत में साम्प्रदायिक, साम्राज्यवादी, पूँजीवादी कूटनीतियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका का संदेश मिलता हो, असंवैधानिक, असामाजिक कार्यों के आधार पर सत्ता में भागीदारी सरल और कारगर होती हो, और जनता में यह संदेश आ रहा हो कि कोई भी राजनीति इन कृत्यों के बिना अबाध रूप से सफल नहीं हो सकती, सभी व्यक्तियों समुदायों के लिए बिना भेदभाव का समान कानून संहिता कारगर न हो, अधिकारियों का विवेक राष्ट्रीयता के दोहन में लगता हो और राष्ट्र अशिक्षा, साम्प्रदायिक शिक्षा, व्यक्तिपूजा और समुदायों

के द्वारा नियन्त्रित हो, सम्प्रदाय हित राष्ट्रीय हित को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभावित करता हो, जाति पर आधारित राजनीति की पाबन्दी कारगर न हो और अन्ततो उपयुक्त सभी राष्ट्र विरुद्ध भूमिकाओं का आचरण करने वाला देशद्रोही न होकर सम्मानित होता हो तो उस राष्ट्र में धर्मनिरपेक्ष लोकतान्त्रिक मर्यादाओं का अतिक्रमण होगा ही। यदि राष्ट्र को विश्व में श्रेष्ठ और गौरवान्वित करना है तो उपयुक्त रेखांकित विकृतियों को सरकारें एवं न्यायपालिकाएँ प्रशासनिक दक्षता तथा न्याय द्वारा दूर कर लोगों के आस्था के आदर्श बन सकते हैं। ऐसा करने पर विकृत तत्त्वों के प्रति लोगों का आकर्षण समाप्त होगा और वह पूरी क्षमता तथा निष्ठा से अपनी सेवाओं को राष्ट्र की एकता, स्वतन्त्रता, रुचियों एवं प्रगति में अपने व्यक्तिगत हित से भिन्न समझ कर, अर्पित करेगा तभी श्रेष्ठ राज्य का श्रेष्ठ नागरिक बनने का गौरव प्राप्त होगा।[१]

दर्शन शास्त्र विभाग
ल. ना. मिथिला विश्वविद्यालय
दरभंगा (बिहार)

देवेन्द्र नाथ तिवारी

टिप्पणियाँ

१. Edwin A. Burtt warns that philosphers have moved away from the mutual search for enlightenment, characteristic of Socratic dialogue, to arrive at a method of disputation in which they seek victory over one another. Philosophy vs. War. Introduction, p. XV. Edited by R. Ginsberg, The Critique of War. Chicago, 1969.

२. First of all, as regards the future development of mankind and quite apart from all present political considerations fascism does not, generally speaking, believe in the possibility or utility of perpetual peace. War alone keys up all human energies to their maximum tension and sets the seal of nobility on people. Doctrine of Fascism Musolini.

३. Adolf Hitlar, Mein Kampt, New York, Houghton, Miffin, 1932, p. 175.

४. Ibid., p. 949.

५. Quoted from 'National Sovereignty and International Anarchy by Paul Arthur Schilpp, p. 152, edited by R. Ginsberg, Chicago, 1969.

६. There is only one possible way of gettingaway from this lawlessness state and that is, "just as in case of individual men (for states) to give up their wild and lawless freedom, to accept public and enforceful law, and in this way to form a (consistantly growing) federation of nations (civitas gentium) which finally would include all nations. But this the nations and governments do not wish to do". Zum Ewigen Friedenwerke, Vol. p. 441, Eng. Tr. by Paul Arthur Schilpp.

७. उदारीकरण एवं भूमण्डलीकरण व्यवहार में कुछ राष्ट्रवादी विकृति को भी अपने से अलग नहीं कर सके हैं । उदाहरण के लिए किसी देश में उत्पादन को लगातार बनाए रखने के लिए बीच-बीच में युद्ध की स्थिति बने रहना उदारीकरण एवं वैश्वीकरण की नीति के अनुकूल माना गया है। जैसे जापान की आर्थिक स्थिति के चरमरा जाने के पीछे अमरीका यही कारण बताता है कि यहाँ बहुत दिनों से युद्ध की स्थिति का अभाव रहा है जो कि इस व्यवस्था के तहत उत्पादन की उत्तम स्थिति के बने रहने के लिए जरूरी होता है । अमरीका अपना उत्पादन बढाने के लिये युद्ध की स्थिति बने रहने की प्रक्रिया चाहता है । इसका प्रत्यक्ष उदाहरण नाटो द्वारा सर्विया पर आक्रमण तथा मित्र राष्ट्रों द्वारा इराक पर आक्रमण है ।

८. भाषीय विवाद अर्थ समझने और संवाद होने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं है क्योंकि सभी भाषाओं से कहा जाने वाला अर्थ तो एक ही होता है । लिपियाँ एवं बोलियाँ जो संवाद या बोध उत्पन्न करने की माध्यम है, उनमें फैमिली रिजम्बलेन्स उनके सांस्कृतिक एकता को नहीं अपितु जातीय एकता को ही मात्र सूचित करता है । भूमण्डलीयकरण के वर्तमान दौर में व्यक्ति और समाज की सोचं एवं, संवाद के माध्यमों ने भाषा के बारे में व्याप्त व्यक्तियों एवं समुदायों की संकीर्णता को बिल्कुल निराधार बना दिया है । उदारवाद एवं भूमण्डलीकरण के इस दौर के साथ सामंजस्य में शिक्षा, संचार सेवा और विज्ञान को अधिकाधिक रूप से अपनाने की

प्रतिस्पर्धा भाषीय विवादों को महत्त्वहीन बनाने की दिशा में अत्यन्त सक्रिय है ।

९. Mother India is essentially these Millions of people and victory to her meant victory to these people. Discovery of India, 1967, p. 62.

पुस्तक - समीक्षा

लुडविग विट्गेन्स्टाइन : 'कल्चर एण्ड वैल्यू' संपादक एलोयस पिचलर, हिन्दी अनुवाद अशोक वोहरा, प्रकाशन भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद, १९९८ पृष्ठ lx + xlviiih - lvih + 137 + 135h. मूल्य रु. ४००/-

भाषा - विश्लेषण की पद्धति से दुनिया भर के दार्शनिक चिन्तन को एक नवीन दिशा प्रदान करनेवाले महान् दार्शनिक लुडविग विट्गेन्स्टाइन के संस्कृति सभ्यता, साहित्य व नैतिकता सम्बन्धित विचार उनकी उन टिप्पणियों में उपलब्ध हैं जो एलोयस पिचलर द्वारा चयनाधारित व संपादित पुस्तक **'कल्चर एण्ड वैल्यू'** में प्रस्तुत की गयी हैं । फॉनरिट् द्वारा इस पुस्तक का अनुवाद आंग्ल-भाषा में किया गया तथा उपरोक्त समीक्षार्थ पुस्तक अशोक वोहरा कृत हिन्दी अनुवाद है ।

विट्गेन्स्टाइन की तीन पुस्तकें **'ट्रैक्टेट्स लॉजिको- फिलासोफिकल'**, **'फिलॉसोफिकल इन्वेस्टिगेशन्स'** एवं **'ऑन सर्टेन्टि'** प्रत्यक्ष एवं प्रभावी रूप से तत्त्वमीमांसीय एवं ज्ञानमीमांसीय समस्याओं में प्रयुक्त भाषाओं एवं उससे उपजे विसंगतियों के स्पष्टीकरण हेतु भाषा-विश्लेषण व भाषा के उपयुक्त प्रयोग पर केन्द्रित हैं । इन तीनों पुस्तकों से भिन्न **'कल्चर एण्ड वैल्यू'** में प्रत्यक्षरूप से संस्कृति, सभ्यता, नैतिकता, धर्म, कला, कविता, नाटक संगीत, पुरातत्त्व, मानवीय व्यवहार, मानवीय चिन्तन, दार्शनिक चिन्तन की प्रकृति एवं इनसे सम्बन्धित प्रश्नों का विवेचन एवं स्पष्टीकरण भाषा-विश्लेषण एवं मानवीय व्यवहार के निरीक्षण पर आधारित है । अपने विचारों को स्पष्ट करने के लिए विट्गेनस्टाइन लेबर व वेगनर जैसे संगीतज्ञों, पीटर श्लेमिहल जैसा कहानीकार, स्पैंग्लर जैसा लेखक, यहूदी व ईसाई धर्म, वास्तुकला की संरचना, सभ्यता के अनेक भौतिक एवं व्यावहारिक आयाम व लाइबनित्ज के दार्शनिक विचार का उद्धरण प्रस्तुत करते हैं । इन सभी क्षेत्रों में सत्य एवं सुन्दर संप्रत्ययों का प्रयोग एवं विश्लेषण वास्तविक व्यावहारिक आशय के आधार पर किया गया है ।

समीक्षार्थ पुस्तक **'कल्चर एण्ड वैल्यू'** एक अन्य अर्थ में भी विट्गेन्स्टाइन की अन्य कृतियों से भिन्न है । प्रथम तीन पुस्तकों में वर्णित टिप्पणियों का क्रम

निर्धारण एवं संयोजन स्वयं विट्गेन्स्टाइन द्वारा किया गया है, अत: इनमें विषय सम्बद्धता एवं अंकानुक्रम अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित है, जबकि **'कल्चर एण्ड वैल्यू'** में टिप्पणियों का संयोजन कालक्रमानुसार है। इसमें २१.८.१४ से १७.३.५१ तक विट्गेन्स्टाइन द्वारा लिखित टिप्पणियों का संकलन है, जिसमें विषयों की विविधता है। विषयों की विविधता और अन्तर्सम्बन्धता के कारण उनको विषयानुसार पृथक् करके क्रमनिर्धारण अत्यन्त दुरूह कार्य है।

प्रो. बोहरा विट्गेन्स्टाइन-दर्शन के अधिकारी विद्वान् हैं, एवं अनुवाद के लिए अपेक्षित हिन्दी व आंग्ल-भाषा पर समान अधिकार रखते हैं। प्रो. वोहरा द्वारा ही अनुवादित विट्गेन्स्टाइन की अन्य पुस्तकें 'फ़िलॉसॉफिकल इन्वेस्टिगेशंस' व 'ऑनसर्टेन्टि' में इनकी प्रतिभा स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। 'कल्चर एण्ड वैल्यू' विट्गेन्स्टाइन की प्रो. वोहरा द्वारा अनुवादित तीसरी पुस्तक हैं। प्रथम दो पुस्तकों की तुलना में काफी सीमा तक़ यह पुस्तक अनुवाद की यांत्रिकता-दोष से मुक्त है। स्वतंत्र रूप से हिन्दी रूपान्तर पढने पर भाव-संप्रेषण निर्बाध और सहज है। अधिकांश टिप्पणियों का अनुवादित रूप इतना सहज व सटीक है कि उसमें एक शब्द भी जोडना-घटाना या इधर-उधर करना असंभव है। ऐसा करना या तो भाव-संप्रेषण बाधित करेगा या वाक्य विन्यास का सौन्दर्य नष्ट कर देगा। उदाहरणार्थ, निम्न अनुच्छेदों को लिया जा सकता हैं -

"अत्यन्त मेधावी होने पर भी, कोई व्यक्ति अपने बारें में जितना कम जानता है और कम समझता है, वह उतना ही कम महान् होता है। यही कारण है कि हमारे वैज्ञानिक महान् नहीं हैं। इसीलिए फ्रायड, स्पैंग्लर, क्राउस, आइन्स्टाइन महान् नहीं हैं"। (पृष्ठ ५३) या "अपने आपको पूरी तरह समझना मुश्किल है क्योंकि शुभ और कल्याणकारी हेतु से प्रवृत्त कर्म कायरता अथवा उदासीनता के परिणाम भी हो सकते हैं। नि:सन्देह हमारे आचरण का कारण शुद्ध प्रेम हो सकता है, किन्तु हमारा आचरण धोखाधडीं अथवा निष्ठुरता का परिणाम भी हो सकता है। वैसे ही जैसे प्रत्येक विनम्रता नेकी का रूप नहीं होती। ये संशय धर्म में विलीन होने पर ही समाप्त होंगे, क्योंकि केवल धर्म में ही अहंकार के नाशक से एवं सर्वव्यापी होने की शक्ति है"। (पृष्ठ ५४)

अनुवादित पुस्तक में समुचित भाव-संप्रेषण के लिए वर्णित विषय-वस्तु को आत्मसात करना एक अनिवार्य शर्त है, परन्तु अनुवाद करते समय इसका अतिशय प्रयास या तो अत्यन्त संक्षिप्तीकरण की ओर ले जाता है या अनुवाद में व्याख्यात्मकता

आ जाती है और दोनों ही स्थितियों में अनुवाद्य एवं अनुवादित पाठों के बीच अर्थभेद आ जायेगा, इसकी सहज संभावना होती है । इस प्रकार का अर्थभेद मूल भाव का संप्रेषण बाधित करता है । भाव-संप्रेषण के अतिशय प्रयास को निम्नलिखित अनुच्छेद संकेतित करते हैं -

"हमें तुलना के अभिप्राय का, इस तरह की दृष्टि की व्युत्पत्ति का पता होना चाहिए, नहीं तो बहस में भटकाव आ जायेगा" । (पृष्ठ २१) के स्थान पर "हमें तुलना का वह विषय-वस्तु बताना होगा, जिससे एक पद्धति प्राप्त होती है, ताकि पूर्वाग्रह लगातार विवाद में न फँसे" उचित होता । उपरोक्त अनुच्छेद में भाव-संप्रेषण के अतिशय प्रयास के कारण मूलभाव व प्रारूप दोनों में भिन्नता पायी जा रही है । इसी प्रकार एक दूसरा अनुच्छेद भी है, "उसके लिए कोई समझौता नहीं था, उसका जीवन तंग व दयनीय है" के स्थान पर "उसके लिए कोई समाधान नहीं था, उसका जीवन आश्रयहीन और कष्टप्रद है ।" अधिक उचित होता, क्योंकि इसमें यद्यपि भाव काफी सीमा तक संप्रेषित है, फिर भीं प्रारूप परिवर्तित है । विट्गेन्स्टाइन द्वारा लिखित एक मात्र कविता का अनुवाद पढते समय भी कुछ ऐसाही असहज-सा लगता है ।

इसके अतिरिक्त अनेक स्थलों पर शब्दों का चयन उचित नहीं प्रतीत होता है, जैसे पृष्ठ ८ पर clarity स्पष्ट-के स्थान पर समय का प्रयोग, पृष्ठ ९ पर end के लिए उद्देश्य के स्थान पर मूल्यवान का प्रयोग, पृष्ठ ३२ पर Imagination के लिए कल्पना के स्थान पर अन्त:कल्पना, पृष्ठ ३३ पर belief के लिए विश्वास के स्थान पर विश्वसनीयता, पृष्ठ ६८ पर sensibility के लिए संवेद्यता के स्थान पर संवेदन का प्रयोग उपयुक्त प्रतीत नहीं होता । सम्पूर्ण पुस्तक में अनेक स्थानों पर इस प्रकार के अनुपयुक्त शब्द-चयन से या तो भाव-संप्रेषण बाधित हुआ है, या पाठक थोडा असहज हो जाता है, दूसरे शब्दों में पाठक को इन शब्दों का प्रयोग खटकता है ।

अनुपयुक्त शब्द-चयन से भाव-संप्रेषण कैसे बाधित होता है, इसका एक उदाहरण पृष्ठ ३७ पर द्रष्टव्य है । मूलानुवाद है - "देवात्मा ही मूलतत्त्व की, आपके जीवन के मूलतत्त्वों की, इन शब्दों में विवेचना करते हैं । "इसके स्थान पर "आपके जीवन के लिए जो अनिवार्य है, उस मूलतत्त्व की देवात्मा इन शब्दों में विवेचना करता है ।" मूलानुवाद में 'मूलतत्त्व' एवं 'अनिवार्य' दोनों के लिए मात्र मूलतत्त्व का प्रयोग किया गया है, जो उचित नहीं जान पडता है, क्योंकि एक essential का प्रयोग स्थिति विवेचना के लिए ही है ।

फिर भी प्रो. वोहरा द्वारा अनुवादित विट्‌गेन्स्टाइन की कृति 'कल्चर एण्ड वैल्यू' उन का एक ऐसा श्रम-साध्य कार्य है, जो विट्‌गेन्स्टाइन दर्शन के हिन्दीभाषी अध्येताओं, शोधार्थियों एवं जागरूक पाठकों को चिन्तन के एक नवीन आयाम की ओर ले जाने एवं विट्‌गेन्स्टाइन दर्शन को समग्रता में समझने के लिए अपेक्षित एवं अत्यन्त उपयोगी है। इस दृष्टिकोण से हिन्दी-भाषी पाठकों के लिए तो प्रो. वोहरा द्वारा अनुवादित पुस्तक अमूल्य निधि है एवं निश्चित रूप से इसका स्वागत किया जाना चाहिए।

प्रवक्ता, दर्शनशास्त्र विभाग

डॉ. इन्दु पाण्डेय

हेमवतीनन्दन बहुगुणा गढवाल विश्वविद्यालय

श्रीनगर (गढवाल)

उ. प्र.

परामर्श (हिंदी) के स्वामित्व एवं अन्य विषयों से संबंधित विवरण (फॉर्म ४ नियम ८ देखें)

फॉर्म ४ (नियम ८ देखिये)

१. प्रकाशन स्थान	:	दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७.
२. प्रकाशन अवधि	:	त्रैमासिक
३. मुद्रक का नाम, पता और राष्ट्रीयता	:	डॉ. सुभाषचन्द्र एकनाथ भेलके दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७ भारतीय.
४. प्रकाशक का नाम, पता और राष्ट्रीयता	:	डॉ. सुभाषचन्द्र एकनाथ भेलके दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७ भारतीय.
५. संपादकों के नाम, पता और राष्ट्रीयता	:	डॉ. सुभाषचन्द्र एकनाथ भेलके दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७ भारतीय.
६. उन व्यक्तियों/संस्थाओं के नाम और पते जो समाचार पत्र के स्वामी हो	:	दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७ भारतीय.

मैं सुभाषचन्द्र एकनाथ भेलके एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य हैं ।

सुभाषचन्द्र एकनाथ भेलके

संपादकीय

इन दिनों हम गंभीर रूप से सोच रहे हैं हमारी समाजरचना में उभरते नये प्रारूपों एवं तदनुषंगिक मूल्यों के बारे में, जिन की वजह से हमारी नैतिक धारणाओं के बारे में पुनर्विचार की बेला आ पहुँची है । ज्ञानसंवर्धन के क्षेत्र में जो वृत्तियाँ चलायी जाती हैं उनमें व्यावसायिकता की क्या भूमिका होगी? ज्ञानसंवर्धन के क्षेत्र से त्याग, सेवा, साधना, तपश्चर्या, निरपेक्ष भावसे कार्यरतता ऐसे मूल्य हमारी परंपरा में जुडे रहे हैं। ज्ञानसाधना में कोई चीज हमारी संस्कृति ने कभी बिकाऊ नहीं मानी है । ज्ञान-संपादन का उपयोग प्रदर्शन करने के लिए निषिद्ध माना गया है । ज्ञानवर्धन के लिए तथा ज्ञानक्षेत्र में संवाद के लिए सुविधाएँ उपलब्ध कराना यह समाज की जिम्मेदारी रही है। इस जिम्मेदारी को निभाने के लिए भौतिक प्राप्ति की दृष्टि नहीं रखी गयी थी । ज्ञानसंवर्धन के क्षेत्र में जिन्हें प्रतिष्ठा मिलती रही उन्हें उन के ज्ञानसंवर्धन के कार्य के बल पर ही मिलती रही; उन के किसी अन्य गुणों या उपयोगिताओं के आधार पर नहीं । अत: ज्ञानक्षेत्र के अधिकारी पुरुष सही अर्थ में अधिकारी एवं पूजनीय रहा करते थे । उन की समाज के प्रति त्याग, सेवा एवं निरपेक्षता की भावना रहती थी और उसी को स्वीकार करते हुए समाज उन का उचित सम्मान भी करता रहा । यह वातावरण एक विशिष्ट परंपरा एवं संस्कृति का परिणाम था जो अनेकों सालों से चला आया था ।

समाज जीवन में परिवर्तन होते रहना प्रगति का अहम लक्षण है । लेकिन कोई भी परिवर्तन प्रगति ही हो ऐसा भी हम नहीं मान सकते हैं । विश्व में जो आधुनिकता का वातावरण पैदा हुआ है उस का असर हमारी परंपरा एवं संस्कृति पर होना स्वाभाविक है । लेकिन परिणामस्वरूप अगर हम अपनी आत्मा ही खो बैठते हैं तो वह हमारे लिए अत्यंत हानिप्रद ही रहेगा । सांप्रतीय आधुनिकता की विशेषता यह है कि उस में किसी भी बात का मूल्य उस की भौतिक एवं आर्थिक उपादेयता पर निर्भर करता है । ऐसा मानने से हम जीवन के भौतिक पक्ष तक ही सीमित रहते हैं । हमारी परंपरा एवं संस्कृति की आत्मा भौतिकता की सीमा लाँघने में ही है । इस हालत में

आधुनिकता को फिर एक बार सोचना जरूरी है । आधुनिकता स्वीकारार्ह ही होनी चाहिए, लेकिन वह जहाँ स्वीकारार्ह है क्या वहाँ की आत्मा को नष्ट करनेवाली हो सकती है? क्या ऐसा होना उचित हो सकता है ?

मानवी जीवन के कुछ मूल्य तो अवश्य ही शाश्वत होते हैं । लेकिन उन की अभिव्यक्ति किसी भी युग में एक जैसी होना भी जरूरी नहीं है । मूल्य कालानुरूप अपनी अभिव्यक्ति में परिवर्तित होते हैं, ताकि वे शाश्वत होने के बावजूद प्रस्तुत भी हों । लेकिन अभिव्यक्ति का परिवर्तन नहीं हो सकता, इस बात को भी ध्यान में रखना जरूरी है ।

ज्ञानसंवर्धन के क्षेत्र में राजनैतिक एवं आर्थिक सत्ता का स्थान हमारी परंपरा की भूमिका में आज क्या होना चाहिए इस पर हमें सोचना है । ज्ञानक्षेत्र में संस्थानों के अधिकारियों की नियुक्तियाँ उन के ज्ञानविषयक चरित्रगुणों से ही होती हैं ऐसा हम मान नहीं सकते । ऐसे अधिकारपदस्थों के अधकचरे, अपरिपक्व विचार अगर हमारे ज्ञानसंवर्धन के दिशा-दिग्दर्शक हों तो शायद हमारी परंपरा की आत्मा ही लुप्त हो जाएगी। और यह आत्मा अगर लुप्त हो जाए तो उस की जगह ले सके ऐसी व्यवस्था संभव भी है? हमें गंभीर होकर बहुत कुछ सोचना है ।

- सुभाषचंद्र भेलके

ए. जे. एयर के "आत्मा का ज्ञान" मत की समीक्षात्मक व्याख्या

बहुत से पाश्चात्य दार्शनिक मनस एवं आत्मा को एक दूसरे के पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रयोग करते हैं। कुछ दार्शनिक इन दोनों में भेद करते हैं। आत्मा कर्ता है और यह जिस वस्तु को जानने का प्रयत्न करती है वह विधेय होता है। आत्मा के बिना ज्ञान असंभव है, यहाँ तक कि विचारों में भी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किए बिना ज्ञान की बात नहीं कर सकते हैं। जो आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं वे इसकी भिन्न-भिन्न प्रकृति बताते हैं। कुछ दार्शनिकों ने इसके अस्तित्व का निषेध किया है। ह्यूम आत्मा के अस्तित्व के परंपरावादी दृष्टिकोण का निषेध करता है, जिसके अनुसार आत्मा एक सत्ता के रूप में अस्तित्व रखती है। लेकिन वह (ह्यूम) आत्मा का अनुभव के समूह के रूप में अस्तित्व मानता है।[१] व्यवहारवादियों के अनुसार आत्मा उद्देश्य या ज्ञाता के रूप में अस्तित्व नहीं रखती है। गिलबर्ट राइल के अनुसार आत्मा को मनुष्य की चेतन अवस्थाओं और प्रक्रियाओं को निजी मानसिक जीवन के निवासी मानना गलत है। वह इसको कोटि-त्रुटि मानता है जिसके अनुसार व्यक्ति द्वारा किए गए व्यवहार से आत्मा की एक भिन्न कोटि मानी जाती है।[२] वास्तव में आत्मा व्यक्ति के व्यवहार से भिन्न नहीं है।

जो दार्शनिक आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं उनके लिए वह निरपेक्ष एवं निश्चित अस्तित्व रखती है। देकार्त इसका एक अच्छा उदाहरण है। इस संबंध में उसकी प्रसिद्ध उक्ति है "में सोचता हूँ अत: मैं हूँ।"

एयर देकार्त की तरह आत्मा के अस्तित्व को सत्ता के रूप में स्वीकार नहीं करता है। वह अपने प्रारंभिक चिंतन में आत्मा को ऐन्द्रिक अनुभव की तार्किक संरचना मानता है। एयर की तरह रसेल भी देकार्त के दृष्टिकोण से सहमत नहीं है। वह आत्मा को विशिष्ट विचारों की संरचना मानता है।

आत्मा के इस प्रकार के विश्लेषण के अनुसार यह कहा जा सकता है कि आत्मा कोई तत्त्व-मीमांसीय वस्तु नहीं है बल्कि ऐन्द्रिक अनुभवों की एक

तार्किक संरचना मात्र है । ऐन्द्रिक अनुभव ही एक आत्मा के वास्तविक और संभावित ऐन्द्रिक इतिहास को निर्मित करते हैं । जब हम यह पूछते हैं कि आत्मा का क्या स्वरूप है तो हम यह पूछते हैं कि उन ऐन्द्रिक अनुभवों का आपसी संबंध क्या है जो किसी एक आत्मा के ऐन्द्रिक इतिहास को निर्मित करते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि किन्हीं दो ऐन्द्रिक अनुभवों को एक ही आत्मा के ऐन्द्रिक इतिहास से संबंधित होने के लिए यह आवश्यक एवं पर्याप्त होता है कि उनमें वे जैविक ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तुएँ होनी चाहिए जो उसी शरीर के तत्त्व होते हैं । जो ऐन्द्रिक अनुभव की शृंखला एक व्यक्ति के ऐन्द्रिक इतिहास को निर्मित करती है वे ही शृंखलाएँ अन्य व्यक्ति के ऐन्द्रिक इतिहास को निर्मित नहीं करती हैं । इस प्रकार एक व्यक्ति के ऐन्द्रिक अनुभव की शृंखला अन्य व्यक्ति के एन्द्रिक अनुभव की शृंखला से भिन्न होती है । इसका तात्पर्य यह है कि तार्किक रूप से यह असंभव है कि एक ऐन्द्रिक अनुभव एक से अधिक आत्मा के ऐन्द्रिक इतिहास से सम्बधित होता है । इस प्रकार सभी अनुभव आत्मगत होते हैं और सभी ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तुएँ भी आत्मगत होती हैं ।

किसी वस्तु का तात्कालिक रूप से प्रदत्त होने का अर्थ यही है कि वह ऐन्द्रिक अनुभव की अन्तर्वस्तु है । एयर ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तु को वस्तु न मानकर ऐन्द्रिक अनुभव का ही अंश मानता है । इससे यह निगमित होता है कि जहाँ ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तु का अस्तिव होता है वहाँ ऐन्द्रिक अनुभव का भी अस्तित्व होता है ।[३] यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि जिस अर्थ में भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व होता है उस अर्थ में ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तु एवं ऐन्द्रिक अनुभवों का अस्तित्व नहीं होता है । वे केवल ''घटित होते हैं '' उनके बारे में ''अस्तित्व'' की बात नहीं की जा सकती है । प्रश्न यह उठता है कि क्या ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तु मानसिक होती है या भौतिक? इसके उत्तर में एयर कहता है कि वे न तो मानसिक होते हैं न भौतिक. क्योंकि ''मानसिक'' एवं ''भौतिक'' का भेद ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तु पर लागू नहीं होता है । यह केवल उन वस्तुओं पर लागू होता है जिनकी तार्किक संरचना इनके द्वारा की जाती है । इस प्रकार जो मानसिक एवं भौतिक की भिन्नता होती है वह भिन्नता केवल भिन्न-भिन्न तार्किक संरचनाओं की होती है, जिनके तत्त्व या तो मानसिक होते हैं या भौतिक । एयर के अनुसार तार्किक संरचनाओं के भेद को ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तु के भेद में परिणत किया जा सकता है । इस प्रकार वह ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तु की यथार्थता को स्वीकार करता है ।[४]

एयर ने आत्मा की संरचना ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तु के सन्दर्भ में बतायी और इन ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तु को ऐन्द्रिक अनुभव का अंश माना है । इस धारणा से यह कठिनाई उत्पन्न होती है कि अगर ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तु ऐन्द्रिक अनुभव का अंश है और ऐन्द्रिक अनुभव आत्मा की तार्किक संरचना है तो ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तु एवं ऐन्द्रिक अनुभव की उचित व्याख्या नहीं हो सकती है । इन दोनों में संबंध यदि अंश का पूर्ण के साथ होनेवाले संबंध के अर्थ में लिया जाए तो यह उचित नहीं लगता है कि आत्मा की संरचना ऐन्द्रिक अनुभव द्वारा होती है । जहाँ तक तार्किक संरचना का प्रश्न है वह या तो ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तु से हो सकती है या ऐन्द्रिक अनुभव द्वारा । अगर ऐन्द्रिक अनुभव द्वारा तार्किक संरचना की बात करते हैं तो ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तु की बात समझ में नहीं आती क्योंकि ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तु ऐन्द्रिक अनुभव के अंश मात्र ही माने गए हैं । इससे हम समझ सकते हैं कि तार्किक संरचना दो स्तर की हो सकती है । पहले स्तर में हम यह कह सकते हैं कि ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तु ऐन्द्रिक अनुभव की तार्किक संरचना करती है । दूसरे स्तर पर ऐन्द्रिक अनुभव आत्मा की तार्किक संरचना करते हैं। एयर ऐन्द्रिक अनुभव का विश्लेषण कर्ता और कर्म के रूप में नहीं मानता है क्योंकि इससे हमको अनुभव की क्रियाओं को मानना पडता है । यद्यपि वह ऐन्द्रिक अनुभवों को तार्किक संरचना के रूप में वर्गित नहीं करता है लेकिन जिस ढंग से उसने उनका और ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तुओं का वर्णन किया है उससे यह विदित होता है कि ऐन्द्रिक अनुभव भी ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तु की संरचना मात्र है ।

इस सम्बन्ध में "तार्किक संरचना" के बारे में कठिनाई उत्पन्न होती है । अगर आत्मा एक तार्किक संरचना है तो "आत्मा" को "अनात्मा" से कैसे भेद किया जा सकता है । अर्थात् किस प्रकार एक व्यक्ति एक टेबल से भिन्न समझा जा सकता है । जहाँ तक दोनों को हम तार्किक संरचना मात्र मानते हैं तो इन दोनों में मूलभूत भिन्नता दिखायी नहीं देती है । इस सम्बन्ध में एयर का यह कहना है कि इन दोनों की भिन्नता ऐन्द्रिक अनुभवों के सन्दर्भ में कर सकते हैं जो इन संरचनाओं के तत्त्व हैं । उसके अनुसार एक तार्किक संरचना को दूसरी तार्किक संरचना से भिन्न करनेवाला तथ्य यह है कि वह भिन्न-भिन्न ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तुओं द्वारा संरचित होता है अथवा उन ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तुओं के भिन्न-भिन्न रूप से संबंधित होने से होता है ।[५]

जिस अर्थ में आत्मा की संरचना को हम समझते हैं उससे भिन्न अर्थ में किसी भौतिक वस्तु की संरचना समझी जानी चाहिए । आत्मा के बारे में हम यह कह सकते हैं कि उसकी तार्किक संरचना ऐन्द्रिक अनुभवों द्वारा होती है जबकि

भौतिक वस्तु की तार्किक संरचना ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तुओं द्वारा होती है। क्योंकि एक ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तु किसी ऐन्द्रिक अनुभव से भिन्न प्रकार की वस्तु होती है। अतः ऐन्द्रिक अनुभवों द्वारा जो तार्किक संरचना होती है वह भी उस तार्किक संरचना से भिन्न होनी चाहिए जो ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तु द्वारा होती है। जब एयर यह कहता है कि ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तु ऐन्द्रिक अनुभव के अंश मात्र है तो इसका तात्पर्य यह है कि ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तु और ऐन्द्रिक अनुभवों में वही सम्बन्ध है जो एक अंश का पूर्ण से होता है, क्योंकि अंश और पूर्ण एक नहीं होते हैं। इसी प्रकार ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तु और ऐन्द्रिक अनुभव भी एक नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार जब हम यह कहते हैं कि आत्मा ऐन्द्रिक अनुभवों की एक तार्किक संरचना है तो इससे यह निगमित नहीं होता है कि आत्मा ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तु की तार्किक संरचना है।[६]

एयर ऐन्द्रिक अनुभवों को ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तु की तार्किक संरचना नहीं कहता है। इस प्रकार आत्मा को ऐन्द्रिक अनुभवों की संरचना मानना उचित नहीं लगता है। यह तभी संभव हो सकता है जब ऐन्द्रिक अनुभव स्वयं को ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तु की तार्किक संरचना माने ऐसा मानने से हम ऐन्द्रिक अनुभव का विश्लेषण क्रिया और वस्तु (एक्ट एण्ड ऑबजेक्ट) के सन्दर्भ में स्वीकार करने को बाध्य नहीं होते हैं। इसी प्रकार के विश्लेषण को रखने के प्रयत्न से एयर ने ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तु को ऐन्द्रिक अनुभव के अंश के रूप में स्वीकार किया है। इस प्रकार हम उसके आत्मा के स्वरूप को ऐन्द्रिक अनुभवों की तार्किक संरचना के रूप में तभी समझ सकते हैं जबकि ऐन्द्रिक अनुभवों को भी ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तु की संरचना के रूप में समझते हैं। एयर का आत्मा का ऐन्द्रिक अनुभवों की तार्किक संरचना संबंधी मत ह्यूम के मत से समानता रखता है, लेकिन उसका मत ह्यूम के मत की पुनरुक्ति मात्र नहीं है। ह्यूम ने आत्मा के स्वरूप की व्याख्या प्रपंचवादी दृष्टिकोण से की है, एयर ने भी आत्मा के ज्ञान के बारे में प्रपंचवादी दृष्टिकोण अपनाया है। लेकिन उसके अनुसार आत्मा केवल ऐन्द्रिक अनुभवों का योग मात्र नहीं है। आत्मा को ऐन्द्रिक अनुभवों में परिणत कर सकते हैं। जिससे उसका आशय यह है कि जब हम कोई बात आत्मा के बारे में करते हैं तो वह बात ऐन्द्रिक अनुभवों के बारे में होती है।[७] एयर और ह्यूम के मत में कोई मौलिक भिन्नता नहीं है। केवल इतना कहा जा सकता है कि जहाँ एयर ने "तार्किक संरचना" की शब्दावली का प्रयोग किया है वहाँ ह्यूम

ने इस शब्दावली का प्रयोग नहीं किया है । मूलत: यह कहना कि आत्मा ऐन्द्रिक अनुभवों की तार्किक संरचना है, उसका यही अर्थ है कि आत्मा ऐन्द्रिक अनुभवों को इंगित करती है । इस दृष्टिकोण से ह्यूम और एयर दोनों आत्मा को अनुभवों की परिधि से परे नहीं मानते हैं । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जो भिन्नता ह्यूम और एयर में है वह केवल शब्दावली की भिन्नता है । ह्यूम का विवेचन इतना स्पष्ट नहीं है जितना एयर का है । ऐसा कहा जा सकता है कि आत्मा के ज्ञान के सम्बन्ध में इन दोनों दार्शनिकों के निष्कर्षों में इतनी भिन्नता नहीं है जितनी कि निष्कर्षों पर पहुँचाने की पद्धति के बारे में है । ह्यूम की विधि मनोवैज्ञानिक है जब कि एयर की विधि तार्किक है ।

ह्यूम ने आत्मा को भिन्न-भिन्न प्रत्यक्षों का पुंज मात्र कहा है लेकिन वह यह स्पष्ट नहीं कर सका कि ये भिन्न-भिन्न प्रत्यक्ष/अनुभव किस प्रकार संयुक्त होकर एक आत्मा का निर्माण करते हैं । हालाँकि इस संबंध में उसने स्मृति की चर्चा की, परंतु इससे समझा नहीं सका और यह स्वीकार किया कि जिस सिद्धांत के द्वारा विभिन्न प्रत्यक्ष मिलकर एक आत्मा का निर्माण करते हैं उसको समझना उसके ज्ञान के बाहर है । एयर ह्यूम की इस कठिनाई का समाधान करते हुए कहता है कि वैयक्तिक अभिज्ञान (पर्सनल आइडेन्टीटी) की परिभाषा शारीरिक अभिज्ञान (फिजीकल आइडेन्टीटी) के सन्दर्भ में करनी चाहिए और शारीरिक अभिज्ञान की परिभाषा ऐन्द्रिक अन्तर्वस्तुओं की समानता एवं निरन्तरता के सन्दर्भ में करनी चाहिए ।

वह इस बात को इसलिए कहता है क्योंकि ऐसा सामान्यतया स्वीकार किया जाता है कि कोई मनुष्य अपनी पूर्ण स्मृति खोकर भी जीवित रह सकता है । लेकिन यह कहना कि कोई मनुष्य अपने शरीर के समाप्त होने पर भी जीवित रहता है, आत्म-विरोधी है । जो मनुष्य मृत्यु के बाद के जीवन की बात करते हैं वे अनुभाविक आत्मा की बात न करके उस आत्मा की बात करते हैं जो तत्त्वमीमांसीय रूप से अस्तित्व रखती है ।

एयर, ह्यूम की आत्मा की अवधारणा में अहंमात्रवाद का आक्षेप होने के कारण उचित नहीं मानता है । उसने निजत्व (प्रीवेसी) के तत्त्व को हटाने के प्रयत्न में यह स्वीकार किया कि किसी व्यक्ति के अनुभवों को उसके शारीरिक अभिव्यक्तियों में परिणत किया जा सकता है । इस प्रकार वह अपनी उत्तरवर्ती रचनाओं में यह मानता है कि आत्मा ऐन्द्रिक अनुभवों की तार्किक संरचना न

होकर हमारी शारीरिक अवस्थाओं की तार्किक संरचना मात्र है। इसका आशय यह है कि किसी आत्मा के बारे में कुछ कहने का अर्थ उसके भौतिक शरीर के बारे में कुछ कहना है। एयर का यह मत उसकी पूर्ववर्ती रचनाओं में व्यक्त किए गए मत से भिन्न है। ऐसा कहने से वह ह्यूम के दृष्टि कोण को त्यागकर हॉब्स के दृष्टिकोण को अपनाता है जिसके अनुसार ऐन्द्रिक अनुभवों को समाहित करने के लिए किसी मानस के स्वतंत्र अस्तित्व की आवश्यकता नहीं होती है। ये ऐन्द्रिक अनुभव शरीर स्वयं के ही माने जा सकते हैं। जैसा कि एयर स्वयं कहता है। देकार्त के विरोध में हॉब्स ने यह स्वीकार किया है कि शरीर के अलावा मनस् के अस्तित्व की पूर्व मान्यता की कोई आवश्यकता नहीं है। चेतन अवस्थाएँ और क्रियाएँ शरीर स्वयं की ही मानी जा सकती है।[८] इस प्रकार का मत विटगेस्टीन, कार्नेप और राइल का भी है। यद्यपि हॉब्स, विटगेस्टिन, कार्नेप और राइल के मतों में भिन्नता है परन्तु मूल ये सभी मानते हैं कि चेतन अवस्थाएँ और क्रियाएँ शरीर की ही अवस्थाएँ स्वीकार की जा सकती हैं और इनके अतिरिक्त मनस् के अस्तित्व को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

अगर हम ध्यान से देखें तो हमें विदित होगा कि एयर का यह अपचयन (रिडक्शन) कई कठिनाइयाँ उत्पन्न करता है। वह अनुभव को निजी मानता है क्योंकि एक ही अनुभव दो भिन्न-भिन्न आत्माओं के ऐन्द्रिक इतिहास से सम्बन्धित नहीं हो सकता है। दो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के अनुभव गुणात्मक रूप से समान हो सकते हैं अथवा समान कारण से प्रारम्भ हो सकते हैं लेकिन ये कभी भी संख्यात्मक रूप से एक नहीं हो सकते हैं।[९] अन्य व्यक्तियों की अनुभूतियाँ मेरी अनुभूतियों के समान हो सकती हैं या उनके विचार मेरे विचार के समान हो सकते हैं परन्तु उनकी और मेरी अनुभूतियाँ एक ही नहीं हो सकती हैं। अगर इस तर्क को उचित माना जाए तो एक अनुभव के निजी होने का तत्त्व हटाया नहीं जा सकता है। अगर उसको शारीरिक अवस्था में परिणत कर दिया जाए तो भी उसके निजी होने का तत्त्व नहीं हटाया जा सकता है। यह तभी संभव हो सकता है जब कि एयर यह बताने में सफल हो सके कि एक ही शारीरिक अवस्था भिन्नभिन्न आत्माओं की हो सकती है। जब तक ऐसी बात नहीं कही जा सकती तब तक इस बात का कोई अर्थ नहीं निकलता है कि अनुभवों को उनके अनुकूल शारीरिक अवस्थाओं में परिणत किया जा सकता है। ऐसी बात कहने में एयर को यह बताना पडेगा कि यह संभव हो सकता है कि अन्य व्यक्ति मेरी चाल को

चल सकते हैं अथवा मेरी हँसी को हँस सकते हैं । ऐसा कहने में केवल यही नहीं बताना है कि मेरे समान अन्य व्यक्ति कर सकते हैं बल्कि यह बताना होगा कि अन्य व्यक्तियों का और मेरा तरीका बिल्कुल एक ही है जो असंभव है । एयर स्वयं आगे चलकर इस बात को स्वीकार करता है और कहता है "अगर यह सत्य है कि तुम मेरी भावनाओं को नहीं रख सकते तो यह भी सत्य है कि तुम मेरी नींद नहीं सो सकते अथवा मेरी मुस्कान तुम नहीं भर सकते अभवा मेरी आवाज को तुम नहीं बोल सकते ।"[१०] इस प्रकार हम देखते हैं कि उसके द्वारा ऐन्द्रिक अनुभवों को उनके शारीरिक अभिव्यक्तियों में परिणत करने की योजना उसी प्रकार असफल हो जाती है जिस प्रकार कि उसकी ऐन्द्रिक अनुभवों को सार्वजनिक बनाने की योजना असफल हो जाती है । इस प्रकार एयर का आत्मा का ज्ञान के संबंध में संशोधित मत भी अर्थहीन है जिसके अनुसार उसने यह बताने का प्रयत्न किया है कि आत्मा शारीरिक अवस्थाओं की तार्किक संरचना मात्र है ।

जिस प्रकार आत्मा के स्वरूप को समझने में अनुभव के निजी होने की समस्या आती है उसी प्रकार आत्मा के स्वरूप को समझने के साथ वैयक्तिक अभिज्ञान की समस्या भी हमारे समक्ष आती है । बहुत से दार्शनिकों को वैयक्तिक अभिज्ञान के सिद्धांत की व्याख्या करने में काफी कठिनाई हुई है । एक व्यक्ति के मनस् को उसके शरीर के रूप में परिणत करने का एक परिणाम यह होता है कि हमको वैयक्तिक अभिज्ञान को शारीरिक अभिज्ञान में परिणत करना स्वीकार करना पडता है । एयर ने भी वैयक्तिक अभिज्ञान को शारीरिक अभिज्ञान में परिणत करने का प्रयत्न किया है । इस सम्बन्ध में ह्यूम ने अपनी सीमाओं को स्वीकार किया और कहा कि हम उस सिद्धांत को नहीं जान सकते जिस सिद्धांत के आधार पर हम आत्मा के विभिन्न अनुभवों को एकबद्ध कर सकें और हम यह कह सकें कि भिन्नभिन्न अनुभव मिलकर एक आत्मा का निर्माण करते हैं । इस प्रकार ह्यूम ने वैयक्तिक अभिज्ञान की कसौटी को जानने में असमर्थता प्रकट की । यद्यपि उसने इसमें स्मृति की मदद ली लेकिन वह भी उसे पर्याप्त नहीं लगी । एयर ने वैयक्तिक अभिज्ञान को शारीरिक अभिज्ञान में परिणत करने की बात यह मानकर कही कि व्यक्ति अपनी शारीरिक मृत्यु के बाद जीवित नहीं रहता है । लेकिन किसी व्यक्ति की शारीरिक मृत्यु के बाद भी जीवित रहने की प्राकल्पना व्यर्थ नहीं है । यह कहना आत्म-विरोधी नहीं होगा कि कोई व्यक्ति

अपनी शारीरिक मृत्यु के बाद भी जीवित रहता है, जैसा कि एयर स्वयं ने अपनी उत्तरवर्ती रचनाओं में स्वीकार किया है । अपनी पुस्तक "द प्राब्लेम ऑफ नालेज"[११] में वह कहता है कि ऐसी परिस्थितियों की कल्पना की जा सकती है जिनमें किसी व्यक्ति के बिना शरीर के अस्तित्व होने की बात समझी जा सकती है। अगर किसी व्यक्ति की शारीरिक मृत्यु के बाद उसके जीवित रहने की प्राकल्पना बेकार नहीं है तो वैयक्तिक अभिज्ञान को शारीरिक अभिज्ञान में परिणत नहीं किया जा सकता है । एयर स्वयं यह स्वीकार करता है कि हमको वैयक्तिक अभिज्ञान की एक ऐसी अवधारणा बनानी चाहिए जो किसी व्यक्ति के शरीर के अभिज्ञान पर निर्भर न हो । इस प्रकार वह यह स्वीकार करता है कि वैयक्तिक अभिज्ञान को शारीरिक अभिज्ञान में परिणत करने में कठिनाई आती है । वह यह मानता है कि जितनी कठिनाई वैयक्तिक अभिज्ञान को अनुभव के सन्दर्भ में परिणत करने में होती है उतनी कठिनाई उसको शारीरिक अभिज्ञान में परिणत करने में नहीं होती है ।

एयर के इस मत के प्रति कठिनाई हो सकती है क्योंकि इसमें ऐसा कौनसा सिद्धांत माना जाए जिसके द्वारा बताया जा सके कि किसी व्यक्ति की विभिन्न शारीरिक अवस्थाओं को एक सूत्र में बाँधा जा सके । यह कठिनाई ह्यूम के वैयक्तिक अभिज्ञान के मनोवैज्ञानिक कसौटी में भी आयी थी और वह इस कठिनाई का संतोषजनक उत्तर नहीं दे सका । एयर के समक्ष भी यह समस्या है कि विभिन्न शारीरिक अवस्थाओं को एक ही व्यक्ति के होने की बात कैसे समझी जा सकती है । ऐसा प्रतीत होता है कि उसने शारीरिक कसौटी को साधारण भौतिक वस्तुओं की कसौटी के समकक्ष माना है । इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति का एकत्व और वस्तु का एकत्व एक से स्वीकार नहीं किए जा सकते हैं । क्योंकि व्यक्ति के भिन्नभिन्न अनुभव होते हैं जब कि किसी भौतिक वस्तु के अनुभव नहीं कहे जा सकते हैं । एयर इस कठिनाई को जानता है वह व्यक्ति के अभिज्ञान के बारे में दो कसौटियों को स्वीकार करता है । प्रथम, स्मृति की कसौटी और द्वितीय शारीरिक निरन्तरता की कसौटी । उसका कहना है कि केवल स्मृति के दावे ही पर्याप्त नहीं हैं क्योंकि इसके द्वारा ऐन्द्रिक निरन्तरता की खाई नहीं पार सकते हैं । अत: शारीरिक निरन्तरता को भी मानना अति आवश्यक है । इस प्रकार वह अपनी उत्तरवर्ती रचनाओं में इस मत को स्वीकार करता है कि स्मृति की कसौटी और शारीरिक निरन्तरता की

कसौटी दोनों साथ-साथ काम करती हैं।[१२] अत: एयर के मत के बारे में यह कहा जा सकता है कि वह ह्यूम के मनोवैज्ञानिक कसौटी को स्वीकार करने के अलावा शारीरिक कसौटी भी स्वीकार करता है । इसके पीछे उसकी मान्यता यही रही है कि अनुभव के आधारपर यह नहीं कहा जा सकता है कि व्यक्ति शारीरिक मृत्यु के बाद भी जीवित रहता है, यद्यपि यह प्राकल्पना तार्किक रूप से असंगत नहीं है ।[१३]

अत: उपरोक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निगमित किया जा सकता है कि ए. जे. एयर का ''आत्मा का ज्ञान'' का मत, ह्यूम के मत के समान, अपूर्ण है । यद्यपि एयर ने अपने विवेचन में ह्यूम की कठिनाई को दूर करने का प्रयास किया और इस हेतु हॉब्स के मत का अनुसरण किया, फिर भी उसका मत ''आत्मा का ज्ञान'' नामक समस्या का समाधान करने में असफल रहा है ।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आत्मा प्रत्यक्षगम्य न होने के कारण इसका वस्तुगत ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता है । अत: इसकी सत्ता के बारे में अनेकों अटकलें लगायी जाती हैं और इन्हीं अटकलों के आधार पर इसका ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है और यह ज्ञान कई समस्याओं से युक्त होता है । निष्कर्षत: यह कह सकते हैं कि आत्मा के बारे में निश्चित ज्ञान नहीं हो सकता है ।

सहाय्यक प्राध्यापक **डा. निर्मला जैन**
दर्शन शास्त्र विभाग
सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी महाविद्यालय
सुखाडिया विश्वविद्यालय
उदयपुर (राज.)

टिप्पणियाँ

1. Hume, D. : A Treatise of Human Nature, Book I Part 4, Sec. 6 Clarendon' Press, Oxford, 1896'

2. Ryle, G. : The Concept of Mind, Hutchinson, London, 1949, p. 23'

3. Ayer, A. J. : Language, Truth & Logic , Victor Gollancz Ltd, London, 1936, p.122

4. Ibid : p. 125

5. Ibid : p. 123

6. Suresh Chandra : A Study in Ayer's Epistemology, The Centre of Advance Study in Philosophy, Visva Bharati, Shantiniketan, West Bengal, India, 1970, p. 135

7. Ayer, A. J. : Language, Truth & Logic, p. 128

8. Ayer, A. J. : The Concept of Person & Other Essays, MacMillan & Co. Ltd., London, 1965, p. 84.

9. Ayer, A. J. : The Foundations of Empirical Knowledge MacMillan & Co. Ltd., London, 1940, p. 139

10. Ayer, A. J. : The Concept of Person & Other Essays, p. 80

11. Ayer, A. J. : The Problem of Knowledge, Mac Millan & Co. Ltd., London, 1956, p. 229.

12. Ayer, A. J. : The Central Questions of Philosophy, Weidenfield & Nicolson, London, 1973, p. 121.

13. जैन निर्मला : ए. जे. एयर की ज्ञान मीमांसा, पीएच. डी. की डिग्री के लिए शोध प्रबंध, सुखाडिया विश्वविद्यालय को प्रस्तुत, उदयपुर, 1985, पृ. 171

परामर्श (हिंदी) प्रकाशन

आत्मस्वीकृति – *ले. प्रो. सुरेंद्र बारलिंगे*
अनु. प्रा. राजमल बोरा
सं. डॉ. सुभाषचंद्र भेलके

पृ. ८८ मूल्य रु. ६०/-

मनुष्य और समाज के गौरवशाली अस्तित्व की प्रस्थापना में दर्शन किस तरह अपनी भूमिका अदा कर सकता है ? दार्शनिक का भावविश्व एवं विचार-विश्व किस तरह का होता है ? दार्शनिक अपना जीवन किस तरह व्यतीत करता है ? इन प्रश्नों की खोज का समाधान दिलानेवाली यह पुस्तक अवश्य ही पाठकगण के लिए नयी दृष्टि प्रदान करेगी ।

नव्यन्याय के पारिभाषिक पदार्थ (प्रथम खंड)

ले. डॉ. बलिराम शुक्ल

पृ. २१० मूल्य : रु. १६०/-

नव्यन्याय के अध्ययन के लिए पारंपरिक शिक्षा की आवश्यकता है । लेकिन प्राथमिक स्तर पर तथा तौलनिक अभ्यासकों के लिए नव्यन्याय के पदार्थों का मौलिक परिचय होना जरूरी है । इस दृष्टि से यह पुस्तक पाठकों की सहायता करेगी ।

सांख्य दर्शन में पुरुष का ज्ञानमीमांसीय स्वरूप : एक विवेचना

सांख्य दर्शन द्वैतवादी दर्शन है। पुरुष एवं प्रकृति में से पुरुष को चेतन, अविकारी एवं त्रिगुणातीत तथा प्रकृति को जडतत्त्व के रूप में निरूपित किया गया है। किन्तु पुरुष का यह स्वरूप तात्त्विक स्तर पर माना गया है जब वह सभी प्रकार के तादात्म्यभाव से मुक्त होता है इसके विपरीत स्थिति अर्थात् जब वह प्रकृति की विरूपावस्था से उत्पन्न वैविध्य से प्रभावित होकर उनसे तादात्म्य स्थापित कर लेता है तो यह स्थिति बन्धन की मानी जाती है।

यहाँ हम यह प्रस्तुत करना चाहते हैं कि सांख्य दर्शन में पुरुष के तात्त्विक स्वरूप की ज्ञानमीमांसीय स्थिति कैसी है? तथा इस स्थिति को क्या हम संगत रूप में रख सकते हैं ? इस विवेचन से पूर्व संक्षिप्त में यह प्रस्तुत करना सार्थक होगा कि सांख्य के पुरुष का तत्त्वमीमांसीय स्वरूप क्या है?

कारिका १९ में कहा है कि पुरुष परम विशुद्ध परअपर चैतन्यस्वरूप है। वह पारमार्थिक ज्ञाता या द्रष्टा है जो समस्त ज्ञान और अनुभव का अधिष्ठान है। वह स्वतः सिद्ध, स्वप्रकाश एवं विशुद्ध विषयी है वह, कभी विषय या ज्ञेय नहीं बन सकता। कूटस्थ नित्य, साक्षी, निष्क्रिय, अपरिणामी, अविकारी, परिवर्तन एवं क्रिया से सर्वदा तथा सर्वथा परे है। प्रकृति से नितान्त विपरीत होने से उसे निर्गुण, विवेकी, अविषय, असामान्य, चेतन और अपरिणामी कहा जाता है एवं इस प्रकार उसका साक्षी होना, केवल अर्थात् परमविशुद्ध और आत्यन्तिक दुःख रहित होना, मध्यस्थ अर्थात् तटस्थ या उदासीन अथवा रागद्वेषशून्य होना, द्रष्टा या ज्ञाता अर्थात् शुद्ध चैतन्यस्वरूप होना तथा अकर्ता अर्थात् कर्तृत्व एवं परिणाम से सर्वथा रहित होना सिद्ध होता है।[1] किन्तु यहाँ महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि इस तात्त्विक स्वरूप की प्राप्ति कैसे सम्भव है ? इसके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि सांख्य की ज्ञानमीमांसीय मान्यताओं का विश्लेषण विवेचन करें।

परामर्श (हिन्दी) खण्ड २१ अंक ३, जून २०००

ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से यदि सांख्य के पुरुष के स्वरूप को देखा जाये तो हम पाते हैं कि सांख्य का पुरुष चैतन्यस्वरूप होते हुए भी ज्ञानस्वरूप नहीं है। पुरुष 'ज्ञाता' है किन्तु ज्ञान नहीं है।[२] सत्कार्यवाद के आधार पर सांख्य ज्ञान को उत्पन्न होना मानता है। यहाँ उत्पत्ति का आशय आविर्भाव या अभिव्यक्ति से ही लेना चाहिये किसी नवीन तत्त्व के आविष्कार से नहीं। यह आविर्भाव ज्ञान का आश्रय विकारशील होने का बोध करवाता है। यह विकारशीलता नित्य, अपरिणामी चैतन्यस्वरूप पुरुष में सम्भव नहीं है। अत: ज्ञान को नित्य, परिणामी व जड प्रकृति के विकार बुद्धि का धर्म माना गया है। इसलिए ज्ञान सत्त्वगुण की प्रधानता से युक्त बुद्धि की एक वृत्ति है जो कि बुद्धि में पुरुष चैतन्य के प्रतिबिम्ब होने से उद्भाषित होती है। इससे यह निगमित होता है कि सांख्य में ज्ञान विषयाकार प्राकृत विकार है। इसके साथ ही यहाँ सांख्य दो स्थितियों को ज्ञान मान रहा है। एक बुद्धि के विकार को और दूसरा पुरुष के बोध को।[३] बुद्धि के विकार को जब ज्ञान माना जाता है तो यह ज्ञान केवल सान्निध्यजनित होने से व्यावहारिक ज्ञान होगा। और जब ज्ञान को दूसरे अर्थ अर्थात् पुरुष के बोध के रूप में व्याख्यायित करते हैं तो इसका आशय तात्त्विक ज्ञान से है जिसमें पुरुष अपने वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करता है।

सांख्य की इस ज्ञानमीमांसीय मान्यताओं पर दार्शनिको द्वारा अनेक आपत्तियाँ प्रस्तुत की गई हैं। प्रथम तो यह है कि यदि ज्ञान को बुद्धि का धर्म मान लिया जाये तो एक तो वह स्वरूपत: जड होगा। ज्ञान का जड होना उसके सम्प्रत्यय की मूल मान्यताओं से भिन्न है। दूसरी कठिनाई यह उत्पन्न होती है कि बुद्धि प्रकृति का विकार है इसलिए वह स्वभावत: विषयी से भिन्न एवं निरपेक्ष सत्ता हो जाती है। अत: दो विपरीत स्वभाववाले तत्त्वों के सान्निध्य से ज्ञान को उत्पन्न होना मानना सांख्य की ज्ञानमीमांसा को अनेक असंगतताओं से ग्रस्त कर देता है। कारण यह है कि सान्निध्यजनित ज्ञान तभी तक अपने अस्तित्व को रख सकता है जब तक कि बन्धन की अवस्था है। अत: ऐसे ज्ञान से तात्त्विक स्वरूप की प्राप्ति सम्भव नहीं हो सकेगी। इसी से सम्बद्ध दूसरी समस्या यह है कि बुद्धि स्वरूपत: अचेतन है। पुरुष सान्निध्य के फलस्वरूप जड बुद्धि चेतन नहीं होती अपितु चेतनवत् प्रतीत होती है जो समस्त ज्ञान को ही आभास बना देती है। एक अचेतन विकार को ज्ञान नहीं माना जा सकता है क्योंकि यह स्थिति ज्ञान को मिथ्या प्रतीति सिद्ध करती है। ज्ञान को सान्निध्य का परिणाम मानने पर ज्ञान की दूसरी स्थिति अर्थात् पुरुष के बोध के रूप में ज्ञान की व्याख्या करना असम्भव हो जाता है क्योंकि जब पुरुष को बोध होगा उस समय ज्ञान का प्रत्यय

अनस्तित्व में रहेगा। इसके अतिरिक्त यदि वह ज्ञान स्वरूप नहीं है तो उसे 'बुद्ध' 'विवेकी' कहने का क्या तात्पर्य है ? यह कहीं स्पष्ट नहीं किया गया है। यह कठिनाई उस अवस्था में और अधिक जटिल हो जाती है जब उससे द्रष्टा तथा साक्षी शब्दों का अर्थ केवल यह समझा जाये कि पुरुष स्वयं अपने आपको अपने आपके प्रति ही प्रकाशित करता है अर्थात् वह स्वयं का ही साक्षी तथा द्रष्टा है प्रकृति रूप विषय का नहीं। जैसा कि ईश्वर कृष्ण के दृष्टिकोण से प्रतीत होता है।[४] इसका कारण यह है कि सांख्य दर्शन यथार्थवाद का पोषक रहा है। यदि इस तर्क को स्वीकार कर लिया जाता है तब इसका अर्थ यह होगा कि पुरुषीय ज्ञान का भी कोई न कोई विषय सदैव रहा है जो स्वयं पुरुष नहीं हो सकता। यथार्थवाद की मूलभावना के अनुसार ज्ञाता एवं ज्ञेय, विषयी एवं विषय का भेद परमार्थत: अस्तित्वगत रहता है। ज्ञान केवल इस दोनों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाली एक प्रक्रिया है, वह किसी नये विषय का सृजन नहीं करता। किन्तु सांख्य में यह विरोध स्पष्ट होता है कि जब तक यह प्रक्रिया चलती रहती है तब तक तात्त्विक ज्ञान की प्राप्ति सम्भव नहीं हो सकती क्योंकि यह प्रक्रिया सान्निध्य का परिणाम है। इससे यह भी प्रतिपादित होता है कि यथार्थवाद में विषयी स्वयं विषय नहीं हो सकता है यदि पुरुष की यह स्थिति सम्भव नहीं है तो विषय केवल प्रकृति ही हो सकती है। किन्तु प्रकृति को तो सांख्य नित्य परिणामी, परिवर्तनशील मानते हैं। उसमें स्वरूप तथा विरूप परिणाम सदैव होते रहते हैं। ऐसी अवस्था में पुरुष का इन विषयों का ज्ञाता होने का एक ही तात्पर्य हो सकता हैं और वह है पुरुष द्वारा तादात्म्यभाव को ग्रहण कर विषयाकार होना। चैतन्य केवल पुरुष का लक्षण है, प्रकृति का नहीं। अत: बुद्धिवृत्ति ज्ञान का अर्थ ही होगा चैतन्य का उससे प्रभावित होना या उसके आकार का होना किन्तु इस अवस्था में उसके शुद्धत्व, कूटस्थत्स्व या अपरिणामित्व का क्या होगा ? यदि पुरुष को स्वरूपत: प्रकृति का साक्षी तथा द्रष्टा मान लिया जाये तो विषयी कभी भी अपरिणामी नहीं माना जा सकता है क्योंकि 'नास्मि' 'ने मे' 'नाहम्' का ज्ञान अन्तत: उसके स्वरूप में परिवर्तन लायेगा ही।

यहाँ पुरुष की निर्विकारता तथा शुद्धता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए सांख्य दर्शन व्यावहारिक ज्ञान में पुरुष का सक्रिय योगदान स्वीकार नहीं करता। सांख्य में बुद्धि एक दर्पण के समान हैं। सत्त्वगुण प्रकाशक होता है तथा बुद्धि में सत्त्वगुण की प्रधानता होती है इसलिए विषय का बुद्धि के साथ जब संयोग होता है जब बुद्धि उसी विषय के आकार को ग्रहण कर लेती है बुद्धि के उस विषयाकार होने को बुद्धि की वृत्ति कहा जाता है। किन्तु बुद्धि क्योंकि प्रकृति का विकार है इसलिए बुद्धि का

विषयाकार मात्र हो जाना ज्ञान उत्पन्न होना नहीं है जब तक कि पुरुष का प्रतिबिम्ब उस पर नहीं पडता । यदि बुद्धि के विषयाकार हो जाने मात्र से ही ज्ञान उत्पन्न होता है तो यह स्थिति विषयी के अस्तित्त्व की निरर्थकता प्रमाणित करती है क्योंकि इस धारणा की परिणति प्रत्ययवाद में होती है ।

यहाँ जयमंगलाकार का यह मानना है कि यदि बुद्धि के विषयाकार को ही ज्ञान उत्पन्न होना मान लिया जाये तो उसमें कोई असंगतता नहीं है क्योंकि विषयाकारिता सान्निध्य का परिणाम है जो विषयी के योगदान के बिना सम्भव नहीं है । यहाँ सांख्याचार्य यह मानते हैं कि बुद्धि एक ओर तो विषय के आकार को ग्रहण करती है तथा दूसरी ओर विषयी द्वारा प्रकाशित होती है । सत्त्वगुण की प्रधानता एवं विषयी के सान्निध्य के कारण केवल बुद्धि में ही पुरुष का प्रतिबिम्ब होना स्वीकार किया गया है । इसीलिए ज्ञान को बुद्धि के धर्म के रूप में व्याख्यायित किया गया है ।

किन्तु जब सांख्य सान्निध्य शब्द के माध्यम से ज्ञान को उत्पन्न होना मानता है तो यह स्थिति ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से सन्तोषपूर्ण नहीं कही जा सकती है । कारण यह है कि सान्निध्य की स्थिति में अविवेक एवं अप्रमा की अवस्था है जिसके माध्यम से तात्त्विक ज्ञान की प्राप्ति कठिन हो जाती है । दूसरा कारण यह है कि जिन दो तत्त्वों के बीच सान्निध्य माना है वे दोनों ही तत्त्व यथार्थतः विपरीत विशेषताओंवाले हैं इसलिए प्रश्न यह है कि दोनों के बीच 'सान्निध्य' क्योंकर होता है ? जहाँ तक 'सान्निध्य' का प्रश्न है, इस संबंध में सांख्य इसे सप्रयोज़नात्मक संसर्ग के रूप में प्रस्तुत करता है। यह प्रयोजन जहाँ विषयी का मोक्ष है वही विषय का भोग अर्थात् अपनी सार्थकता की अनुभूति है जो उसे विषयी के भोग करने से ही मिल सकती है । जब इन दोनों के बीच यह संसर्ग होता है तब विषयी अर्थात् पुरुष प्रकृति की विरूपावस्था से जनित वैविध्य से प्रभावित होकर उन विशेषताओं का स्वयं के व्यक्तित्व पर आरोपण कर लेता है जो वस्तुतः उसकी है नहीं । परिणामतः तब विषयी 'अहमस्मि' के रूप में सत्ता का कर्ता एवं 'अहं जानामि' के रूप में ज्ञान कर्ता सा हो जाता है । इस दृष्टिकोण से बुद्धि के संपर्क से वह ज्ञानवान् या ज्ञाता बनता है और फिर उसमें स्वभावतः समस्त प्रकार का कर्तृत्व आ जाता है । जिससे वह अधिष्ठाता एवं भोक्ता आदि भी हो जाता है । पुरुष स्वरूपतः 'अहं न मे' होते हुए भी 'अहम्' के रूप में स्वयं को अनुभूत करता है । किन्तु यह उसकी वास्तविक इयता की अनुभूति नहीं, अपितु बुद्धि प्रयुक्त अनुभूति है । वह स्वरूपतः अकर्ता होते हुए भी जो 'जानामि' के रूप में ज्ञानकर्ता बनता है । यह एक

प्रकार का आरोपण है जो वह स्वयं पर करता है।[5]

इस विवेचन से यह निगमित होता है कि यदि ज्ञान को पुरुष एवं प्राकृत विकार बुद्धि के तादात्म्य का परिणाम माने तो तात्त्विक स्थिति में 'ज्ञान' नामक वृत्ति तिरोहित हो जायेगी। इस स्तर पर विषयी एवं विषय ही शेष रहेंगे, 'ज्ञान' नहीं। और यदि ज्ञान का प्रत्यय अस्तित्वगत नहीं रहेगा तो पुरुष अपनी तात्त्विक स्वरूप की अनुभूति या ज्ञान कैसे कर सकेगा अर्थात् यह अनुभूति कि -

एवं तत्त्वाभ्यासानास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद् विशुद्ध केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥[6]

अर्थात् इस प्रकार के तत्त्वज्ञान से कि न अस्मि - मैं नहीं अर्थात् जैसा मैं अपने को शरीरवान् व्यक्तित्व के रूप में अनुभूति कर रहा हूँ वैसा मैं नहीं हूँ अपितु प्रकृति और प्राकृतिक बुद्धि, मन, शरीर आदि विकारों से व्यतिरिक्त पुरुष हूँ। 'न मे' मेरे नहीं है अर्थात् प्रकृति एवं प्राकृतिक विकारों के अनुबंधी गुण, व्यापार, पदार्थ, संबंधी सुख-दुख, भोग, बन्ध, मोक्ष जिनको मैं अपना समझता रहा हूँ, मेरे नहीं हैं। 'न अहम्' मैं नहीं अर्थात् जैसा कि मैं अपने को अहम् (मैं) इस प्रत्यय या अनुभूति का विषय समझता रहा हूँ वैसा मैं नहीं, अपितु वस्तुतः प्रकृतिजन्य ज्ञान के कारण होने वाले अहन्त्व से विहीन चिन्मात्र पुरुष हूँ। अतः इस प्रकार का निर्मल, संशयरहित अनादि मिथ्याज्ञान की वासना या संस्कार से रहित चैतन्यमात्र हूँ।

स्पष्ट है, तात्त्विक ज्ञान का स्वरूप 'भेदात्मक' है। यही विवेकज्ञान पुरुष के कैवल्य की अवस्था है और तत्पश्चात् प्रकृति भी ऐसे पुरुष के प्रति अपना व्यवहार समेट लेती है। किन्तु कारिका ६२ में यह दर्शाया गया है कि बंधन एवं मोक्ष प्रकृति का ही होता है पुरुष का नहीं। पुरुष तो वस्तुतः मुक्त था और 'है'।

किन्तु बंधन, संसरण और मुक्ति प्रकृति के द्वारा होने पर कारिका २१ मिथ्या सिद्ध हो जाती है क्योंकि उसमें सप्रयोजनात्मक संसर्ग में पुरुष का ही मोक्ष का प्रयोजन बताया गया है तथा प्रकृति का भोग। साथ ही पुरुष की यह उपर्युक्त अनुभूति उसे स्वयं के यथार्थस्वरूप का साक्षात्कार कराती है जो मोक्षावस्था है। यहाँ पर गौडपाद का विचार तार्किक लगता है[7] कि विषयी वस्तुतः विवेकी शुद्ध, बुद्ध ही था इसलिए वह मुक्त नहीं होता है यह अनुभूति कि 'मैं' नहीं, मेरे नहीं, मैं नहीं हूँ' यह उसको हो नहीं रही है और न ही स्वयं को 'अहमास्मि' 'करोमि' आदि के रूप में अनुभूत करता है अपितु

प्रकृति यह समझती है कि विषयी ऐसा अनुभूत कर रहा है जो कि उसका भ्रम है और प्रतिबिम्ब का परिणाम ।

यहाँ कठिनाई यह है कि जब ज्ञान की उत्पत्ति बुद्धि में चैतन्य का 'प्रतिबिम्ब' पड़ने पर होती है तो चेतना के प्रतिबिम्ब से क्या तात्पर्य है ? पुरुष या चैतन्य को भौतिक प्रकाश रश्मि की भाँति तो समझा नहीं जा सकता जिससे यह निहितार्थ निकाला जा सके कि जिस प्रकार दीपक कांच में प्रतिबिम्बित हो उसे प्रकाशित तो करता है किन्तु उसके स्वयं के स्वरूप में किसी तरह का परिवर्तन या बदलाव नहीं आता । 'प्रतिबिम्ब' प्रकाश आदि शब्दों को मात्र आलंकारिक अर्थ में प्रयुक्त कर उसका यह अर्थ लगाना कि किसी न किसी प्रकार चैतन्य इस भौतिक शरीर से संबंध स्थापित कर इसे प्रभावित करता है स्वयं प्रभावित नहीं होता है, अतार्किक एवं व्यवहारिक अनुभव के विपरीत है । कारण यह है कि ज्ञान की उत्पत्ति के लिए चैतन्य को शरीर द्वारा किसी न किसी रूप में अवश्य ही प्रभावित करना चाहिए क्योंकि तभी वह उन विशेषताओं को ग्रहण कर सकेगा जो स्वयं उसकी नहीं है अपितु अविद्या से जनित आरोपण मात्र है जिसकी अभिव्यक्ति 'करोमि' 'अहमस्मि' आदि की अनुभूतियों में होती है । तात्त्विक अवस्था में 'नास्मि', 'न मे' 'नाहम्' की अनुभूति होना भी इस तर्क को अपने में निहित रखता है कि वह पहले से उसके व्यक्तित्व में नहीं था जो अब है । इस तर्क की यथार्थता भेदात्मक ज्ञान द्वारा पुष्ट होती है।

स्पष्ट है कि सांख्य में व्यवहारत: यद्यपि पुरुष और बुद्धि में से अकेले किसी को भी ज्ञाता नहीं कहा जा सकता अपितु दोनों मिलकर ज्ञाता का कार्य करते हैं । ज्ञान प्रक्रिया में जितनी भी सक्रियता शामिल हुई है वह बुद्धि के कारण है और जो चैतन्य शामिल है वह पुरुष का प्रतिबिम्ब । पुरुष बुद्धि को प्रकाशित करता है क्योंकि प्रकृति का विकार होने पर भी बुद्धि उसके प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने के लिए पर्याप्त रूप से सूक्ष्म है । इस प्रकार प्रकाशित होने पर वह ज्ञाता का कार्य करती है । बुद्धि को ज्ञाता मानने से यह स्पष्टता बन जाती है कि 'पुरुष' को जब 'ज्ञाता' 'बुद्ध' आदि कहकर व्याख्या की जाती है तो वह तात्त्विक स्वरूप वाले पुरुष के लिए ही प्रासंगिक हो सकता है । अत: बुद्धि को पुरुष की अभिव्यक्ति के लिए एक प्राकृत माध्यम के रूप में लिया जा सकता है ।

इस अर्थ में पुरुष और बुद्धि की एकता में हम पुरुष को अनुभवातीत चैतन्यस्वरूप पुरुष से अलग मानते हुए अनुभवशील आत्मा कह सकते हैं जो संख्या में अनेक होती

है। इस प्रकार के साहचर्य के कारण अनुभवशील आत्मा के दो तत्त्वों में से प्रत्येक पूरी तरह से रूपान्तरित प्रतीत होता है, जड बुद्धि चेतन जैसी हो जाती है और निष्क्रिय पुरुष सक्रिय जैसा दिखाई देता है। इस मत की पुष्टि हेतु सांख्याचार्य प्रायः तप्त लोहे के गोले का दृष्टान्त देते हैं, जिसमें आग की आकारहीन चमक गोलाकार और ठंडा गरम दिखाई देता है। प्रत्येक 'ज्ञान' इसी प्रकार की एक मिश्रित अवस्था है। जब हम उसके दो अंशों पर अलग अलग विचार करते हैं, तब बुद्धि का रूपान्तरण 'वृत्ति' और पुरुष का प्रतिबिम्ब ज्ञान कहलाता है।

अतः सांख्य में ज्ञान अनिवार्य रूप से बाह्यार्थ का सूचक है क्योंकि यदि ऐसा नहीं होता तो सांख्यदर्शन की कारिका ६४ ही अप्रासंगिक हो जायेगी जिसमें चैतन्य स्वरूप पुरुष, प्रकृति एवं उसके विकारों से स्वयं को पृथक् मानते हुए 'नास्मि' 'नमे' 'नाहम्' के रूप में आत्मसाक्षात्कार करता है। 'विषय' की स्वतंत्र सत्ता सिद्ध करने हेतु कारिका ११ में वाचस्पति मिश्र ने इसको व्यक्त एवं अव्यक्त कहा है जिसका अर्थ 'ग्राह्य' होता है। इस प्रकार ये विषय अपने ग्राहक विज्ञान से सर्वथा भिन्न तथा उसकी सीमा के एकदम बाहर हैं। कारिका में उभयरूप प्रकृति को सामान्य भी कहा है जिसका अर्थ होता है - वह तत्त्व जो साधारण से अनेक पुरुषों के द्वारा ग्रहण किया जाता है। वस्तुओं को विज्ञान रूप मानने से वे साधारण अर्थात् सामान्य नहीं हो सकती। एक ही वस्तु के अनुभूति अलग अलग व्यक्तियों को उनके दृष्टिकोण, उपयोगिता एवं रूचि के अनुसार दुखात्मक एवं मोहात्मक रूप में प्रतीत होती है। यह अनुभूति प्रत्ययवादी मान्यताओं के विपरीत है। यही पर प्रत्ययवादी दार्शनिक यह उठाते हैं कि अनुभव की भिन्नता केवल व्यावहारिक स्तर पर ही देखी जाती है, तात्त्विक स्तर पर मात्र चैतन्यस्वरूप विज्ञान रहता है जिसको सांख्य दर्शन व्यावहारिक स्तर पर बहुपुरुषत्व की अवधारणा को मानकर भी परमार्थतः पुरुष को चैतन्य स्वरूप ही मानता है। इस संबंध में आचार्य गौडपाद का यह मानना है कि इतना मानने पर भी सांख्य, क्योंकि परमार्थतः विषय को स्वतंत्र एवं पृथक् अस्तित्व को स्वीकार करता है, इसलिए उसे यथार्थवादी दर्शन ही कहा जा सकता है, प्रत्ययवादी नहीं। अतः बुद्धि वृत्ति यहाँ ज्ञाता और ज्ञेय को जोडने वाली कडी मात्र है ज्ञेय को हटाने वाली चीज नहीं। इस दृष्टि से सांख्य में ज्ञान एक सृजनात्मक क्रिया है जो तभी संभव है जब दोनों में सान्निध्य हो तो ऐसी अवस्था में ज्ञान व्यावहारिक स्तर पर ही अपनी सार्थकता एवं महत्ता को स्थापित कर सकता है।

इससे यह निगमित होता है कि सांख्य की यथार्थवादी ज्ञानमीमांसीय मान्यताओं

के आधार पर पुरुष का तत्त्वमीमांसीय स्वरूप 'ज्ञेय' नहीं बन सकता, क्योंकि तात्त्विक स्तर पर सांख्य में ज्ञान की त्रिपुटी, जिसमें 'ज्ञाता' 'ज्ञान' एवं 'ज्ञेय' होते हैं, केवल ज्ञाता एवं ज्ञेय ही शेष रह जाते हैं ज्ञान नहीं। ज्ञान के अभाव में पुरुष को प्रकृति एवं उसकी विकृतियों से - भेदात्मक ज्ञान नहीं हो सकेगा। व्यावहारिक स्तर पर भी सांख्याचार्य न ही ज्ञान के चेतनवत् बुद्धि में उद्भाषित होने की व्याख्या कर पाते हैं और न ही निराकार तात्त्विक शुद्ध चैतन्य पुरुष से उसकी सम्बद्धता की। यदि विषयी और विषय एक दूसरे से नितान्त असम्बद्ध हैं तो हम चैतन्यपूर्ण घटना अथवा भौतिक प्रक्रिया की भी तर्कसंगत व्याख्या नहीं कर सकते। यहीं पर आचार्य माठर कहते हैं[८] कि जब विषयी एवं विषय एक दूसरे के संपर्क में आते हैं तो कहा जाता है कि परस्पर गुणों का प्रतिबिम्बीकरण होता है तथा साथ ही गुणों का संक्रमण भी होता है। किन्तु यहाँ कठिनाई यह है कि जब तक विषयी एवं विषय एक दूसरे के सजातीय न हो तो एक दूसरे को प्रतिबिम्बित कैसे कर सकते हैं? सांख्य में 'प्रतिबिम्ब' के लिए जो दृष्टान्त दिया है वह परस्पर गुणों में सामंजस्य रखने वाली वस्तुओं के लिए दिया है (आग और लोहा) यहाँ सांख्य ने 'संदर्भ भेद' की उपेक्षा की है। निराकार विषयी, जो स्वरूपत: द्रष्टा है, परिवर्तनशील प्राकृत बुद्धि के अन्दर किस प्रकार प्रतिबिम्बित हो सकता है? और यदि होता है तो उसका स्वरूप क्या होगा?

सांख्याचार्यों ने बुद्धि का जो स्वरूप एवं कार्य जैसे धारण एवं निश्चय बताये हैं ये भी तभी संपन्न हो सकते हैं जब चैतन्य का प्रकाश उस पर पडे। इससे सांख्य के इस मत को बल मिलता है कि बुद्धि परमार्थत: अस्तित्व रखने वाली प्रकृति की एक विकृति होने के कारण वह व्यावहारिक स्तर पर ही अपने धर्मों को (ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य) सम्पन्न कर सकती है।

अत: द्वैतवादी मान्यता के आधार पर तात्त्विक ज्ञानरूपी प्रत्यय की संगत व्याख्या नहीं की जा सकती है क्योंकि द्वैतवाद में ज्ञान विषय एवं विषयी के संबंध का नाम है और संबंध सांख्य में अविवेकावस्था है। इसके साथ ही सांख्य इस मान्यता को प्रस्तुत करता है कि विषय ज्ञात होने के लिए विषयी पर निर्भर रहता है जिसको कारिका ६६ में 'मैं देख ली गयी हूँ' के रूप में व्याख्यायित किया गया है तथा विषयी के अस्तित्व को जानने के लिए विषय की आवश्यकता है अर्थात् यदि दोनों का संश्लेषण न हो तो ज्ञान नहीं हो सकता। संश्लेषण की प्रक्रिया सांख्य में अप्रमा की अवस्था है। विषयी अपने को पूर्णरूप में नहीं जान सकता जब तक कि वह विषय को पूर्ण रूप में न जान लें। इस प्रकार क्या दोनों की सार्थकता स्थापित करने हेतु दोनों का संबंध आवश्यक

नहीं है ? इससे यह भी निगमित होता है कि 'सान्निध्य' की अवस्था में दोनों एक दूसरे के बाह्य नहीं हो सकते । बाह्यता की भावना उसी अवस्था में उत्पन्न होती है जबकि हम इसकी व्याख्या पुरुष द्वारा अनुभूत भेदात्मक ज्ञान की दृष्टि से करें ।

सांख्यमतीय ज्ञान की प्रत्येक क्रिया के दो अंश होते हैं -एक चैतन्यरूपी तत्त्व, जो इसे प्रकाशित करता है और दूसरा बुद्धि का परिवर्तित रूप । बुद्धि अपने आप में भौतिक पदार्थ होने के कारण अचेतन है किन्तु ज्योंही चैतन्यस्वरूप पुरुष द्वारा प्रकाशित होती है, त्योंही उसमें चैतन्य अस्तित्वगत होता है । विषयी एवं प्राकृत विकार बुद्धि की यह परस्पर निर्भरता इस तर्क के विरुद्ध होगी कि दोनों का पृथक एवं स्वतंत्र अस्तित्व है और केवल अनुभव में आकर वे एकत्र हो जाते हैं । यह स्थिति हमारे इस मत को सार्थक बनाती है कि सांख्य में ज्ञान तात्त्विक स्तर पर तिरोहित हो जाता है और व्यावहारिक स्तर पर यह मिथ्या धारणा होगी कि विषयी और विषय अपने आप में पूर्ण हैं क्योंकि इस प्रकार हम उसके विभिन्न घटकों को पूर्ण इकाई, के विरोध में खडा कर देते हैं जबकि वे उस इकाई के अनिवार्य अंग हैं । तात्त्विक स्तर पर यदि पुरुष 'ज्ञाता' है और प्रकृति विषय है तो पारिभाषिक दृष्टि से भी परस्पर विरुद्ध है जो उनके बीच संपर्क को असंभव बना देता है । सांख्य इस विरोधपूर्ण स्थिति से बचने के लिए इनके पारस्परिक संबंध को यंत्रवत् बतलाता है । यह यंत्रवत् संबंध इस विषय का उपलक्षण है कि चेतना के विषयी तथा विषय केवल संख्या की दृष्टि से ही नहीं अपितु स्वतः पूर्णरूप से एक दूसरे से अनाश्रित तथा परस्पर भिन्न स्वभाव वाले हैं ।

अतः प्रश्न 'ज्ञानमीमांसा समर्थित तत्त्वमीमांसा' और 'ज्ञानमीमांसा रहित तत्त्वमीमांसा के बीच चयन का बनता है । ऐसी स्थिति में ज्ञानमीमांसा समर्थित तत्त्वमीमांसा का चयन ही श्रेष्ठ होगा । ज्ञान, तत्त्व का उत्पादक चाहे न भी हो किन्तु उसका निर्धारक एवं ग्राह्य बनाने वाला होने से प्राथमिक एवं श्रेष्ठ है । ज्ञान ही वह माध्यम है जिसे विषयी व्यवहार एवं परमार्थ के स्वरूप एवं भेद को समझ सकता है । परमार्थ की प्राप्ति हेतु व्यावहारिक ज्ञान की महत्ता को स्थापित कर सकता है । तात्त्विक स्तर पर पुरुष द्वारा यह अनुभूति कि 'मैं' प्रकृति एवं विकारों से विहीन चिन्मात्र पुरुष हूँ, ज्ञान के द्वारा ही संभव हो पाती है । किन्तु सांख्य ने ज्ञान को भौतिक विकृति की 'वृत्ति' मानकर, स्वयं के लिए तत्त्वमीमांसीय स्तर पर यह दुविधा खडी कर ली है कि विशुद्ध रूप में पुरुष स्वयं की प्रकृति जनित चेतना की अनुभूति नहीं कर सकता । यदि करने वाला माना जाय

तो उस स्थिति में ज्ञान भौतिक रूप से व्यक्तिगत होकर वही उपस्थित है यह मानना पडेगा । किन्तु तब पुरुष प्रकृति के तादात्म्य से पूर्णत: मुक्त नहीं है, सांख्य दर्शन के संदर्भ में यह स्वीकार करना पडेगा जिसकी स्वीकृति सांख्य में नहीं है । अत: विचारणीय प्रश्न अभी तक अनुत्तरित ही है कि क्या सांख्य पुरुष के तत्त्वमीमांसीय स्वरूप को ज्ञानमीमांसीय दृष्टि में संगत एवं संभव मानता है?

व्याख्याता दर्शन शास्त्र डॉ. सुधा चौधरी
राजकीय मीरा कन्या महाविद्यालय
उदयपूर (राजस्थान)

टिप्पणियाँ

१. कारिका ११
२. नन्द किशोर शर्मा, भारतीय दार्शनिक समस्याएँ, पृ. सं. २९
३. योगभाष्य (१/१७)
४. सांख्यकारिका, पृ. ८२
५. कारिका २०
६. कारिका ६४
७. वाचस्पति मिश्र, सांख्यतत्त्वकौमुदी
८. राधाकृष्णन् , भारतीय दर्शन, पृ. २९०

कर्तृत्व - भोक्तृत्व विमर्श

कर्तृत्व का विचार नैतिकता से बहुत गहरे रूप से जुडा हुआ है । कर्तृत्व के सुनिश्चित होने पर ही दायित्व का निर्धारण होता है । कर्ता पर ही अपने कर्म की जवाब देही होती है । किसी कर्म विशेष का जो भी कर्ता है उसी से इस प्रश्न के उत्तर की अपेक्षा की जाती है — 'तुमने यह (कर्म) क्यों किया'। प्रत्युत्तर में कर्ता अपने कर्म विशेष के औचित्य को सिद्ध करने के लिए हेतु देता है जो वे उसके अपने होते हैं । हम प्राय: घटना (event) तथा कर्म (action) में भेद करते हैं । घटना घटित होती है जिसका कोई निश्चित कारण (cause) होता है । घटना के घटित होने में निश्चितता होती है । उपयुक्त कारण (appropriate cause) होने पर घटना अवश्य घटित होती है । कर्म सुविचारित होता है और वह किया जाता है। कर्ता के पास अपने कर्म का हेतु (reason) होता है । अत: दायित्व के निर्धारण के लिए कर्तृत्व की सुनिश्चितता की पूर्वापेक्षा रहती है ।

'कर्ता कौन है ' यह प्रश्न ऊपर से भले ही सरल सा प्रतीत होता हो तथापि भारतीय दर्शन के सन्दर्भ में यह एक उलझन भरा प्रश्न है । इसका कोई निर्णायक अथवा संतोषजनक उत्तर उपलब्ध नहीं होता जो हमारी जिज्ञासा को शान्त कर सके । इस उलझन का प्रमुख कारण शरीर और आत्मा का द्वैत है । हम प्राय: अचेतन शरीर से भिन्न तथा स्वतन्त्र चेतन आत्मा में विश्वास करते हैं । शरीर अपने बाह्य तथा आन्तरिक उपकरणों से सुसज्जित होने के कारण कर्म करने की सामर्थ्य रखते हुए भी चेतन प्रेरक के अभाव में वह कुछ भी नहीं कर सकता । दूसरी ओर आत्मा चेतन होते हुए भी उपकरणों के बिना कोई कर्म नहीं कर पाता । आत्मा और शरीर का संयुक्त रूप ही कर्म का कर्ता हो सकता है । किन्तु ये दो परस्पर विरोधी स्वभाव के तत्त्व किस रीति से संयुक्त हो सकते हैं ? यद्यपि दार्शनिकों ने इस समस्या पर गम्भीरता से विचार किया है तथापि जैसे जैसे इसे सुलझाने का प्रयास किया गया यह समस्या और उलझती गई । प्रस्तुत पत्र में इस समस्या पर भारतीय दर्शन के सन्दर्भ में जैन और नैयायिकों के यथार्थवादी दृष्टिकोण तथा सांख्य और वेदान्त के प्रत्ययवादी दृष्टिकोण का विवेचन किया गया है ।

जैनदर्शन स्पष्ट शब्दों में आत्मा को ही कर्ता एवं भोक्ता ठहराती है। "आत्मा स्वयं अपना कर्म करता है, स्वयं उसका फल भोगता है, स्वयं संसार में परिभ्रमण करता है और स्वयं ही राग-द्वेष आदि रूप संसार से मुक्त होता है"।[१] जीव जिस प्रकार कर्म करने में स्वतन्त्र है, वैसे ही वह फल भोगने में भी स्वतन्त्र है। नैयायिक जैसे अदृष्ट के नियामक के रूप में ईश्वर की अवधारणा को स्वीकार करते हैं, वैसे जैनदर्शन में जीवों द्वारा फल भोगने के लिए ईश्वर की आवश्यकता को स्वीकार नहीं किया गया है। 'कर्म यद्यपि जड है तथापि जीव की चेतना के संसर्ग में आने पर कर्म में ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि जिससे वह शुभाशुभ विपाकों को नियत समय पर जीव में प्रकट कर देता है। कर्म करने के समय परिणामानुसार जीव में ऐसे संस्कार पड जाते हैं जिनसे प्रेरित होकर जीव कर्म के फल को स्वयं ही भोगता है और कर्म जीव पर तदनुसार फल स्वयं ही प्रकट करता है।[२] जीव में स्वकृत कर्म का भोग और परकृत कर्म के भोग का अभाव होता है।

जैनदर्शन में व्यापक अर्थ में कर्म का तात्पर्य परिणाम, स्पन्दन, हलचल से लिया गया है।[३] प्रमुखत: कर्म दो प्रकार के बतलाए गए हैं। जीव में होने वाले राग-द्वेषात्मक परिणाम जिन्हें भावकर्म कहा जाता है तथा दूसरे कार्मण जाति के पुद्गल विशेष जो द्रव्यकर्म कहलाते हैं। जीव अपने भावकर्म का उपादान कारण है तथा द्रव्यकर्म का वह निमित्त कारण है। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि जीव तो अनन्त चतुष्टय का अधिष्ठान है फिर उसमें रागद्वेषादि भावकर्मों का उदय कैसे सम्भव है? प्रत्युत्तर में जैन दार्शनिक कहते हैं कि कर्मप्रवाह अनादि है। अत: यह प्रश्न निरर्थक है कि भावकर्म पूर्ववर्ती हैं अथवा द्रव्य-कर्म पूर्ववर्ती हैं। बीजांकुर की भाँति भावकर्म और द्रव्यकर्म परस्पर एक दूसरे के निमित्तकारण होते हैं।[४] जीव अनादिकाल से ही खान में पडे हुए हीरे की भाँति अशुद्ध होता है, जो बाद में अपने प्रयत्नों से तराशा जाकर शुद्ध अर्थात् मुक्त होता है। 'यदि जीव प्रारम्भ में शुद्ध, बुद्ध है तथा बाद में रागद्वेषादि से अशुद्ध होता है तब यह भी मानना होगा कि मुक्त जीव भी पुन: कर्मलिप्त हो सकता है। ऐसी अवस्था में मुक्ति निरर्थक हो जाती है'।[५] परन्तु जैनदर्शन का उपर्युक्त विचार मान लेने पर एक कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। जीव यदि प्रारम्भ से ही कर्मलिप्त है तो जीवों में परस्पर कर्मलिप्तता की मात्रा में भेद क्यों है? कोई जीव कम मात्रा में कर्मलिप्त है तो दूसरा अधिक मात्रा में कर्मलिप्त है। ऐसा क्यों? इसका कोई संतोषजनक उत्तर हमें उपलब्ध नहीं होता। यही नहीं इस विचार की परिणति नियतवाद में होती है। अनादि काल से जिस जीव की बद्धावस्था जिस प्रकार की होती है उसका मुक्तिक्रम भी उसी

के द्वारा नियत होता है ।[६] यही नहीं कुछ जीव, जिन्हें अत्रव्य कहा जाता है, मुक्ति के सर्वथा अयोग्य माने जाते है' । पर इनसे बढकर गम्भीर प्रश्न यह है कि दो विपरीत स्वरूप के भावकर्म और द्रव्यकर्म में कारणकार्यभाव कैसे सम्भव है? इन दोनों को जोडनेवाली मध्यस्थ कडी यहाँ उपलब्ध नहीं होती । इस सन्दर्भ में कुन्दकुन्दाचार्य के विचार दृष्टव्य हैं जो आत्मा को परमार्थतः अकर्ता मानते हैं । उनके अनुसार आत्मा केवल अपने 'भावों'का कर्ता - भोक्ता है, कर्मों का कर्ता-भोक्ता नहीं । क्योंकि कर्मपुद्गल अजीव होने के कारण जीव से भिन्न द्रव्य है । कुन्दकुन्दाचार्य का मत है कि एक द्रव्य अपनी ही क्रिया कर सकता है अन्य द्रव्य की नहीं । इसके विपरीत मानने पर द्विक्रिया दोष होता है ।[७] केवल व्यवहारनय से जीव के भावकर्म में और द्रव्यकर्म में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है । निश्चयनय से जीव मात्रा ज्ञायक है। जैसे नेत्र का कार्य केवल देखना है वैसे ही जीव का ज्ञान अकारक व अवेदक है और बन्ध, मोक्ष, कर्मोदय तथा निर्जरा को केवल मात्र जानता है ।[८] आत्मा द्रष्टामात्र है । कुन्दकुन्दाचार्य के विचारों का सांख्य के साथ साम्य देखा जा सकता है । सांख्य में भी पुरुष को स्वरूपतः द्रष्टा ही कहा है ।

नैयायिक भी जैनदर्शन की ही भाँति कर्तृत्व और भोक्तृत्व आत्मा का ही बतलाते हैं । किन्तु दोनों में प्रमुख भेद यह है कि जैन जहाँ ज्ञान को जीव का अनिवार्य गुण मानते हैं वहीं नैयायिक ज्ञान को आत्मा का आगन्तुक गुण मानते हैं । वात्स्यायन भाष्य में कहा गया है कि आत्मा मन से संयुक्त होता है, मन इन्द्रिय से, इन्द्रिय अर्थ से तब आत्मा में ज्ञान उत्पन्न होता है ।[९] न्यायदर्शन में ज्ञान, बुद्धि, उपलब्धि, चेतना इन सबको पर्यायवाची ही माना है ।[१०]

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली में आत्मा की परिभाषा में ही उसका कर्तृत्व और भोक्तृत्व बतलाया गया है । वहाँ कहा गया है कि आत्मा इन्द्रिय और शरीर आदि का अधिष्ठाता है, क्योंकि जो करण होता है वह कर्ता की अपेक्षा रखता है ।[११] जिस प्रकार कुल्हाडी आदि करण लकडी चीरना आदि अपनी क्रिया बिना किसी कर्ता के नहीं कर सकते । इसी प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियाँ जो ज्ञान के करण हैं, उन्हें अपने फल अर्थात् ज्ञान के लिए किसी कर्ता की अपेक्षा होती है और वह कर्ता आत्मा ही है । अपने शुभाशुभ कर्मजन्य सुख-दुःखादि का भोक्ता भी आत्मा ही है । शरीर, इन्द्रिय और मन के माध्यम से आत्मा कर्म करता है । बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और भावना (संस्कार) ये आत्मा के गुण हैं । इन्हीं में इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आत्मा के कर्म-प्रेरक हैं । इच्छा दो प्रकार की है— फलेच्छा अर्थात् अनुकूल फल प्राप्त

करने की इच्छा तथा दूसरी उपायेच्छा अर्थात् उन साधनों की इच्छा जो अनुकूल फल प्राप्ति में सहायक है। फलेच्छा के भी दो भेद हैं— भावात्मक फल जो सुखप्राप्ति की इच्छा है, और अभावात्मक फल अर्थात् दु:खनिवृति की इच्छा।[१२] इच्छा के अनन्तर दृष्यमाण वस्तु को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न होता है। प्रयत्न के तीन भेद माने गए हैं— जिस प्रयत्न का उदय राग से होता है वह प्रवृत्ति है। जिसका उदय द्वेष से होता है वह निवृत्ति है। प्रयत्न का तीसरा भेद जीवन-योनि कहलाता है जिसका उदय अदृष्ट से होता है।[१३] इस तरह से नैयायिक भी जैनों की ही भाँति राग-द्वेष को ही कर्म-प्रेरक मानते हैं।

नैयायिकों के अनुसार मुक्तात्मा न कर्ता है और न भोक्ता है, क्योंकि मुक्ति या अपवर्ग में आत्मा का शरीर, इन्द्रिय और मन से सम्बन्धविच्छेद हो जाता है। शरीर ही आत्मा के भोग का आयतन अथवा आश्रय कहा गया है।[१४] आत्मा विभु परिमाण का होने के नाते सभी मूर्त द्रव्यों से अवच्छिन्न होता है तथापि प्रत्येक मूर्त द्रव्य से आत्मा में सुख-दुख का भोग नहीं होता। केवल शरीर तथा उसके कर-चरण अवयवों से अवच्छिन्न आत्मा में सुख-दुख का अनुभव होता है। इसी अर्थ में शरीर और अवयव आत्मा के भोग के आयतन कहे गए हैं। आत्मा एवं शरीर में अवच्छेदकता सम्बन्ध है। नैयायिक स्पष्ट करते हैं कि यहाँ अवच्छिन्नता का अर्थ परिसीमितता से नहीं है, क्योंकि आत्मा निसर्गत: विभु है अर्थात् निस्सीम है। शरीरादि से अवच्छिन्न आत्मा में ही कर्तृत्व और भोक्तृत्व घटित होता है। शरीर आत्मा का अवच्छेदक है तथा आत्मा उससे अवच्छेद्य है।[१५] इससे स्पष्ट हो जाता है कि शरीरादि से रहित आत्मा में न कर्तृत्व है और न भोक्तृत्व, मुक्तात्मा ज्ञान, इच्छा, द्वेष सुख दु:खादि से रहित संज्ञाहीन द्रव्य है।

यहाँ एक विचारणीय प्रश्न उठता है कि विभु और अमूर्त आत्मा का मूर्त शरीर के साथ किस प्रकार अवच्छेदकता सम्बन्ध घटित हो सकता है? नैयायिक स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि आत्मा स्वभावत: निस्सीम है। यही नहीं वे सांख्य के विपरीत आत्मा को विभु परिमाण का मानते हैं। (सांख्य में पुरुष को परिमाण रहित व्यापक माना गया है) यह बात भली भाँति समझ में नहीं आती कि आत्मा विभु और परिमाण युक्त दोनो एक साथ कैसे हो सकती है। पर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि स्वभावत: सब भावों से शून्य आत्मा कैसे शरीर से संयुक्त होता है ? आत्मा के कर्तृत्व के प्रेरक इच्छा द्वेष आदि गुण शरीर से संयुक्त होने पर आत्मा में उत्पन्न होते हैं। मूलत: आत्मा संज्ञाहीन है, अत: उसमें राग (इच्छा), द्वेष का अभाव होता है।

ये राग, द्वेष ही बन्धन के कारक होते हैं । इस समस्या के समाधान में नैयायिक अदृष्ट को शरीर - आत्मा सम्बन्ध का निमित्त बतलाते हैं तथा अदृष्ट को अनादि ठहराते हैं। इस प्रकार वे भी जैनों की भाँति ही कर्मप्रवाह को अनादि मानते हैं । यह समस्या का सही समाधान नहीं अपितु उससे बचकर निकलना है । नैयायिकमत में कर्तृत्व और भोक्तृत्व आत्मा में स्वभावगत नहीं है । अपवर्ग में आत्मा का जब शरीर के साथ सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है तब उसमें ज्ञान, इच्छा, द्वेष, सुख, दु:ख, प्रयत्न आदि सभी गुणों का अभाव हो जाता है । यह आत्मा की संज्ञाहीन व क्रियाहीन अवस्था है । नैयायिकों के विपरीत जैनदर्शन में मुक्तावस्था में भी जीव में कर्मशीलता मानी गई है । सिद्धावस्था में जीव का ज्ञान, दर्शन आदि स्वपर्यायों में परिणमन होता है । यह परिणमनशीलता ही कर्मशीलता है किन्तु यह बन्धनकारक नहीं है । क्योंकि इस अवस्था में मन, वचन और काय जन्य स्पन्दन नहीं होता । वस्तुत: यह प्रचलित अर्थ में कर्मशीलता भी नहीं है ।

कर्तृत्व और भोक्तृत्व के सम्बन्ध में जैनों तथा नैयायिकों का मत यथार्थवादी कहा जा सकता है । दोनों ही जीव को ही कर्ता और भोक्ता मानते हैं । सांख्य और अद्वैत वेदान्त का मत इनसे भिन्न है । दोनों ही यह मानते हैं कि आत्मा का कर्तृत्व प्रतिबिम्बात्मक अथवा अध्यासजन्य है, वास्तविक नहीं । सांख्य मतानुसार पुरुष अकर्ता किन्तु भोक्ता है ।[१६] पुरुष के निस्त्रैगुण्य और निष्क्रिय होने से उसमें कर्तृत्व घटित नहीं हो सकता । सांख्य दर्शन ज्ञान व चैतन्य में भी भेद करता है । ज्ञान बुद्धि का धर्म होने से जड ही है । ज्ञातृत्व धर्म पुरुष का है । ज्ञान और ज्ञातृत्व के आश्रय भिन्न-भिन्न हैं। नैयायिकों ने ज्ञान, इच्छा, सुख, दु:ख आदि जिन धर्मों को आत्मा के धर्म बतलाया, सांख्य उन धर्मों को बुद्धि में आश्रित करता है । पुरुष शुद्ध चैतन्य है अत: वह ज्ञाता है। बुद्धि (चित्त) इन्द्रिय रूपी प्रणालिकाओं के माध्यम से विषय के सम्पर्क में आकर विषयाकार हो जाती है । बुद्धि (चित्त) की यह विषयाकार परिणति बुद्धिवृत्ति अथवा चित्तवृत्ति कहलाती है । यह चित्तवृत्ति ही ज्ञान है । परिणाम सदैव परिणामवान् वस्तु में रहता है, अत: यह विषयाकार चित्तवृत्ति रूप ज्ञान, परिणामिनी बुद्धि में ही आश्रित होता है । बुद्धि प्रकृति का परिणाम होने के कारण निसर्गत: जड है । वाचस्पति मिश्र के अनुसार बुद्धि वृत्ति में जब पुरुष-चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है तो यह बुद्धिवृत्ति चेतनवत् प्रतीत होने लगती है । इस चेतनवत् बुद्धिवृत्ति के साथ भेद न ग्रहण कर पाने के कारण पुरुष में सुख-दु:खादि की प्रतीति होने लगती है । इसी को सांख्य में पौरुषेय बोध कहा है ।[१७] विज्ञानभिक्षु की व्याख्या इससे कुछ भिन्न है । उनके अनुसार पुरुष

निर्धर्मक और छायाहीन है अत: बुद्धितत्त्व में पुरुष का प्रतिबिम्ब नहीं पड सकता। वे सांख्य-प्रवचन-भाष्य में एक दृष्टान्त द्वारा अपना पक्ष प्रस्तुत करते हैं – 'जिस प्रकार तालाब के तट पर उगे वृक्ष तालाब में प्रतिबिम्बित होते हैं, ठीक उसी प्रकार पुरुष के निकटवर्ती-पुरुष से भिन्न प्रतीत न होने वाले बुद्धितत्त्व की समस्त वृत्तियाँ चिदात्मक पुरुषरूप स्वच्छ दर्पण में प्रतिबिम्बित होती है।'[१८] विज्ञानभिक्षु की उक्त व्याख्या न्यायसंगत लगते हुए भी विद्वानों में वाचस्पति मिश्र की व्याख्या ही अधिक मान्य है। क्योंकि उन की व्याख्या सांख्य कारिका की ६२ वीं कारिका के अनुरूप है जिसमें कहा गया है कि 'पुरुष का न बन्धन होता है, न संसरण और न ही मोक्ष होता है। अनेक पुरुषों के आश्रय में रहने वाली प्रकृति का ही संसरण, बन्धन और मोक्ष होता है।'' प्रकृति से यहाँ तात्पर्य सूक्ष्म शरीर से है।

सांख्य की सूक्ष्म शरीर की यह अवधारणा भारतीय दर्शन को महत्त्वपूर्ण देन है। १८ तत्त्वों से निर्मित सूक्ष्म शरीर में बुद्धितत्त्व सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। शुभाशुभ भावों का आश्रय यह सूक्ष्म शरीर पुरुष-चैतन्य से प्रतिबिम्बित होकर स्वयं चेतनवत् व्यवहार करता है। यह सूक्ष्मशरीर ही स्थूल शरीर के माध्यम से कर्ता और भोक्ता होता है। यह सूक्ष्म शरीर जो प्रति शरीर भिन्न भिन्न है, शुभाशुभ कर्मानुसार एक योनि से दूसरी योनि में संसरित होता है। अनादि अज्ञान (अविवेक) वश पुरुष सूक्ष्म शरीर से भेद नहीं कर पाता। अत: पुरुष में कर्तृत्व और भोक्तृत्व का अभिमान होता है। 'मेरा यह कर्तव्य है', इसमें तीन अंश है— 'मैं' यह चैतन्य अर्थात् पुरुषांश है। बुद्धि में प्रतिबिम्बित पुरुष 'मैं' रूप में भासित होता है। बुद्धि में भासित होने वाला पुरुष का यह उपराग (छाया) अवास्तविक है। दूसरा 'यह' विषय अंश है जो बुद्धि वृत्ति है और वास्तविक है। तीसरा अंश 'कर्तव्य' है अर्थात् किसी विषय की ओर प्रवृत्त होना (प्रयत्न) है और यह भी चेतनवत् भासित होनेवाली बुद्धि का ही धर्म है।[१९] अत: सांख्य मतानुसार कर्तृत्व और भोक्तृत्व बुद्धि अर्थात सूक्ष्म शरीर का ही धर्म है, पुरुष का नहीं। सांख्य में पुरुष को भोक्ता कहा है। पुरुष वस्तुत: निस्त्रैगुण्य होने से भोक्ता भी नहीं हो सकता। पुरुष स्वरूपत: त्रिगुणजन्य सुख, दु:ख और उदासीनता से परे है। यही नहीं वह सभी प्रकार के भावों से परे भाव बुद्धि के धर्म हैं पुरुष के नहीं। भोक्ता का एक अर्थ द्रष्टा भी होता है। पुरुष को जहाँ भोक्ता कहा गया है, वहाँ उसका द्रष्टा भाव ही घटित होता है।[१९अ] इस प्रकार सांख्य के अनुसार पुरुष स्वरूपत: न कर्ता है और न भोक्ता।

कर्तृत्व और भोक्तृत्व के सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्ती मूलत: सांख्यों का ही अनुसरण करने लगते हैं। उनके अनुसार कर्तृत्व, भोक्तृत्व और ज्ञातृत्व का आरोपण जीव में होता

है, आत्मा में नहीं । आत्मा उपाधिरहित शब्द चैतन्य है, जो ब्रह्म स्वरूप ही है । अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य जीवात्मा है । कर्तृत्व और भोक्तृत्व जीवात्मा के अध्यास जन्य धर्म हैं । अद्वैत वेदान्त के अनुसार अहं-प्रत्ययगम्य अनात्मा है, आत्मा नहीं । अद्वैत सिद्धि में कहा गया है कि अहं पदार्थ आत्मा से भिन्न है, क्योंकि वह अहं ज्ञान का विषय है ।[२०] 'मैं स्थूल हूँ' 'मैं कृश हूँ' इस प्रकार अहं-प्रत्यय से शरीर का बोध होता है, आत्मा का नहीं, अन्तःकरण के साथ शुद्ध चैतन्य का अध्यास होने के कारण बुद्धि में स्थित कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ज्ञातृत्व आदि का आत्मा में आरोप होता है । वस्तुतः कर्तृत्व आदि बुद्धि और मन के धर्म हैं ।[२१] ज्ञातृत्व आत्मा का स्वाभाविक धर्म नहीं है । आत्मा तो ज्ञान स्वरूप है । जीवात्मा में जो अहंकार है उसके दो अंश हैं — अधिष्ठान रूप में शुद्ध चिदंश तथा अन्तःकरण रूप में अविद्या-परिणाम अचिदंश । अद्वैत वेदान्त के अनुसार कर्तृत्व का सम्बन्ध अन्तःकरण के साथ है । बुद्धि में चिदध्यास होने के कारण जीवात्मा स्वयं को अहंकर्ता के रूप में समझने लगता है । जिस प्रकार स्फटिक मणि में जपा कुसुम के सान्निध्य से लालिमा का आरोपण होता है, उसी प्रकार अन्तःकरण उपराग से आत्मा में अहं का आरोपण होता है ।[२२] वेदान्तसार में विज्ञानमय कोश को कर्ता और भोक्ता कहा गया है । पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ सहित बुद्धि ही विज्ञानमयकोश कहलाती है । 'यही (विज्ञानमय कोश युक्त चैतन्य) कर्ता, उपभोक्ता, सुखी, दुःखी होना आदि कारणों से (तथा) अभिमानत्व के कारण इस लोक और परलोक का आवागमन कर्ता व्यावहारिक अवस्था में जीव कहलाता है' ।[२३] इस प्रकार अद्वैत वेदान्त भी सांख्य की ही भाँति कर्तृत्व और भोक्तृत्व को बुद्धि (अन्तःकरण) के धर्म मानता है । जीव में इसका अध्यारोपण होता है । अध्यास के कारण जीव बुद्धि के धर्मों को अपने में मानने लगता है । इस मिथ्याध्यास से मुक्त होना ही मुक्ति है । आत्मा का ज्ञातृत्व भी आरोपित है । आत्मा ज्ञान स्वरूप है । सुषुप्ति अहं ज्ञान नहीं रहता तथापि आत्मा का अस्तित्व रहता है । आत्मा को ज्ञाता कहने पर ज्ञान और ज्ञानाश्रय में भेद करना होगा जो अद्वैत वेदान्त को अभीष्ट नहीं है । अतः आत्मा में ज्ञातृत्व आगन्तुक है ।[२४]

अद्वैत वेदान्त के साथ कठिनाई यह है कि वह यह नहीं समझा पाता कि किस प्रकार अनन्त असीम चैतन्य अन्तःकरण से अवच्छिन्न होकर सीमित जीव रूप में प्रतीत होता है जिसके फलस्वरूप उसमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व का अध्यास होता है । इस प्रश्न का भी इनके पास कोई संतोषजनक उत्तर नहीं है कि ज्ञानस्वरूप शुद्ध चैतन्य में अज्ञानरूपा अविद्या कैसे अधिष्ठित होती है? यही नहीं ज्ञातृत्व के अभाव में ज्ञान की

क्या सार्थकता है?

उपर्युक्त समग्र विमर्श में सांख्य दर्शन की इस बात पर सराहना की जा सकती है कि वह दो विपरीत स्वरूप के तत्त्व - चेतन पुरुष और अचेतन शरीर को जोडने वाले मध्यस्थ सेतु के रूप में सूक्ष्म शरीर की मौलिक अवधारणा प्रस्तुत करता है। बुद्धितत्त्व सूक्ष्म शरीर का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटक है। यह प्रकृति का प्रथम विकार होने के कारण अति सूक्ष्म और पारदर्शी है। अतएव यह स्वच्छ जल अथवा स्वच्छ स्फटिक की भाँति पुरुष चैतन्य को प्रतिबिम्बित करने में समर्थ है। चेतनवत् बुद्धि से युक्त यह सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर का आश्रय लेकर एक व्यक्ति की भाँति व्यवहार करता है। सूक्ष्म शरीर की यह वैयक्तिकता मोक्ष पर्यन्त बनी रहती है। यह सूक्ष्म शरीर प्रति शरीर भिन्न-भिन्न होता है और कर्मजन्य संस्कारों वश नाना योनियों में संसरण करता है। परन्तु सांख्य भी अन्य दर्शनों की भाँति इस समस्या का समाधान नहीं कर पाता है कि शुद्धचैतन्य पुरुष में अविवेक कहाँ से आ जाता है, जिसके फलस्वरूप वह बुद्धि के साथ अपने भेद को ग्रहण नहीं कर पाता। अरूपी और छाया रहित पुरुष की छायापत्ति (प्रतिबिम्ब) बुद्धि में कैसे हो सकती है? यही नहीं, प्रतिबिम्बात्मक ज्ञानको प्रेम अथवा यथार्थ ज्ञान मानने का क्या औचित्य है? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनका सांख्य के पास युक्तिसंगत उत्तर नहीं है।

कर्तृत्व के सम्बन्ध में एक बात सुस्पष्ट है कि न तो अकेला चेतन कर्ता हो सकता है और न अचेतन तत्त्व बिना चेतना के कर्ता हो सकता है। कर्तृत्व के लिए चेतन और अचेतन इन दोनों का किसी न किसी प्रकार से संयुक्त होना अनिवार्य है। समस्या यह है कि इन दो विरोधी स्वभाववाले तत्त्वों में संयोग कैसे होता है? सभी दर्शन अपने अपने ढंग से अनादि अज्ञान को इस वियोग का हेतु बतलाते हैं। जैनदर्शन राग द्वेषजन्य अनादि कर्मप्रवाह को इस संयोग का निमित्त बतलाते हैं। नैयायिकों के अनुसार अनादि अदृष्ट के कारण से आत्मा और शरीर का सम्बन्ध होता है। सांख्य और वेदान्त के अनुसार अनादि अज्ञान के कारण दोनों का परस्पर संयोग होता है। यह अनादि अज्ञान वस्तुतः भारतीय दर्शन का मूल अभ्युपगम है और यही हमारा निर्बल पक्ष है। जब किसी समस्या का युक्तिसंगत समाधान नहीं सूझ रहा हो तो उसे अनादि अज्ञान की कुंजी से हल करना कोई वास्तविक समाधान नहीं है, अपितु एक प्रकार से समस्या से पिण्ड छुडाना या पलायन करना है। यही नहीं ज्ञान और अज्ञान के द्वैत की न सुलझने वाली एक नई समस्या और उठ खडी होती है। अज्ञान को ज्ञान में आश्रित करना आत्मविरोधी

है और अज्ञान को ज्ञान से स्वतन्त्र मानते हैं तो समन्वित न होने वाला द्वैत उत्पन्न हो जाता है। अज्ञान की अवधारणा वस्तुतः मानवीय चिन्तनात्मक शक्ति की सीमितता का ही द्योतक है।

रीडर - दर्शन विभाग
जयनारायण विश्वविद्यालय,
जोधपूर

शिवनारायण जोशी 'शिवजी'

टिप्पणियाँ

१. फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री - 'जैन तत्त्वमीमांसा' अशोक प्रकाशन मन्दिर, वाराणसी, १९७८, पृ. २८१
२. पण्डित सुखलाल संघवी - 'दर्शन और चिन्तन' गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, पृ. २१९
३. वही पृ. २२७
४. वही पृ. २२६
५. वही पृ. २२७
६. "यत्राप्तव्यं यदा येन यत्र यावद्यतोऽपि वा।
तत्राप्यते तदा तेन तत्र तावत्ततो ध्रुवम् ॥ (पद्मपुराण)
- जैन तत्त्वमीमांसा, फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, पृ. २८३
७. समयसार, गाथा ८५ तथा जैन तत्त्वमीमांसा, पृ. २६९
८. समयसार, गाथा ३२०
९. 'न्यायदर्शनम्' वात्स्यायन भाष्य सं. स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, द्वितीय संस्करण, बौद्ध भारती, वाराणसी, पृ. १८
१०. न्यायसूत्र १.१.१५ तथा ३.२.३
११. विश्वनाथ तर्कपञ्चानन - 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' अनु. डॉ. धर्मेन्द्रनाथशास्त्री, तृतीय संस्करण, मोतीलाल बनारसीदास, पृ. १९६
१२. केशव मिश्र - 'तर्कभाषा' व्याख्याकार बदरीनाथ शुक्ल, द्वितीय संस्करण, मोतीलाल बनारसीदास, १९७६ पृ. २९६.
१३. वही २९७
१४. "तस्य भोगायतनमन्त्यावयवि शरीरम्" - तर्कभाषा, पृ. २०२

१५. वही पृ. २०३

१६. सांख्यकारिका का. १६, १९

१७. "सोऽयं बुद्धितत्त्ववर्तिना ज्ञानसुखादिना तत्प्रतिबिम्बितस्तच्छायापत्या ज्ञानसुखादिमानिव भवतीति चेतनोऽनुगृहते" सांख्यतत्त्व कौमुदी-वाचस्पतिमिश्र (हिन्दी व्याख्या-डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र) चतुर्थ संस्करण, प्रेम प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६९, पृ. १०६

१८. "तस्मिश्चेंद्दर्पणे स्फारे समस्ता वस्तुदृष्टयः इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरससीव तटद्रुमाः" (सांख्य प्रवचन भाष्य १.१.३) तर्कभाषा पृ. ९२.

१९. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ. १९६

१९अ. Tattava Kaumudi Trans. M.M. Ganganatha Jha, O.B. Agency, Poona, p. 63.

२०. "अहमर्थः आत्मान्यः अहं शब्दाभिधेयत्वात, अहंकार शब्दविधेयवत्" (अद्वैतसिद्धि पृ.६०७, ६१२) 'शांकर वेदान्त' - डॉ.अभेदानन्द भट्टाचार्य, दुर्गा पब्लिकेशन्स, दिल्ली, १९९१, पृ. ७३.

२१. मनसः कर्तृत्वमात्मन्यारोप्यत इति" (अद्वैतसिद्धि पृ. ६१२), वही पृ.७४.

२२. (पद्मपाद - पंचपादिका मद्रास पृ. ३२, १००, १०१) वही पृ. ७४.
यहाँ द्रष्टव्य है कि शंकर ब्रह्मसूत्र २.३.३३ 'कर्ताशास्त्रार्धवत्त्वात्' के भाष्य में सांख्योक्त अचेतन बुद्धि के कर्तृत्व का खण्डन करते हैं।

२३. "इयं बुद्धिर्ज्ञानेन्द्रियैः ....व्यवहारिको जीव इत्युच्यते" ७२-७३ - वेदान्तसार -सदानन्द योगीन्द्र, साहित्य भण्डार, मेरठ, १९८२, पृ. ९५.

२४. शांकर वेदान्त, पृ. ७५.

"कर्म-सिद्धान्त के सन्दर्भ में इच्छा स्वातन्त्र्य की समस्या"

" जिस कर्म के बल से ब्रह्मा इस ब्रह्माण्ड भाण्डोदर में सदा कुम्हार का काम कर रहा है, विष्णु भगवान दस अवतार लेने के महासंकट में पडे हुए हैं, रुद्र हाथ में कपाल लेकर भीख मांगते रहते हैं और सूर्य आकाश में चक्कर लगाता रहता है, उस कर्म को हम नमस्कार करते हैं।"[१] इस सूत्र में कर्म की जिस महिमा को स्पष्ट किया गया है, वह हमें इस दृश्य-अदृश्य जगत् में सर्वत्र परिलक्षित होती है। कर्म के अभाव में जीवन की कल्पना ही संभव नहीं है। प्रत्येक प्रकार का जीवन चाहे वह भौतिक हो या आध्यात्मिक, कर्म ही है। इसकी और अधिक स्पष्ट अभिव्यक्ति इस शब्दों में की जा सकती है कि "कर्म ही सृष्टि है।" भारतीय दर्शन की सर्वाधिक मूलभूत, महत्त्वपूर्ण चिन्तन परम्परा उपनिषदों में कर्म को ब्रह्म ही स्वीकार किया गया है।[२] कर्म की यही महत्ता हमें इसके स्वरूप के संबंध में अधिकाधिक चिन्तन को प्रेरित करती है। यद्यपि इसके पूर्ण स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना हमारे लिये ऐन्द्रिक स्तर पर संभव नहीं है, जैसा कि गीता में भी कहा है— "गहना कर्मणो गति:" अर्थात् कर्म की गति गहन है, तथापि हम अपनी बौद्धिक शक्ति के द्वारा इसके स्वरूप पर कुछ सीमा तक विचार कर सकते हैं। कर्म के स्वरूप के संबंध में विचार करने से हमें इसके दो पक्ष मिलते हैं - कर्म का प्रथम पक्ष उसके क्रिया रूप से संबंधित है। साधारण रूप में जो कुछ किया जाता है, उसे कर्म कहते हैं। यहाँ हम कर्म और घटना में अन्तर कर सकते हैं। घटना वह क्रिया है जो घटित होती है। कर्म वह क्रिया है जो की जाती है। इस अन्तर को हम दृष्टान्त से समझा सकते हैं कि पेड से सेब का टूटकर गिरना एक घटना है तथा मेरे द्वारा सेब का तोडा जाना एक कर्म है। दूसरे शब्दों में घटना वह क्रिया है, जो भौतिक या प्राकृतिक नियमों के द्वारा संचालित होती है और कर्म विवेकशील प्राणि के द्वारा की गई सुविचारित क्रिया है। इस अर्थ में हम अनैच्छिक कर्मों को कर्म की श्रेणी में नहीं रखते हैं, जैसे हृदय का धडकना, पलकों का झपकना।

कर्म का दूसरा पक्ष कर्म-सिद्धान्त के रूप से प्रकट होता है, जिसके अनुसार प्राणि मात्र को सुख और दुख की जो उपलब्धि होती है वह स्वयं के किये कर्म का ही प्रतिफल

है । संक्षेप में कर्म सिद्धान्त के अनुसार "हम वही काटते हैं जो बोते हैं।" अर्थात् व्यक्ति जैसा कर्म करता है उसी के अनुरूप उसे फल प्राप्ति होती है । प्रो.हिरियन्ना[३] के अनुसार "कर्म-सिद्धान्त का आशय यही है कि नैतिक जगत् में भी भौतिक जगत् की भाँति पर्याप्त कारण के बिना कुछ भी घटित नहीं हो सकता । यह समस्त दुख का आदि स्रोत हमारे व्यक्तित्व में ही खोज कर ईश्वर और प्रतिवेशी के प्रति कटुता का निवारण करता है।" कारण-कार्य पर आधारित कर्म-सिद्धान्त की यह व्याख्या नियतिवादी विचारधारा को पुष्ट करती है जिसके अनुसार कर्म-सिद्धान्त केवल इतना ही कहता है कि प्रत्येक कर्म पूर्व-स्थित अवस्थाओं का अनिवार्य परिणाम है । किन्तु उपर्युक्त नियतिवादी विचारधारा नैतिक उत्तरदायित्व की धारणा के साथ तर्कसंगत प्रतीत नहीं होती । प्रत्येक व्यक्ति के कर्मो का शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित की दृष्टि से मूल्यांकन किया जाता है किन्तु नियतिवाद को मानने से कर्मो का नैतिक मूल्यांकन संभव नहीं है । यदि मनुष्य जो कुछ कर रहा है और आगे जो भी करेगा उसका निर्णायक पूर्वकृत कर्म ही है तो उस स्थिति में उसके प्रयत्नों का कोई भी महत्त्व नहीं रह जाएगा । इच्छा-स्वातन्त्र्य नैतिकता के लिये अनिवार्य है क्योंकि इसके अभाव में मनुष्य को उसके कर्मों के लिये उत्तरदायी नहीं माना जा सकता ।

नियतिवाद की यह भी मान्यता है कि मनुष्य का वर्तमान जीवन उसके भूत के जीवन का अनिवार्य परिणाम है और उसका भविष्य जीवन उसके वर्तमान जीवन का अनिवार्य परिणाम होगा । किन्तु यदि मनुष्य को इस जीवन में कर्म करने की स्वतन्त्रता ही नहीं है तो उसके भविष्य जीवन को उसके वर्तमान जीवन पर आधारित मानने का कोई कारण नजर नहीं आता । साथ ही यदि उसे भूत जीवन में कर्म करने की स्वतन्त्रता उपलब्ध थी जो वर्तमान जीवन में भी उस स्वतन्त्रता की उपलब्धि माननी होगी । प्रत्येक कर्म को पूर्व निर्धारित मानने से मनुष्य में किसी प्रकार की स्वतन्त्रता संभव नहीं होगी और फलस्वरूप व्यक्ति के प्रयत्नों को निरर्थक मानना होगा । अतः कर्म-सिद्धान्त के विषय में यह कहने की अपेक्षा कि "प्रत्येक कर्म पूर्वस्थित अवस्थाओं का अनिवार्य परिणाम है" यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि मनुष्य को अपने प्रत्येक कर्म का फल अवश्य भोगना पडता है । ऐसी स्थिति में फलभोग के अतिरिक्त भी कर्म करने की स्वतन्त्रता विद्यमान रहती है । स्वविवेकानुसार विकल्प चुनने की स्वतन्त्रता को इच्छा-स्वातन्त्र्य या कर्म-स्वातन्त्र्य की संज्ञा दी जाती है । मनुष्य के इसी स्वातन्त्र्य को कांट[४] इन शब्दों में व्यक्त करता है – "मुझे करना चाहिए अतः मैं कर सकता हूँ ।" जब हम किसी व्यक्ति को कहते हैं कि उसे अमुक कर्म करना चाहिए अथवा नहीं करना चाहिए

तो इसका तात्पर्य यही है कि वह अपने विवेकानुसार अमुक कर्म करने अथवा न करने का विकल्प चुन सकता है। इस प्रकार कर्म का सिद्धान्त नैतिक दृष्टि से व्यक्ति पर उसी स्थिति में लागू होता है जबकि वह कर्म करने में स्वतन्त्र हो।

कर्म-सिद्धान्त से जुडी हुई दैववाद या भाग्यवाद की धारणा भी है। भारतीय दर्शन परम्परां में कर्म को वर्तमान में किये जाने वाले कर्म और पूर्वकृत कर्मों के फल इन दों रूपों में देखा जाता है। पूर्वकाल में किये हुये कर्मों का फल "दैव" कहलाता है जिसे कि गीता में कर्म के पाँच प्रेरक तत्त्वों में एक माना गया है। वर्तमान काल में किया जाने वाला कर्म "पुरुषार्थ" कहलाता है। कई लोग "दैव" और "पुरुषार्थ" को परस्पर विरोधी मानते हैं। वे यह आशंका उठाते है कि "दैव" को स्वीकार करने से कर्म-स्वातन्त्र्य व्यर्थ हो जाएगा परन्तु हम यह कह सकते हैं कि दैव और पुरुषार्थ में कोई विरोध नहीं है। कारण कि वर्तमान जीवन के भोग का पूर्वकृत कर्मों से कारण-कार्य संबंध तो रहता है किन्तु वर्तमान में किये जा रहे कर्म का पूर्वकृत कर्म के साथ कारण-कार्य का सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। इस संदर्भ में कांट[5] का यह विचार यहाँ देना प्रासंगिक है। कांट प्रश्न करता है कि जब हम कोई कर्म करते हैं तो स्वतन्त्रता और प्राकृतिक अनिवार्यता में क्या कोई टकराहट होती है ? कांट अपने इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि स्वतन्त्रता की अवस्थायें प्राकृतिक अनिवार्यताओं से सर्वथा भिन्न है। अत: प्रकृति के नियम स्वतन्त्रता को प्रभावित नहीं करते हैं। अत: दोनों ही एक साथ बिना प्रारस्परिक हस्तक्षेप के कार्य कर सकते हैं।

इस प्रकार कारण-कार्य पर आधारित कर्म-सिद्धान्त का नैतिक सिद्धान्त भौतिक या प्राकृतिक सिद्धान्त से इस अर्थ में भिन्न है कि वहाँ समस्त घटनाएँ पूर्व निर्धारित हैं। अमुक कारण होने पर अमुक कार्य होता है किन्तु कर्म-सिद्धान्त में इस प्रकार से पूर्व निर्धारण नहीं कहा जा सकता। अत: मनुष्य फलभोग में तो परतन्त्र है परन्तु कर्म करने में नहीं। यही कारण है कि उपनिषदों और गीता में मनुष्य को सतत कर्म करने की प्रेरणा दी गई है। यदि मनुष्य के समस्त कर्म दैव पर ही आश्रित होते तो इस प्रकार की प्रेरणा का कोई अर्थ नहीं रह जाता। इस प्रकार दैव जिसे भाग्य भी कहा जाता है मनुष्य के सभी कर्मों के लिये उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता।

भाग्य अथवा दैव के प्रभाव को द्विविध प्रकार से समझ सकते हैं। एक ओर भाग्य व्यक्ति के द्वारा किये गये कर्म को भी प्रभावित करता है तो दूसरी ओर कर्मफल को भी प्रभावित करता है। यह व्याख्या स्वीकार करने पर कर्म-स्वातन्त्र्य की संभावना न्यून हो जाती है क्योंकि तब हमारे द्वारा किया जाने वाला कर्म भी भाग्याधीन है। भाग्य

के प्रभाव के सम्बन्ध में दूसरी व्याख्या भी दी जा सकती है जिसके अनुसार भाग्य व्यक्ति द्वारा किये जा रहे कर्म को तो प्रभावित नहीं करता। व्यक्ति दृढ इच्छाशक्ति से कर्म में प्रवृत्त रहता है तथापि प्रतिकूल भाग्य होने से अनुकूल फल की उसे प्राप्ति नहीं होती। इस व्याख्या में भाग्य के द्वारा कर्मफल ही बाधित हो रहा है किंतु कर्म की 'स्वतन्त्रता अप्रभावित रह रही है। अत: यही मानना उचित है कि भाग्य कर्मफल को प्रभावित करता है और यदि व्यक्ति सतत् पुरुषार्थ करता रहे तो अनुकूल भाग्य होने पर वह अवश्य अनुकूल फल प्राप्त करता है।

यहाँ हमने भाग्य तथा कर्म-सिद्धान्त के सम्बन्ध की विवेचना की। अब एक और प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या मनुष्य का कर्मफल भी बदला जा सकता है? यदि यह कहा जाए कि कर्मफल बदला जा सकता है तो यह बात कर्म-सिद्धान्त के प्रतिकूल बैठती है। यहाँ पर ज्ञान और कर्म अथवा भक्ति और कर्म के बीच के द्वन्द्व का सन्दर्भ प्रस्तुत होता है। शंकर आदि विद्वानों का यह कथन है कि ज्ञानाग्नि में सारे कर्म भस्म हो जाते हैं। रामानुज, वल्लभ आदि भक्ति से कर्मक्षय मानते हैं। यह मानने पर कर्म-सिद्धान्त का सम्मान भी बना रहता है तथा कर्मच्छेदन के लिये व्यक्ति को ज्ञान और भक्ति का शस्त्र भी उपलब्ध हो जाता है। इससे यह भी नहीं समझना चाहिए कि कर्म का ज्ञान व भक्ति से आत्यन्तिक विरोध है। सदैव शुभ व सत् कर्म करने से ही चित्त शुद्ध होता है और शुद्ध व निर्मल चित्त में ही ज्ञान व भक्ति का उदय होता है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि ज्ञान व भक्ति के उदय से व्यक्ति के संचित और क्रियमाण कर्म और उनसे मिलने वाले फल ही नष्ट होते हैं किन्तु प्रारब्ध कर्मों का फल तो भोगना ही पडता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भाग्य और पुरुषार्थ में किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

कर्म-स्वातन्त्र्य की इस अवधारणा को हम आत्मा की अवधारणा के संदर्भ में भी समझ सकते हैं। समस्त कर्म चाहे वे शारीरिक हो या मानसिक स्वरूपत: जड हैं। अत: वे अपने-आप सम्पादित नहीं हो सकते। उनके संचालन के लिये किसी चेतन सत्ता की आवश्यकता होती है और यह चेतन सत्ता आत्मा है, जो शरीर में रहकर सभी कर्मों का संचालन करता है। यह जीवात्मा परब्रह्म का ही एक रूप है। अत: उसे स्वभावत: स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। इसी स्वाभाविक स्वतन्त्रता से ही उसे संकल्प की स्वतन्त्रता भी प्राप्त है जिससे विभिन्न शुभाशुभकार्य सम्पन्न होते हैं। परन्तु संकल्प भी मनुष्य की कामनानुसार होता है अर्थात् मनुष्य पहले किसी वस्तु की प्राप्ति की कामना करता है और फिर वह उसे प्राप्त करने का संकल्प अर्थात् निश्चय करता है। इसी

सम्बन्ध में बृहदारण्यक उपनिषद्[६] में कहा है "जिसकी जैसी कामना होती है, वैसा ही क्रतु अर्थात् प्रयत्न होता है, जैसा "क्रतु" होता है वैसा ही "कर्म" होता है और जैसा कर्म होता है वैसा ही "फल" होता है।" इससे स्पष्ट है कि कर्म स्वयं में न अच्छा होता है और न बुरा। यह मनुष्य की कामना ही है जो कि उससे ऐसे कर्म कराती है, जिनसे कि उसे अच्छे या बुरे फल की प्राप्ति होती है। यदि व्यापक दृष्टि से विचार किया जाये तो हम कह सकते हैं कि कामना या इच्छा स्वयं एक कर्म है, क्योंकि कर्म के सांधारण अर्थ में किसी भी प्रकार की क्रिया चाहे वह शारीरिक हो या मानसिक, उसे कर्म कहा जाता है। कामना या इच्छा को चित्त की क्रिया कहा जाता है। अत: कामना स्वयं कर्म ही है। कामनाएँ भी दो प्रकार की होती हैं। एक विषयभोग की कामना अर्थात् स्वार्थ की कामना और दूसरी परार्थ की कामना। ये कामनाएँ भले ही स्थूल कर्म में परिणत न हो तथापि अपने उदय के साथ ही तदनुरूप संस्कार को जन्म दे देती हैं अर्थात् शुभ कामना शुभ संस्कार व अशुभ कामना अशुभ संस्कार को जन्म देती है। इस दृष्टि से कामना को मानसिक कर्म अर्थात् भाव कहा जा सकता है। इसे जैन दर्शन के भाव कर्म के समकक्ष देखा जा सकता है। इन दो प्रकार की कामनायुक्त पुरुषों क्रे संबंध में मुण्डकोपनिषद्[७] में भी बताया है कि "जो पुरुष भोगों की इच्छा करता है वह उन कामनाओं के योग से वहाँ-वहाँ अर्थात् उनकी प्राप्ति के स्थानों में उत्पन्न होता है। परन्तु जिसकी कामनाएँ पूर्ण ही हो गयी हैं उस कृतकृत्य पुरुष की तो सभी कामनाएँ इस लोक में ही लीन हो जाती हैं। ऐसे विशुद्धचित्त व्यक्ति की स्वतन्त्रता को ही बताते हुये कहा है "वह विशुद्ध चित्त आत्मवेत्ता मन से जिस-जिस लोक की भावना करता है और जिन-जिन भोगों को चाहता है, वह उसी-उसी लोक और उन्हीं-उन्हीं भोगों को प्राप्त कर लेता है।" यहाँ इच्छित भोगों की प्राप्ति मात्र शुद्धचित्त पुरुष की स्वतन्त्रता को लक्षित करने के लिये ही बताई गई है, यथार्थ में तो शुद्धचित्त पुरुष को मात्र आत्मस्वरूप की जिज्ञासा के अन्य किसी भोग की कामना नहीं रहती।

इससे स्पष्ट है कि व्यक्ति जब तक कामना में आसक्त रहता है, तब तक वह परतन्त्र है और जब वह स्वयं को कामनाओं से पृथक् कर लेता है, तब वह अपनी स्वाभाविक स्वतन्त्रता को प्राप्त कर लेता है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि कामनाओं के रहते हुये मनुष्य पुरुषार्थ कर ही नहीं सकता। यदि ऐसा होता तो सांसारिक व्यक्ति कामनाओं के जाल से कैसे मुक्त होता ? तात्पर्य यह है कि कामनाएँ स्वतन्त्रता को क्षीण करती हैं। जो व्यक्ति जितनी अधिक कामनाओं के वशीभूत है उसकी स्वतन्त्रता उतनी ही मात्रा में न्यून या क्षीण है किन्तु ऐसा नहीं है कि उसकी स्वतन्त्रता

पूरी तरह से नष्ट हो गई हो। व्यक्ति अपने पुरुषार्थ और गीता के अनुसार अभ्यास और वैराग्य से अपनी स्वाभाविक स्वतन्त्रता पुनः प्राप्त कर सकता है।

स्वतन्त्रता आत्मा का स्वभाव है। अतः यह दब सकती है किन्तु नष्ट नहीं हो सकती। मनुष्य की इसी स्वातन्त्र्य शक्ति का उल्लेख मैत्रायणी-उपनिषद्[८] में इस प्रकार किया गया है, "मनुष्य अपने आप ही अपने को बन्धन में डालता है, जैसे एक पक्षी स्वयं ही अपने लिये घोंसला बनाता है।" इसी कारण गीता[९] में भी यही कहा है कि "अपने द्वारा अपना संसार समुद्र से उद्धार करें और अपने को अधोगति में न डाले; क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है।" स्पष्ट है कि मनुष्य अपने ही प्रयत्न द्वारा अपनी अवस्थाओं को यथेच्छ रूप से परिणत कर सकता है। भाग्य किसी भी व्यक्ति को उसके कर्मों के बिना न तो ऊपर उठा सकता है और न नीचे ही गिरा सकता है। मनुष्य स्वयं अपनी आत्मा के शुद्ध चेतन स्वरूप को जानकर तो कर्मों का स्वामी है और कर्म करने में स्वतन्त्र है परन्तु यदि वह स्वयं को जड शरीर मानकर उसके विषयों में आसक्त हो जाए तो वह कर्मों के अधीन हो ज़ाता है। जैसा कि कठोपनिषद्[१०] में आत्मा को रथी, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथी, मन को लगाम, इन्द्रियों को घोडे, विषयों को उनके मार्ग और शरीर, इन्द्रिय, मन से युक्त आत्मा को अर्थात् जीवात्मा को भोक्ता बताकर कहा है कि "जो सर्वदा अविवेकी एवं असंयत चित्त से युक्त होता है उसके अधीन इन्द्रियाँ इसी प्रकार नहीं रहती जैसे अकुशल सारथी के अधीन बलवान घोडे।" आगे कहा है "जो मनुष्य विवेकयुक्त बुद्धि-सारथी से युक्त और मन को वश में रखने वाला होता है, वह संसारमार्ग से पार होकर उस विष्णु के परमपद को प्राप्त कर लेता है।"

इस प्रकार जो व्यक्ति जितना अधिक विषयासक्त होगा वह उतना ही परतन्त्र होगा अर्थात् उसके संकल्प ऐन्द्रिक विषयों से ही प्रेरित होंगे। परन्तु जो व्यक्ति अपने को विषय-भोग से दूर कर लेता है वह स्वयं का विकास अपने संकल्पानुसार कर सकता है। संकल्प की इसी स्वतन्त्रता का प्रयोग कर वह स्वयं को उन्नत कर सकता है। कर्म-स्वातन्त्र्य का यह यात्पर्य नहीं है कि मनुष्य उच्छृंखल व्यवहार करे वरन् उसे अपनी स्वतन्त्रता का विवेकपूर्वक प्रयोग करना चाहिए। गीता[११] के अन्त में श्रीकृष्ण का अर्जुन को कहा गया यह वचन द्रष्टव्य है -- मैंने यह गोपनीय से भी अति-गोपनीय ज्ञान तुमसे कह दिया। अब तू इस रहस्ययुक्त ज्ञान को पूर्णतया भली भाँति विचार कर, जैसे चाहता है, वैसे ही कर।" इस सूत्र में दो बातें स्पष्टतः लक्षित होती हैं। 'यथेच्छसि तथा कुरू' के अनुसार व्यक्ति इच्छानुसार आचरण कर सकने में समर्थ है किन्तु मात्र

ऐसा करने से उसका पतन होना भी संभव है। अतः साथ में 'विमृश्यैतदशेषेण' की बात कर कर यह बतलाया गया है कि पूर्णतया भलीभाँति विचार करने के बाद जैसा चाहता है वैसा कर अर्थात् मनुष्य को विवेक के द्वारा शुभाशुभ या उचित-अनुचित का भेद करके शुभ या उचित कर्म को करना चाहिए।

डॉ. शोभा

द्वारा आनंद फूड प्रॉडक्ट्स
वैदिक कन्या पाठशाला के पास
बागर चौक
जोधपूर (राजस्थान)

सन्दर्भ

१. बाबू हरिदास वैद्य - भर्तृहरिकृत नीतिशतक ९६, पृष्ठ संख्या ३२६
२. मुण्डक उपनिषद् २/१/१०
३. प्रो. हिरियन्ना - भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ संख्या - ७९
४. डॉ. वेदप्रकाश वर्मा - नीतिशास्त्र के मूल सिद्धान्त, पृष्ठ संख्या - २३५
५. संपादक एवं अनुवादक - रेमण्ड बी. ब्लेन्के .एन इमैन्युअल कांट रीडर
६. "काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति
यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरूते यत्कर्म कुरूते तदभिसंपद्यते।"
बृहदारण्यक उपनिषद् - ४/४/५
७. मुण्डक उपनिषद् - ३/२/२, ३/१/१०
८. मैत्रायणी-उपनिषद् - ३/२
९. गीता - ६/५
१०. कठोपनिषद् - १/३/३, ४,५,६,९
११. "इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरू" - गीता १८/६३

परामर्श (हिंदी) प्रकाशन

आत्मस्वीकृति – ले. प्रो. सुरेंद्र बारलिंगे
अनु. प्रा. राजमल बोरा
सं. डॉ. सुभाषचंद्र भेलके

पृ. ८८ मूल्य रु. ६०।-

मनुष्य और समाज के गौरवशाली अस्तित्व की प्रस्थापना में दर्शन किस तरह अपनी भूमिका अदा कर सकता है ? दार्शनिक का भावविश्व एवं विचार-विश्व किस तरह का होता है ? दार्शनिक अपना जीवन किस तरह व्यतीत करता है ? इन प्रश्नों की खोज का समाधान दिलानेवाली यह पुस्तक अवश्य ही पाठकगण के लिए नयी दृष्टि प्रदान करेगी ।

नव्यन्याय के पारिभाषिक पदार्थ (प्रथम खंड)

ले. डॉ. बलिराम शुक्ल

पृ. २१० मूल्य : रु. १६०।-

नव्यन्याय के अध्ययन के लिए पारंपरिक शिक्षा की आवश्यकता है । लेकिन प्राथमिक स्तर पर तथा तौलनिक अभ्यासकों के लिए नव्यन्याय के पदार्थों का मौलिक परिचय होना जरूरी है । इस दृष्टि से यह पुस्तक पाठकों की सहायता करेगी ।

स्वराज, भूमण्डलीकरण और सांस्कृतिक संकट

स्वतंत्रता प्राप्ति के पचास वर्ष पूरे होने पर स्वराज के संप्रत्यय पर विचार करना कई दृष्टियों से प्रासंगिक जान पडता है। भले ही हमने विभिन्न क्षेत्रों में बहुतेरी प्रगति की हो किन्तु यह प्रश्न अनायास ही मन में उभरता है कि क्या हम उन उद्देश्यों की प्राप्ति में सफल हो सके जो स्वराज की हमारी परिकल्पना के आधार थे ? यहीं इक्कीसवीं शताब्दी की दहलीज पर खडे होकर इन प्रश्न से टकराना भी जरूरी लगता है कि आज हमारे सामने मुख्य चुनौती क्या है और उसके लिये हमें कैसी तैयारी करना अपेक्षित है ? पहले प्रश्न के समुचित उत्तर के लिए जहाँ हमें पीछे मुडकर देखना होगा वहीं दूसरे के लिये आज के बदलते विश्व और भूमंडलीकरण की प्रक्रिया को समझना जरूरी है। किन्तु दोनों ही प्रश्नों का उत्तर इस बात पर निर्भर करता है कि हम स्वराज से क्या समझते हैं। प्रस्तुत लेख में सर्वप्रथम 'स्वराज' के प्रत्यय को उसके ऐतिहासिक – राजनैतिक सन्दर्भ में समझने का प्रयास किया गया है, उसके पश्चात् भूमंडलीकरण की प्रक्रिया से उत्पन्न सामाजिक– सांस्कृतिक संकट का विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है और अंत में, इस सांस्कृतिक चुनौती का सामना कैसे किया जाय इस प्रश्न पर विचार किया गया है।

'स्वराज' का सम्प्रत्ययात्मक विवेचन करने के लिये जहाँ एक ओर इसकी 'स्वराट', 'स्वराज्य' और 'सुराज्य' ऐसे शब्दों से भिन्नता दर्शाना अनिवार्य है तो दूसरी ओर उस ऐतिहासिक संदर्भ पर भी दृष्टि डालना जरूरी है जिसके दौरान यह शब्द उभर कर चर्चा में आया। वेदों में प्रयुक्त 'स्वराट' की परिकल्पना अपने ही रूप के सम्पन्न, स्वयं दीप्तिमान्, आत्मानन्द में लीन, परमानन्द की स्थिति है जिसकी तुलना जीवन मुक्त से की जा सकती है। भारतीय वाङ्मय में 'स्वराज्य' शब्द से आशय आत्म शासन, आत्म संयम और आत्म निर्धारण से है। अपने प्रारम्भिक अर्थों में स्वराज्य शब्द व्यक्ति केन्द्रित और मोक्ष की अवधारणा के समीप ही है। यदि स्व का अर्थ आत्मा से लिया जाय तो अपने तात्त्विक अर्थ में यह प्रत्यय, भारतीय दर्शन की कई धाराओं के अनुसार अपने आध्यात्मिक अर्थों में कैद हो जाता है। जहाँ आत्मा, न भोक्ता है न कर्ता, जहाँ स्व और पर के भेद मिट चुके हैं वहाँ अपने जागतिक – सामाजिक अर्थ में 'स्वराज्य' के प्रत्यय की कोई प्रासंगिकता नहीं रह जाती। इस कठिनाई को दूर करने के लिये

कतिपय विद्वानों ने इंगित किया है कि स्व का अर्थ केवल आत्मा नहीं है और न विरक्ति ही एक मात्र हमारी परम्परा है। स्व का ऐसा विस्तार (तादात्म्यता के अर्थ में) कि परत्व का भाव ही मिट जाय, दूसरे अर्थों में प्रेम का ही दूसरा नाम आध्यात्मिकता है।

यह स्वीकारते हुये कि उपनिषदों में स्वराज्य के तीनों स्तरों- आध्यात्मिक, सामाजिक, राजनैतिक,— को स्थान प्राप्त है इस प्रश्न का कोई समुचित उत्तर नहीं होता कि सामाजिक स्तर पर जातिव्यवस्था को कैसे वैधता प्राप्त हो गई और हम सैकडों वर्षोंतक गुलाम रहे; उत्कृष्ट मूल्यबोध को अपने में समेटने वाला प्रत्यय 'स्वराज्य' दासता मुक्ति के संघर्ष का संवाहक क्यों नहीं बन सका? दरअसल, 'स्वराज्य' शब्द अपने आध्यात्मिक अर्थ तक ही सीमित रहा और चूँकि आध्यात्मिक उन्नति के लिये राजनैतिक प्रश्न गौण है इसलिये राजनैतिक दासता के विरोध में इसके उपयोग की सम्भावना पर कभी विचार ही नहीं किया गया।

भारत के स्वतंत्रता संग्राम के दौरान 'स्वराज' शब्द प्रचलन में आया जिसका सीधा तात्पर्य विदेशी दासता से मुक्ति था। दयानन्द, तिलक, गाँधी और टॅगोर ने इस सम्प्रत्यय को ठोस राजनैतिक संदर्भ में प्रयुक्त किया और इसके विविध आयामों की चर्चा को जन-मानस तक पहुँचाने का प्रयत्न किया। प्रारम्भ में यह शब्द दो अर्थ - ध्रुवों में विभाजित रहा। एक ओर टॅगोर है जो इसके मूल्यात्मक - तात्त्विक अर्थ के प्रवर्तक हैं और 'स्वराज' का अर्थ मुख्यत: 'आत्मानुशासन' से लेते हैं। दूसरी ओर तिलक हैं जिनके लिये इसका तथ्यात्मक-राजनैतिक अर्थ प्रधान है। गाँधी ने व्यक्ति और समाज, दोनों स्तरों का समन्वय कर 'स्वराज' के अर्थ का पूर्ण प्रकाशन किया। व्यक्तिगत स्तर पर इसका अर्थ आत्म-नियंत्रण है जहाँ अपनी उच्छृंखल प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण करना ही साध्य है। सामाजिक स्तर पर स्वराज का अर्थ शासन व्यवस्था पर अपनों के नियंत्रण से है। सांस्कृतिक दृष्टि से इसका अर्थ वैचारिक दासता से मुक्ति है। दोनों अर्थ एक दूसरे के विरोधी न होकर पूरक मात्र हैं। जब तक शासन करने वालों में आत्मानुशासन नहीं होगा, स्वराज एक स्वप्न मात्र ही रहेगा। यहीं पर 'स्वराज' और 'सुराज' में अन्तर स्पष्ट करना भी जरूरी है। विदेशी हुकूमत के अन्तर्गत 'सुराज' सम्भव है किन्तु 'स्वराज' नहीं; स्वराज के लिए शासन व्यवस्था अपने प्रतिनिधियों के हाथ में होना अनिवार्य है। प्रश्न उठता है कि क्या अपनों द्वारा चलाया जा रहा कुराज भी 'स्वराज' कहलायेगा? हमारे विचार से यदि जनता द्वारा चुनी सरकार जनता की भलाई के विपरीत कार्य करती है तो उसे 'स्वराज' कहना बेमानी होगा। अपनी और अच्छी सरकार के अन्तर्गत ही स्वराज सम्भव है। इस आधार पर पिछले पचास वर्षों के

इतिहास को 'स्वराज' नहीं कहा जा सकता। हमें विदेशी शासन से अवश्य मुक्ति मिली जो 'स्वराज' का निषेधात्मक पक्ष है किन्तु हम 'स्वराज' का धनात्मक पक्ष— उन स्थितियों को प्राप्त कर सकने से बहुत दूर हैं जो 'स्वराज्य' की राजनैतिक अवधारणा के आधार हैं। अत: कह सकते हैं कि 'स्वराज' की अवधारणा अपने राजनैतिक ऐतिहासिक सन्दर्भों के साथ ही प्रासंगिक है, आज राजनैतिक स्वराज और उसकी असफलता का प्रश्न ही सबसे महत्त्वपूर्ण है।

यही 'स्वराज' के नैतिक आदर्श और स्वतंत्रता, इन्डिपेन्डेन्ट ऐसे प्रत्ययों में अन्तर स्पष्ट करना भी जरूरी है। अधिकांशत: स्वतंत्रता और इन्डिपेन्डेन्ट आदि शब्द निषेधात्मक रूप में प्रयुक्त होते हैं जबकि 'स्वराज' एक भावात्मक शब्द है। जब हम स्वतंत्रता किस में (Freedom from) से आगे जाकर स्वतन्त्रता किसलिये (Freedom to) पर विचार करते हैं तो स्वराज का प्रत्यय अपने विविध आयामों के साथ प्रासंगिक हो उठता है। यह विचार करना आवश्यक हो जाता है कि वर्तमान सन्दर्भ में आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक स्वराज का क्या अर्थ है। यदि 'स्वराज' का तात्त्विक अर्थ आत्म निर्णय है तो यह परीक्षण करना भी जरूरी है कि जीवन के इन विविध पक्षों में आत्म निर्णय के सामने क्या चुनौतियाँ हैं। इसके लिये एक ओर 'वैचारिक स्वराज' (Swaraja in ideas) महत्त्वपूर्ण है तो दूसरी ओर बदलते सामाजिक - आर्थिक परिप्रेक्ष्य को समझना भी जरूरी है। अपने समय में ऐसा ही एक प्रयत्न 'हिन्द स्वराज' के माध्यम से गाँधी ने किया था किन्तु आज विश्वस्थिति बदल चुकी है। आधुनिकता का विचार भी सन्देह के घेरे में है। वैज्ञानिक तर्कजनित प्रौद्योगिकी ने जिस समाज व्यवस्था को जन्म दिया है उसने व्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन कर उसे अमानवीयता के गहरे कुएँ में धकेल दिया है। उससे निकलने के लिये तीक्ष्ण आत्म परीक्षण जरूरी है। तभी उस 'सांस्कृतिक विवेक' का जन्म हो सकेगा जो आत्म निर्णय के अधिकार को दिशा दे सके और स्वराज की परिकल्पना को मूर्त रूप में साकार कर सके।

भूमण्डलीकरण एक नयी विश्व स्थिति है और एक नयी आर्थिक - भौगोलिक अवधारणा भी जो इस नयी स्थिति से ही निकली है। तकनीकी और जन संचार क्रान्ति ने सम्पूर्ण धरती को एक ग्राम बना दिया है जहाँ देश-काल के भेद मिटते जा रहे हैं। इस नयी स्थिति ने हमारा ज्ञान, हमारे अनुभव और हमारी जीवन शैली को अभूतपूर्व ढंग से प्रभावित किया है जो तेजी से बदलते समाज में साफ परिलक्षित किया जा सकता है। प्रश्न उठता है कि भूमण्डलीकरण से जिस विश्व की ओर हम बढ रहे हैं, उसका

स्वरूप क्या है ? कुछ समय पहले तक सारा दृश्य साफ - साफ दिखता था, दुनिया दो खेमों में बँटी हुयी थी, सिर्फ यह तय करना होता था कि हम किस ओर हैं। लेकिन समाजवादी खेमा ढल गया और पूँजीवादी खेमें का हिस्सा बन गया। साथ ही पूंजीवाद भी वही नहीं रहा जो पहले था। आज हम जिस पूँजीवादी विश्व व्यवस्था की ओर बढ रहें हैं वह बहु राष्ट्रीय निगमों का पूँजीवाद है। सूचना, अर्थ और शस्त्र इसके औजार हैं। दूसरे महायुद्ध के बाद तकनीकी क्रान्ति और बहुराष्ट्रीय निगमों का विकास साथ-साथ हुआ है। ये निगम पूरी धरती को ही अपना बाजार मानते हैं। वे ज्ञान, शोध, कच्चे माल पर नियन्त्रण को किसी एक देश में केन्द्रित नहीं मानते, न ही वे किसी एक देश के प्रति निष्ठावान हो सकते हैं। आज वे निगम खाद्य सामग्री से मनोरंजन, सैन्य सामग्री से परिवहन, संचार और जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों में छाये हुये हैं। दरअसल भूमण्डलीकरण का विचार बहुराष्ट्रीय निगमों का केन्द्रीय विचार है।

इससे पहले कि हम भूमण्डलीकरण के भारतीय समाज पर पडने वाले प्ररिणामों की चर्चा करें, अन्य समाजों के अनुभवों के आधार पर बहुराष्ट्रीय निगमों के इस नये पूँजीवाद की विशेषताओं को थोडे विस्तार से समझना आवश्यक है क्योंकि तभी हम आने वाली चुनौतियों का सामना करने की आवश्यक तैयारी कर सकेंगे। इस नये पूँजीवाद में पूँजी का सघन व तीव्र सामाजीकरण हुआ है, इसने पूँजी के विचार को ही वर्चस्व में बदल दिया है। यह स्वयं पूँजीवाद और सीमित बाजार के पूँजीवादी बाजार में बदल जाने का प्रमाण है। जिस तरह औद्योगिक क्रान्ति में राष्ट्र - राज्य सम्भव किये उसी तरह तकनीकी क्रान्ति ने बहुराष्ट्रीय निगमों को और इन निगमों ने नयी आन्तर्राष्ट्रीयता को संभव किया है। बहुराष्ट्रीय निगमों ने राष्ट्र-राज्य की परिकल्पना को दो नम्बर पर धकेल दिया है। सत्ता का केन्द्र बदल गया है, वह सूचना और वितरण के क्षेत्र में चला गया है। निगम राष्ट्र-राज्यों के बीच आज एक स्वायत्त संस्थान के रूप में कार्य करते हैं। ये निगम तीन बुनियादी चीजों पर अधिकाधिक निमंत्रण कर रहे हैं — १) उत्पादन की तकनीक, २) वित्तीय पूँजी, ३) बाजार ! निगमों का सीधा सिद्धान्त है कि बाहर निवेश करो और अपने को मालामाल करो। बाजार के जरिये वे कामनाओं का साम्राज्य पैदा करते हैं और अपने विज्ञापन - ब्रान्डो के जरिये उसपर कब्जा करते हैं। उनके लिये दुनिया सहज एक शापिंग सेन्टर है और मनुष्य एक उपभोक्ता मात्र। यहीं जीवन शैलीय सांस्कृतिक साम्राज्यवाद पनपता है जिसका केन्द्र योरोप नहीं अमरीका है। टेलिविजन के माध्यम से जो सूचना साम्राज्यवाद पनपता है वह लोगों की चेतना को अपने कब्जे में कर लेता है। भूमण्डलीकरण हर पेट को रोटी और हर तन को कपड़ा देने की क्षमता पैदा करने का वादा भले ही कर ले किन्तु उस

क्षमता को पैदा करने की न प्रवृत्ति ही दिखलई पडती है और न प्रयास । यह मनुष्य के शुभ और सौंदर्य संबन्धी अवधारणाओं पर विकृतिमूलक असर जरूर डालती है ।

भारतीय समाज में भूमण्डलीकरण के प्रभाव को खुली अर्थव्यवस्था, उदारीकरण और नयी आर्थिक नीति के संदर्भ में ही परखा जा सकता है क्योंकि हमारे यहाँ ये प्रक्रियायें एक-दूसरें से जुडी हुयी हैं । नयी आर्थिक नीति का उद्देश्य अर्थव्यवस्था का भूमण्डलीकरण ही है । जैट के प्रावधानों का स्वीकार इसी का एक अंग है । विकास के लिये मुक्त बाजार के तर्क को स्वीकारने का अर्थ समाजवादी अर्थनीति और उसके साथ सामाजिक न्याय और समता के मूल्यों की तिलांजलि भी है । जहाँ एक ओर इसने लाइसेंज- परमिट राज्य को खत्म करके राजनेताओं और नौकरशाहों के व्यस्त स्वार्थों पर कुठाराघात किया है, वहीं दलितों, पिछडे वर्गों, स्त्रियों, मजदूरों, ट्रेड यूनियनों, पर्यावरण के हितों को नुकसान भी पहुँचाया है । लेकिन विरोध का स्वर इतना बलशाली नहीं हो सका कि नीतियों में मूलभूत परिवर्तन करा सके । इस साल के बजट में सामाजिक सेक्टर को अधिक राशि का आवन्टन इन हितों के संरक्षण की जरूरत की ओर इशारा भर है किन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं क्योंकि भूमि सुधार और गरीबी उन्मूलन ऐसे उद्देश्यों को ताक पर रख दिया गया है । सारा जोर सरकारी नियंत्रण से अधिकाधिक मुक्त, निर्यात केन्द्रित अर्थव्यवस्था स्थापित करने पर है । कार्यकुशलता के नाम पर मजदूरों की छटनी व प्रतिस्पर्धा को बढावा देने से लघु उद्योगों पर गाज गिरी है । रोजगार के अवसर कुछ उच्च तकनीकी / प्रबन्धन के पदों पर बढे जरूर हैं किन्तु निम्न स्तरों पर कम ही हुये हैं । साथ ही बहु राष्ट्रीय निगमों ने वेतन मान इतने बढा दिये हैं कि वे भारतीय कम्पनियों और उच्च सरकारी पदों के वेतनमानों से काफी उपर है । इस असन्तुलन के कारण भारतीय उद्योगों और सरकारी संस्थानों से प्रतिभा का पलायन प्रारम्भ हो गया है । नयी आर्थिक नीति से भारतीय समाज के उच्च वर्गों, धनी किसानों, मध्यम वर्ग के कुछ हिस्सों को लाभ अवश्य पहुँचा है किन्तु वंचित वर्गों की स्थिति में अपेक्षित सुधार नहीं हुआ है । यह तो स्पष्ट ही है कि इन आार्थिक नीतियों को विश्व बैंक तथा आन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोश के दबाव में अपनाया गया है । इन संस्थाओं में किसकी चलती है यह भी किसी से छिपा नहीं है । अत: एक स्वतंत्र राजनैतिक - आर्थिक सत्ता के रूप में भारत राष्ट्र की स्वायत्तता को पूँजी के भूमण्डलीकरण से नव उपनिवेशवाद का खतरा पैदा हो गया है । साथ ही विदेशी पूँजी की रक्षा के लिये राज्य की शक्ति का अधिकतम उपयोग भी होने लगा है जो उसकी वैधता को और भी कम कर रहा है । स्वास्थ्य और शिक्षा के क्षेत्रों को धीरे-धीरे बाजार के हवाले किया जा

रहा है जिससे निम्न वर्गों के लिये उपलब्ध सुविधायें और कम हुयी हैं ।

भूमण्डलीकरण, आधुनिकीकरण की एक विशिष्ट शैली ही है जो औद्योगीकरण, शहरीकरण और सामाजिक सत्यात्मकता पर आधारित है । यह सामुदायिक पहचान और सामाजिक स्तरीकरण के स्थान पर व्यक्ति को महत्त्व प्रदान करता है । किन्तु पश्चिम के समान हमारे देश में पूँजीवाद का विकास सामन्तवाद को नष्ट करके नहीं हुआ है। हमारे यहाँ व्यक्ति की पहचान का आधार अभी भी बहुत कुछ उसकी सामुदायिक पहचान है जो सामाजिक स्तरीकरण पर आधारित है । आर्थिक प्रगति के लिये प्रतिस्पर्धा के कारण विभिन्न समुदायों में तनाव बढा है क्योंकि सभी के लिये बराबर अवसर उपलब्ध नहीं हैं । भूमण्डलीकरण के दौर में यह तनाव टकराव की दिशा में बढ रहा है क्योंकि प्रतिस्पर्धा के वातावरण का निर्माण भूमण्डलीकरण की प्रधान विशेषता हैं। भारतीय समाज का मंडलीकरण और उभरता जातीय विद्वेष इस वैचारिक परिप्रेक्ष्य में अधिक उपयुक्त ढंग से समझा जा सकता है । क्षेत्रीय विषमताओं के कारण उभरते जातीय संघर्षों और अलग राज्य की माँगों में भी इसी कारण तेजी देखी जा सकती है।

भूमण्डलीकरण जिस विश्वव्यापी समरूपता को बढावा देता है उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप संस्कृतियों के समक्ष अपनी अस्मिता की रक्षा का प्रश्न खडा हो जाता है । अपनी पहचान बनाये रखंने के लिये उनके विरोध का स्वर किन्हीं विशेष परिस्थितियों में धार्मिक कट्टरतावाद या धार्मिक अलगाववाद को बढाने में उत्प्रेरक की भूमिका निभा सकता है । बाजार का तर्क एक ओर व्यक्ति को उसके समाज से विलग करता है तो दूसरी ओर व्यक्ति को उसकी भावनाओं से भी पृथक् करता है । सामाजिक सम्बधों का आधार केवल उपयोगिता रह जाता है । परम्परागत समाज से उखडा व्यक्ति अपनी सामाजिक पहचान में आई कमी को या तो उपभोक्ता समाग्री से जुडकर पूरी करता है या फिर ऐसे समूहों का सदस्य बनकर जो राजनेताओं द्वारा बनाये जाते हैं । भारत में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के विकास में इसकी भूमिका देखी जा सकती है । लेकिन जब यह हिंसक रूढिवाद में विकसित होकर अर्थव्यवस्था को हानि पहुँचाने लगता है तो भूमण्डलीकरण इसके विरोध में खडा हो जाता है । भूमण्डलीकरण के लिये अनिवासी भारतीयों की उपयोगिता और विदेशी पूँजी की जरूरत रूढिवाद को पूरी तरह हावी नहीं होने देती ।

भूमण्डलीकरण के लिये जिस विश्व बाजार की जरूरत होती है, उपग्रह क्रान्ति और सूचना-क्रान्ति उसकी सारथी की भूमिका अदा करती है । सूचना-क्रान्ति के सांस्कृतिक प्रभाव इतने चिन्ताजनक हैं कि कई विद्वानों ने इसे नव उपनिवेशवाद या

सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की संज्ञा दी है। पश्चिय की आर्थिक और तकनीकी सहायता अपने साथ वहाँ की जीवन शैली और मूल्य भी ला रही है जिसने उपभोक्ता संस्कृति को जन्म देकर हमारी सांस्कृतिक अस्मिता के सम्मुख प्रश्नचिन्ह लगा दिया है। आज अर्थलाभ और मौन लिप्सा ने सारे समाज को आक्रान्त कर लिया है। व्यक्ति केन्द्रिकता बढी है, सामाजिक सरोकार घटा है। अंकुशहीन भोगवाद पनप रहा है।

जन संचार के माध्यम भी रात दिन भोगवादी, आत्मकेन्द्रित जीवन दृष्टि के प्रचार-प्रसार में लगे हैं। इस जीवन शैली का आधार उपभोक्तावाद है जिनमें सुख की व्याख्या परिग्रह और उपभोग के मानकों से तय होती है। उपभोग के साथ-साथ इसमें प्रतिस्पर्धा की भावना भी जुडी रहती है। आर्थिक सफलता और समृद्धि की होड में व्यक्ति लक्ष्यों और साधनों का मूल्यांकन करना भी भूल जाता है, नतीजा सामाजिक नैतिकता के अवमूल्यन के रूप में सामने आता है। आज अधिकांश उच्च और मध्यम वर्ग पर उपभोक्ता संस्कृति का शिकंजा कसता जा रहा है, इनका युवा वर्ग तो पहले से ही इसकी गिरफ्त में है। मुनाफा कमाने के उद्देश्य से मनोरंजन के नाम पर जिस लुभावनी दुनिया की सैर विदेशी केबिल नेटवर्क टेलिविजन के पर्देपर कराता है वह भारत ऐसे तीसरी दुनियां के दर्शकों के लिये स्वप्न मात्र है। कटु वास्तविकता की ठोकर से जब यह स्वप्न टूटता है तो हताश, अभावबोध, पराजय बोध, हिंसा और असामाजिक प्रवृत्तियों का जन्म होता है। विडम्बना यह है कि हम इसे ही आधुनिकता मानकर बिना तर्क अपना रहे हैं। छद्म भारतीयता पर हमने छद्म आधुनिकता का लवादा ओढ लिया है। हमने आधुनिकता के आधार मूल्य - तार्किक विवेक, परानुभूति, सामाजिक गतिशीलता और सक्रिय सहभागिता– नहीं अपनाये, हम उनके बाह्य उपभोक्तावादी लक्षणों में उलझ कर रह गये हैं। एक ओर पश्चिमी जीवन शैली का सम्मोहन है तो दूसरी ओर अपनी सांस्कृतिक अस्मिता का आग्रह है जिसने हमारी स्थिति त्रिशंकु जैसी कर दी है और हम अनिर्णय के दलदल में फँसकर दिशाबोध खो बैठे हैं।

इस सांस्कृतिक हमले का प्रभाव विशेष रूप से तीन क्षेत्रों में देखा जा सकता है। पहला है पर्यावरण और प्रकृति का क्षेत्र जो नई तकनीक और उपभोक्ता वाद के कारण खतरे में है। सारी मानवजाति ही इस भोगवादी जीवन शैली से आक्रान्त है क्योंकि अधिक समय तक इसे अपनाये रखने के लिये आवश्यक भू-जैविक सम्पदा इस पृथ्वीपर उपलब्ध नहीं है। प्राकृतिक संसाधनों के अविवेकपूर्ण दोहन और पर्यावरण के संकट से भारत भी अछूता नहीं है। दूसरा है जीवन शैली का वर्चस्ववाद जो हमारी सांस्कृतिक विविधता के लिये चुनौती है। तीसरा है चेतन और अचेतन का क्षेत्र। पहले दो क्षेत्रों पर अधिकार करने लेने के बाद अब वह हमारी जरूरतों, कामनाओं, इच्छाओं

और सपनों को आक्रान्त कर रहा है । मनुष्य का अपनी देह पर, चेतना और निर्णय पर स्वामित्व छूटता जा रहा है । निर्णय की स्वतंत्रता के क्षेत्र अजाने ही शक्तिशाली बाजार की चपेट में आते जा रहे हैं ।

समकालीन सांस्कृतिक नव उपनिवेशवाद पिछले तरीकों से कई मायनों में भिन्न है । यह सहज अभिजात्यों को बदलने पर नहीं बल्कि आम नागरिकों पर कब्जा करने पर केन्द्रित है । जन संचार माध्यम विशेषकर टेलिविजन ने घरेलू जिन्दगी और क्रिया कलापों पर भी हमला बोला है । इनका राजनैतिक उद्देश्य जनता को उसकी सांस्कृतिक जडों और उसकी एकजुटता की परम्परा से काटकर लोगों को उनके परम्परागत वर्ग से और उनके सामाजिक सम्बधों से अलगाना, टुकडों में बांटना और हर व्यक्ति को दूसरे से अलग कर देना है जिससे उनकी सामूहिक प्रतिक्रिया को अपंग किया जा सके। प्रतिरोध आन्दोलनों की शक्ति, क्षमता, व्यापकता और प्रभाव में निरन्तर ऱ्हास का हमारा अनुभव इसकी पुष्टि करता है ।

ज्ञान और संस्कृति के क्षेत्र में भूमण्डलीकरण ने एक उपद्रव सा खडा कर दिया है । न केवल उत्पादन का क्षेत्र उपभोक्ता क्षेत्र से कुछ पीछे चला गया है अपितु विचारधारा और राजनीति, धर्म और दर्शन के वर्चस्व से अलग एक स्वतंत्र विश्व बाजार निर्णायक हो उठा है । हमारे सांस्कृतिक अनुभव और औजार व्यर्थ हो गये हैं । पूँजी के अबाध प्रवेश से संस्कृति की महानता, पवित्रता और भव्यता नष्ट हो रही है । चोरी और नकल का बाजार गर्म है, मौलिकता और रचनात्मकता को कोई नहीं पूछता। संस्कृति अब उद्योग बन चुकी है । वह बाजार में बिकने के लिये ही बनती है । संस्कृति कर्म का हेतु अब पैसा है । यह पहले भी था लेकिन कम था । अब सर्वत्र है । पूँजी और संस्कृति के नये बनते सम्बधों पर अभी हमारे देश में गहराई से विचार होना बाकी है । इसकी चर्चा में भावुक आवेश ज्यादा है, वैचारिक आधार कम । आज हमारे सम्मुख अवधारणाओं का संकट है । एक ओर बिना जांच-पडताल के पश्चिम से उधार लेने वाले आधुनिकीकरण के व्याख्याकार है जो पारम्परिक संस्कृति को प्रगति में अवरोधक मानकर उसमें निरन्तर परिवर्तन की माँग करते हैं, तो दूसरी ओर सुदूर अतीत की मृतप्राय अवधारणाओं से चिपके रहने वाले संस्कृति वादियों का ऐसा समूह है जो वर्तमान और भविष्य की सभी समर्स्याओं का हल धर्मग्रंथो में पा लेने के लिये प्रयत्नशील है । पहली दृष्टि से हमे नव-औपनिवेशिक मानसिक दासता का खतरा है तो दूसरी से इतिहास के खंडहरों में खो जाने का डर । दोनों ही प्रवृत्तियाँ सांस्कृतिक नवोदय की सम्भावना से इन्कार करती हैं ।

भारतीय समाज के विभिन्न पक्षों पर भूमण्डलीकरण और उससे जुडी प्रक्रियाओं के प्रभाव के उपरोक्त विवेचन से यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या भूमण्डलीकरण अनिवार्य है? क्या आधुनिकीकरण से उत्पन्न समस्याओं का उत्तर भूमण्डलीकरण के पास है ? आर्थिक विकास का जो पूँजीवादी माडल हमने स्वीकार किया है, उसमें भूमण्डलीकरण अनिवार्य है । यह सच है कि भूमण्डलीकरण ने आर्थिक उदारवाद को बढावा देकर आर्थिक गैर-बराबरी, जातिगत भेदों, पितृसत्ता एवं रूढिवाद को बढावा देने में अपनी भूमिका अदा की है वही उसके अन्दर इन प्रवृत्तियों को कुछ सीमा तक रोकने की भी क्षमता है, जरूरत उसे दिशा देने की है । कोई भी समाज दिशाबोध के लिये पहले अपनी संस्कृति की ओर ताकता है किन्तु वर्तमान सांस्कृतिक संकट से उबरे बिना यह सम्भव नहीं । इससें पहले कि हम इस संकट से उबरने के सवाल पर विचार करें इस असुविधापूर्ण प्रश्न से टकराना भी जरूरी है कि क्या हम उपभोक्तावादी संस्कृति पर आक्रमण उस अर्थव्यवस्था के समर्थन के साथ कर सकते हैं जो इस संस्कृति को बढावा देती है ? खुली अर्थ व्यवस्था के रूप में पूँजीवाद का जो माडल हमने स्वीकार किया है उसका सांस्कृतिक उद्देश्य उपभोग ही है । सभी संस्कृतियों में सभी मनुष्य उपभोग करते हैं । इसलिये अतिशय उपभोग की आलोचना में पवित्रतावाद की ओर झुकाव की चूक होने का खतरा रहता है जो उपभोक्तावाद को एक तरह की नैतिक भूल मानता है, न कि पूँजीवादी उत्पादन से गहराई में जुडी सांस्कृतिक व्यवहार की वह प्रवृत्ति जिसमें हम सभी भागीदार हैं । निहितार्थ यह है कि उपभोक्तावाद का विवेचन मानवीय सन्तुष्टि पर केन्द्रित होना चाहिये न कि वैराग्य पर । एक संस्कृति की अच्छाई का पैमाना वास्तविक आवश्यकताओं की पूर्ति करने की उसकी क्षमता से सम्बंधित होना चाहिये । इस दृष्टि से एक सम्पन्न संस्कृति एक साधनहिन संस्कृति से कम स्वार्थी होगी । अत: आध्यात्मिक सन्तुष्टि की तुलना में भौतिक के प्रति नैतिक सन्देह उचित नहीं जान पडता। यदी यह प्रश्न भी विचारणीय है कि पश्चिम में भी सदियों तक आध्यात्मिक दर्शन का बोलबाला रहने के बाद क्यों धीरे-धीरे वहाँ भौतिकवादी संस्कृति हावी होती गई? क्यों 'आध्यात्मिक पूर्व' का सूर्य भारत सदियों तक अंधेरे में डूबा रहा? क्या आज हम विज्ञान और प्रोद्योगिकी को नकार कर अपने सांस्कृतिक उन्मेष की कल्पना कर सकते हैं ? क्या उपभोक्ता संस्कृति से बचने के लिये संचार क्रान्ति से मुँह मोडा जा सकता है ? क्या लोकतंत्र, सामाजिक न्याय और स्वतंत्रता की अवधारणायें जो हमने दूसरी संस्कृतियों से ली हैं, को छोडकर हम आधुनिक युग की चुनौतियों का सामना ठीक से कर पायेंगे?

सच तो यह है कि स्वर्णिम अतीत की हमारी परिकल्पना झूठी है और पश्चिम से

आयातित सबकुछ अपनाने योग्य नहीं है। धर्म-दर्शन के ग्रन्थों से चुने गये आदर्शों से बनाया गया चित्र ही भारतीय संस्कृति का वास्तविक रूप नहीं है और विदेशी केबल नेटवर्क द्वारा दिखाई जानेवाली पश्चिम की छवि वहाँ की संस्कृति के उत्कृष्ट पक्ष का प्रतिनिधित्व नहीं करती। संस्कृति और बाजार के उभरते सम्बंधों को ठीक से समझ न पाने के कारण हम परिवर्तन की चुनौतियों का सामना ठीक से नहीं कर पा रहे हैं। पुरानी बैसाखियों के सहारे यह सम्भव नहीं है। आज जरूरत पुनर्व्याख्या की नहीं, नवीन सर्जन की है जिसकी मट्टी में पुरातन और आधुनिक दोनों को अग्नि परीक्षा से गुजरना होगा। यह काम उस सांस्कृतिक पुनर्जागरण के द्वारा किया जाना चाहिये जो अतीत से चली आ रही परम्परा में से श्रेष्ठ, सद् और सार्वभौम को चुन लेता है तथा असंगत और अनावश्यक को छांटकर अलग कर देता है। यह काम उस नवजागरण द्वारा किया जाना चाहिये जो दुनिया के किसी कोने से आते व्यक्ति मात्र के पक्षधर सार्वभौम सोंच को आत्मसात कर उसे मानवीय संस्कृति का अंग बना देना चाहता है। तभी एक वैकल्पिक संस्कृति का निर्माण होगा जो व्यक्ति को हर स्तर पर उसकी पहचान दे और उस पहचान को सुरक्षा दे। विकल्प का स्वरूप और दिशा निर्धारण वह सांस्कृतिक आन्दोलन ही तय करेगा जिसे सांस्कृतिक पुनर्जागरण जन्म देगा।

अब सवाल उठता है कि सांस्कृतिक पुनर्जागरण कैसे हो ? यहाँ यह जानना भी जरूरी है कि १९वी शताब्दी में जिस नवजागरण की शुरुआत हुयी थी, वह रुक क्यों गई ? दरअसल, भारत की आजादी ने राजनैतिक प्रश्नों को प्रधान बना दिया और सामाजिक - सांस्कृतिक सवाल गौण हो गये। आजादी के बाद हम सोचते थे कि विकास के जरिये सांस्कृतिक चेतना अपने आप विकसित हो जायेगी। यह हमारा भ्रम था। इसके अलावा भी हमने जगत्गुरू होने का और उच्च आदर्शों का अपने जीवन में रचा - बसा होने का भ्रम पाल रखा है। इनसे मुक्त हुये बिना हम वैकल्पिक संस्कृति के निर्माण में नहीं जुट पायेंगे। इस कार्य में सहायक होंगे भारतीय संस्कृति के वे तत्त्व जो उसकी दीर्घायु के लिये कमोवेश जिम्मेदार हैं, जैसे नयी स्थितियों से अनुकूलन की क्षमता, विचार विश्वास की स्वतंत्रता तथा विरोधी विचार के प्रति सहनशीलता और स्वतंत्र चिन्तन परम्परा। लेकिन यह सब करेगा कौन ? जनता से कटे पश्चिम परस्त बुद्धिजीवी या राज्य का सांस्कृतिक नीति के रूप में हस्तक्षेप ? जन-संस्कृति का पुनर्निर्माण जन की भागीदारी के बिना कैसे सम्भव है ? निश्चय ही सांस्कृतिक उत्सवों के रूप में नाच-गाने, चित्रकला-मूर्तिकला, कविता-कहानी के मेले लगाकर यह काम नहीं होने का। संस्कृति के क्षेत्र में राज्य की भूमिका केवल उत्प्रेरक की ही हो सकती है। अतः यह चुनौती सच्चे संस्कृति कर्मियों और बुद्धिजीवियों को ही उठानी होगी।

उसे सही इतिहास-बोध से लैस होकर परम्परा का मूल्यांकन करना होगा और आधुनिक युग की चुनौतियों का सामना करने के लिये विदेशी पूँजी की ही तरह पश्चिमी मूल्यों को अपनाने का मानदण्ड बनाना होगा। यह काम नकल से नहीं, स्वजातीय सृजनशीलता के विकास से ही सम्भव होगा। अन्यथा हम मानसिक दासता के अन्धेरे में डूब जायेंगे।

५३ अशराफ टोला
हरदोई (उ. प्र.) २४१ ००१

डॉ. आलोक टण्डन

अभिज्ञान-शाकुन्तल में भाषा की विविधार्थकता

तर्कशास्त्र तथा काव्य में भाषा

तर्कशास्त्र में भाषा के प्रत्ययों, शब्दों, वाक्यों आदि की आवश्यकतानुसार कृत्रिम रूप से भी एकार्थक बनाने का प्रयत्न किया जाता है। किन्तु इसके विपरीत काव्य में भाषा को प्रायः विविधार्थक बनाकर उसको समृद्ध किया जाता है।

तर्कशास्त्र में भाषा की एकार्थकता से विचार की प्रक्रिया को सरल तथा अन्ततोगत्वा यान्त्रिक किया जा सकता है। अर्थात् प्रत्येक चरण में सोचने की आवश्यकता नहीं रहती है, केवल नियम लगते रहने से ही निष्कर्ष निकल आता है।

प्राचीन काल में जब यन्त्रों का इतना प्रचलन नहीं था, अभिव्यक्ति की विधियों को तीन प्रकार से विभाजित किया गया, प्रभु, मित्र तथा कांतासम्मित जिसमें काव्य को कांतासम्मित माना गया है। तर्कशास्त्र की विधि को शामिल करने के लिए उपर्युक्त विधियों में यन्त्र-सम्मित जोडना पडेगा।

काव्य की भाषा को कांता-सम्मित कहा जाता है क्योंकि वह प्रिय पत्नी की भाँति समझाती है। तर्कशास्त्र को यन्त्रसम्मित कहा जा सकता है क्योंकि यह विचार का यान्त्रिक साधन है। यह समझाने की क्रिया को यथासाध्य संक्षेप में करता है तथा भावनाओं का इसमें कोई स्थान नहीं होता। यह भी कहा गया है कि तर्कशास्त्र का उद्देश्य सोचने की आवश्यकता को दूर करना है। जिस प्रकार आजकल गणना-यन्त्रों ने गिनती की आवश्यकता को दूर कर दिया है। इसके विपरीत काव्य में जहाँ भाषा का प्रयोग भावनाओं को पुष्ट करने के लिए होता है, वहाँ निकालने की व्यग्रता नहीं होती, अपितु रस-संचार का प्रयत्न होता है।

जब कैदियों अथवा विद्यार्थियों की हाजिरी क्रमांक से ली जाती है तो वह 'कोई एक' होता है। रेल टिकट की खिडकी के आदमी के लिए टिकट का ग्राहक और भी अधिक 'कोई' होता है। उसको, व्यक्ति कौन है, किस प्रकार का है, इसमें अभिरुचि नहीं होती। इन परिस्थितियों में व्यक्ति का व्यक्तित्व भीड में खो जाता है। लेकिन सहयोग, मैत्री अथवा प्रेम के क्षेत्र में 'कोई है' जान लेने से काम नहीं चलता है। वहाँ व्यक्तित्व ही रुचि का केन्द्र होता है और इनमें भावनाओं की प्रधानता

होती है ।

काव्य में जिन भावनाओं को व्यक्त किया जाता है, उनके इतने प्रकार तथा रंग होते हैं कि उनको भाषा के कतिपय शब्दों के सामान्य प्रयोग से व्यक्त नहीं किया जा सकता । इसके लिए भाषा के प्रयोग में नवीनता तथा उक्ति-वैचित्र्य की आवश्यकता होती है, स्थान विशेष में भाषा की विविधार्थकता से भी यह प्रभाव बनता है ।

इसी अर्थ में अभिनवगुप्त ने इसके सन्दर्भ में 'चर्वणा' शब्द का प्रयोग किया है । यदि प्रचलित पद्धति के अनुसार भोजन सम्बन्धी उपमाएँ मान्य हो तो कहा जा सकता है कि काव्य में शब्दार्थ का मिश्रण दवाई की बूटी की तरह केवल उपयोग के लिए निगल जाने की वस्तु नहीं है, बल्कि दावत के भोजन की तरह चर्व, चोस्य, लेह्य, पेय होना चाहिए । अभिनवगुप्त के शब्दों में, 'काव्यात्मक-शब्दनिपीडनेनैव चच्चर्वणा दृश्यते । दृश्यते हि तदेव काव्यं पुन:पुन: पठंश्चर्व्यमाणश्च सहृदयो लोक: न तु काव्यस्य तत्र, 'उपादायापि ये हेया' इति न्यायेन कृतप्रतीतिकस्यानुपयोग ऐवेति शब्दस्यापीह ध्वननव्यापार:[१] ।'

यहाँ अभिनवगुप्त जो काव्य के पुन: पुन: पाठ तथा चर्वण की बात कहते हैं, यह उसी प्रकार है जैसे संगीत में एक पंक्ति को एक ही बार नहीं गाया जाता है बल्कि दोहराया जाता है । जैसे संगीत में इस दोहराने में कुछ ध्वनिवैचित्र्य रखा जाता है उसी प्रकार काव्य में विविधार्थकता होने पर विचित्रता के कारण चर्वणा में अधिक सरसता आ जाती है ।

विविधार्थकता भी मोटे तौर से दो प्रकार की हो सकती है, केवल शाब्दिक यमक अलंकार की तरह जैसे 'तमसा के रहते तमसा को पार करो' अथवा शब्दार्थ उपमात्मक जैसे 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' नाम में तथा इसी नाटक में हस्तिनापुर के हस्ती में, इस प्रकार विविधार्थकता जितनी अधिक सार्थक और व्यापक होगी उतना ही उसमें अनुरंजन संभव होगा । आनन्दवर्धन[२] के अनुसार केवल शाब्दिक 'यमक' यदि कृत्रिम हो तो वह रसनिष्पत्ति में विशेषरूप में श्रृंगाररस में बाधक ही होगा । 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में शाब्दिक यमकों के दृष्टान्त को यदि लिया जाय तो हस्तिनापुर के राजा का हस्तियूथ के पति के साथ तुलना अधिक रोचक है । सम्भवत: 'हस्तिनापुर' शब्द भी हाथियों से ही बना है, फिर भी उसका नामोल्लेख इस प्रसंग में नहीं किया गया, उसको अपेक्षित मात्र रखा गया ।[३] दूसरे अंक में 'त्रिकाल' और 'त्रिया' में यमक और अधिक कृत्रिम है। संभव है कि इस प्रसंग में 'राघवभट्ट' ने जिन विषयों में राजा तथा हाथी के

मेल को दिखाया है, वह कालिदास से अभिप्रेत न हो ।

द्वितीय अंक में राजा की तुलना वनहस्थी से करते हुए सेनापति कहते हैं अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्व' इस उक्ति में राघवभट्ट ने धनुर्ज्या अंश के दो सम्भव अर्थों को प्रदर्शित किया है, क्योंकि प्रियाल वृक्ष को भी 'धनु' कहा जाता है और धरणि को भी 'ज्या' कहा गया है । इसलिए राजा के पक्ष में इसका अर्थ हुआ कि 'धनुष की डोरी खींचने से कठोर हाथ' और हाथी के पक्ष में प्रियाल वृक्ष की जड को जमीन पर घिसने से कठोर सूँड । उल्लेखनीय हैं कि 'हाथी' नाम भी सूँड को हाथ की तरह मान कर 'हाथ-युक्त' अर्थ में पडा । 'करी' शब्द भी इसी अर्थ वाला है । इसके पूर्व ही इस अंक में दुष्यंत शकुन्तला को 'प्रिया' कहते हैं जिसका 'प्रियाल' से ध्वनि सादृश्य है ।

सहवसतिमुपेत्य यैः प्रियायाः...... २, ३

यह भी ध्यान देने योग्य है कि दुष्यन्त के प्रत्याख्यान से व्यथित शकुन्तला विलाप करती है कि वह मुख में मधु एवं हृदय में विष भरे पौरव (राजा) के हाथ में पड गयी है पुरुवंशप्रत्ययों न मुखमद्योर्हृदयस्ति विषस्य हस्ताभ्याँ शमुपगता । ५/२३

अभिज्ञान शाकुन्तलम् नाम में विविधार्थ बोध :

अभिज्ञान शाकुन्तल नाम में ही विविधार्थक बोध है, जिसको अभी तक अध्ययन का विषय नहीं बनाया गया है । इस नाम के भी तीन अर्थ होते हैं—

१. शकुन्तला का परिचायक चिह्न - अंगुठी
२. शकुन्तला का परिचायक पुत्र 'सर्वदमन' (भरत)
३. शकुन्तला का संसार के विषय में सच्ची अवधारणा या पहचान । उसको सांसारिक जटिलता और तिक्तता का अभिज्ञान या सम्यक् बोध ।

इन अर्थों की व्युत्पत्ति इस विधि से हो सकती है । अभिज्ञान (अभि + ज्ञान) का अर्थ सम्यक् अथवा ठीक जानकारी है । इससे रामायण में प्रयुक्त पहचान-चिह्न के लिए 'अभिज्ञायते अनेन इति अभिज्ञानम् ' इस प्रकार भावे ल्युट् से अंगूठी के अर्थ में अभिज्ञानम् प्राप्त करते हैं । लेकिन अंगूठी को परिचयन के अर्थ में नहीं लिया जा सकता है । वह केवल परिस्थिति विशेष में परिचायक चिह्न बन सकता था। वह भी न बन पाया । जैसा कि शकुन्तला स्वयं कहती है—

विषमं कृतमनेन यत्तदार्यपुत्रस्य प्रत्ययकाले दुर्लभमासीत् । ७.२५

उसमें शकुन्तला का नाम भी नहीं है । और संभवतः शकुन्तला की ऊँगली में ठीक बैठती भी नहीं थी, ढीली रही, इसलिए शची-तीर्थ में जल में गिर गयी । इसलिए अंगूठी के अर्थ में भावे ल्युट् से अभिज्ञानम् नहीं होगा ।[४] किन्तु भरत के अर्थ में हो

सकता है क्योंकि पितृ-परित्यक्त वह शकुन्तला का वास्तविक पुत्र है, और प्राथमिक रूप से उसी का पुत्र बन गया है, जैसा कि इस घटना से व्यक्त है कि जब भरत दुष्यन्त के बारे में माँ से पूछता है तो उत्तर में शकुन्तला कहती है, 'अपने भाग्य से पूछ!'

जब धीवर से अंगूठी मिलने पर राजा को तपस्वियों, गौतमी जी और शकुन्तला के कहे हुए वाक्यों की यथार्थता, और अपने उस प्रसंग में कही उक्तियों का मिथ्यात्व, तथा अपने आचरण की निन्दनीयता का ज्ञान होता है, तब भी अंगूठी का कार्य परिस्थितिजन्य (circumstantial) साक्ष्य के रूप में ही है । वह साक्षात् साक्ष्य के रूप में नहीं है, क्योंकि उस पर राजा का ही नाम है, और शची-तीर्थ उसी के निवास-स्थान के निकट है । इसलिए वह राजा के हाथ से भी गिर सकती थी । केवल तपस्वियों आदि की बातें और शकुन्तला की उसको दिखाने की व्यर्थ चेष्टा के प्रसंग में ही उसका शकुन्तला की अंगुली से गिरना सिद्ध होता है ।

लेकिन सर्वदमन चक्रवर्ती लक्षणयुक्त शकुन्तला का पुत्र है, राजा के साथ उसका विलक्षण रूप से आकृतिगत मेल है, जिससे वह साक्षात् परिचायक बनता है। इसी अर्थ में सप्तम अंक में राजा शकुन्तला से पुनर्मिलन को राहुमुक्त दिमाग से वास्तविक जानकारी के साथ मिलन कहते हैं, जिसका कि साधारणतः उल्टा अर्थ लगाया जाता है ।

इस प्रकार भरत को शकुन्तला के लिए सतत परिचायक समझकर 'पहचान' के अर्थ में अभिज्ञानम् में भावे ल्युट् समझा जा सकता है ।

तीसरे अर्थ में भी यह व्युत्पत्ति सम्भव है, क्योंकि शकुन्तला को संसार का परिचय क्रमशः होता ही रहता है । जिस बलवती दुराशा को लेकर वह आश्रम की मर्यादा का उल्लंघन कर राजप्रासाद में गयी थी, उसमें निराश होकर, उसे फिर आश्रम में शरण लेनी पडी । इस प्रकार उसे परिचय हुआ कि जब आश्रम 'अहेतुक करुणामय है', तो राजप्रासाद 'सहेतुक भी करुणामय नहीं है' । राजपुरोहित के 'लघुगुरु' के निर्णय से यह स्पष्ट झलकता है : यदि शकुन्तला का पुत्र चक्रवर्ती लक्षण युक्त होगा तब तो वह राजनिवास में शरण पायगी, अन्यथा उसे कण्व आश्रम में ही लौटना होगा । निःसन्तान दुष्यन्त के सम्भव गर्भवती पत्नी के लिए यह व्यवस्था थी ।

पहचान या जानकारी शकुन्तला से संबंधित, इस अर्थ में 'शकुन्तलायाः' से तद्धित् के 'तस्येदम् सूत्र' से शाकुन्तलम् हुआ । शकुन्तलायाः इदम्-शाकुन्तलम् । अभिज्ञानम् के विशेषण के रूप में भी 'शाकुन्तलम्' बनता है । इस प्रकार कर्म-धारय से 'अभिज्ञान

शाकुन्तलम्' बना।

डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी ने लिखा है कि 'अभिज्ञान' शब्द काश्मीर प्रत्यभिज्ञा दर्शन से नहीं लिया गया है, क्योंकि उक्त दर्शन कालिदास के बाद प्रचलित हुआ। इस शब्द को सम्भवत: नाटककार ने वाल्मीकि रामायण से लिया, जहाँ 'पहचान चिह्न' के अर्थ में ही इस शब्द का प्रयोग कई बार हुआ है। लेकिन काश्मीर प्रत्यभिज्ञा दर्शन का उदय जब भी माना जाय, उस दर्शन के ही अर्थ में 'प्रत्यभिज्ञा' शब्द का प्रयोग अभिज्ञान शाकुन्तलम् में पाया जाता है, क्योंकि सप्तम अंक में दुष्यन्त कहते हैं—

'यदहमिदानीं त्वया प्रत्यभिज्ञातमात्मानं पश्यामि।'

कालिदास के कलात्मक चमत्कार का द्योतक यह है कि 'प्रत्यभिज्ञा' शब्द का तभी प्रयोग होता है जब उपर्युक्त द्वितीय अर्थ उद्घाटित होता है। अर्थात् जब स्पष्ट हो जाता है कि वास्तविक परिचायक सर्वदमन है।

प्रथम तथा दूसरे अर्थ के बीच अभिधा तथा अजहत्स्वार्था लक्षणा का संबंध है, क्योंकि पहचान के साधन के रूप में अंगूठी जब ठीक नहीं बैठती तो भरत को ग्रहण किया जाता है। इन दोनों अर्थों में संबंध निश्चित क्रम में बैठता है। किन्तु तीसरे अर्थ में जब तात्पर्य उलट जाता है तो व्यंग की तरह होता है। यहाँ संसार[५] (दुष्यन्त) को शकुन्तला की पहचान के स्थान पर शकुन्तला के संसार (दुष्यन्त) की पहचान हो जाती है[६]।

दुष्यन्त के उपर्युक्त उक्ति का अर्थ प्राय: इस प्रकार लगाया जाता है- 'मेरी' पूर्वकृत क्रूरता का भी अच्छा परिणाम हुआ क्योंकि तुम्हारे (शकुन्तला) द्वारा मैं 'पहचान लिया गया।' इस कथन का साक्षात् अर्थ इस प्रकार कदापि नहीं हो सकता है, क्योंकि इसके ठीक पहले ही दिखाया गया है शकुन्तला दुष्यन्त को नहीं पहचानती है, और इस अवसर पर यह उक्ति निरर्थक और भद्दी हो जाती है।

इस कथन का वास्तविक अर्थ है कि "मेरे द्वारा की गयी क्रूरता का अच्छा ही फल हुआ क्योंकि मैं अपने को तुमसे भलीभाँति पहचाना हुआ पाता हूँ।" इसका इंगित राजपुरोहित के इस विधान की ओर है कि चक्रवर्ती लक्षण-युक्त पुत्र होने पर शकुन्तला को नि:सन्देह दुष्यन्त की पत्नी के रूप में पहचाना जायगा। यद्यपि यह उक्ति भी कुछ अहंकारपूर्ण है फिर भी यह संभव है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि वास्तविक 'अभिज्ञा' (भरत) सर्वदमन है। क्योंकि इस उक्ति के ठीक पहले सर्वदमन के माध्यम तथा उसके द्वारा ही शकुन्तला का पता दुष्यन्त को मिलता है।

इस कथन में प्रच्छन्न रूप से यह अर्थ भी ध्वनित होता है कि मेरे द्वारा क्रूरता का फल अच्छा ही हुआ कि तुमने मेरे सच्चे रूप को जान लिया ।

संस्कृत साहित्य में इस प्रकार का अर्थ जहाँ व्यक्ति कहना कुछ चाहता है, लेकिन कथन में दूसरा ही सत्य निकल पडता है, अन्यत्र भी मिलता है । जब गीता में दुर्योधन कहता है –

अपर्याप्तम् तदास्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥

कुछ टीकाकारों ने अपर्याप्त का अर्थ आवश्यकता से अधिक तथा कुछ ने आवश्यकता से कम लिया है । वास्तव में यह दोनों अर्थ रखता है, दुर्योधन आवश्यकता से अधिक के अर्थ से शुरू करते हैं, लेकिन 'भीम' तक पहुँचते-पहुँचते उनका अपना ही भरोसा शिथिल होकर 'आवश्यकता से कम' के अर्थ की ओर चला जाता है, इसलिए बाद के श्लोक में वह सब मिल के भीष्म की रक्षा करने की बात करते हैं ।

यहाँ 'प्रत्यभिज्ञातात्मानं' के अर्थ के द्वारा 'अभिज्ञान' के द्व्यर्थ की ओर भी इंगित किया गया है ।

'शाकुन्तल' के द्व्यर्थ की भी स्पष्ट सूचना नाटक के सप्तम अंक में दी गयी है। जब तापसी बालक सर्वदमन से कहती है, 'सर्वदमन, शकुन्तलावण्यं प्रेक्षस्व' तो बालक कहता है, 'कुत्र वा मम माता ? 'यहाँ बालक शाब्दिक सादृश्य से जैसे भ्रम' में पड जाता है, उसी प्रकार कहीं सहृदय 'अभिज्ञान शाकुंतल' के मोटे अर्थ, जिसको मान्यता मिली हुई है, से भ्रमित न हो, गहराई से वास्तविक अर्थ को समझे, इस प्रकार का इंगित है ।

'अभिज्ञान' के जो दो अर्थ यहाँ बताये गये हैं, पहचान का चिह्न अथवा साधन तथा 'पहचान की क्रिया' उसकी सूचना रामायण में भी मिलती है, उनसे प्रतीत होता है कि पहचान की क्रिया के अर्थ में 'प्रत्यभिज्ञा' का यदि उस समय प्रचलन नहीं हुआ था तो भी उसकी तैयारी थी । रामायण के इन पदों से यह स्पष्ट है –

आत्मना पञ्चमं मां हि दृष्ट्वा शैलतले स्थितम् ।
उत्तरीयं तया त्यक्तं शुभान्याभरणानि च ॥
तान्मस्माभिर्गृहीतानि निहितनि च राघव ।
आनयिष्यामहं तानि प्रत्यभिज्ञातुमर्हसि ॥ (कि. ६/१०-११)

(टेढे अंश से पहचानने की क्रिया सूचित होती है ।)

अभिज्ञानं कुरुष्व त्वमात्मनो वानरेश्वर ।
येन त्वामभिजानीयां द्वन्द्वयुद्धमुपागतम् ।। (कि. १२, ३८)

(टेढे अंश से पहचान चिह्न सूचित होता है ।)

अब प्रश्न उठता है कि शकुन्तला को किस चीज का 'अभिज्ञान' या पहचान हुआ । उसको अंग्रेजी कहावत से संक्षेप में सूचित किया जा सकता है कि 'सभी चमकने वाली चीजें सोना नहीं होती ।' जिस राजकीय परिवेश के लोभ में शकुन्तला ने आश्रम की मर्यादा का उल्लंघन किया और प्रियम्वदा द्वारा प्रत्याख्यात अंगूठी को ग्रहण कर लिया, उसी राजमहल में अपमानित होकर जब उसे फिर आश्रम में जाना पडा तो उसको यह अभिज्ञान हुआ कि मीठी बातें तथा अंगूठी आदि का उपहार ही सब कुछ नहीं है, हृदय की सच्ची भावना चाहिए । इसलिए जब राजा फिर वही अंगूठी शकुन्तला को देना चाहे तो उसे लेने से इन्कार करते हुये कहती है कि मैं अब इस पर विश्वास नहीं करती । नास्य विश्वसिमि ।

जब कण्व उसी की भलाई के लिए अन्यत्र तपस्या को गये थे और अतिथियों के सत्कार का भार उसे सौंप दिया था तब उस स्थिति में तपस्वी के आगमन की सूचना की अवहेलना करना उसके लिए पूर्णतः अनुचित था । वह स्पष्टतः ही तपोभूमि की उपेक्षा करके राजभवन के स्वप्नों में खोई रही । ऐसी अवस्था में दुर्वासा का अभिशाप एक प्रकार से आश्रम-भूमि के प्रतिवादस्वरूप प्रतीत होता है । जो प्रतिवाद आश्रमवासी अति स्नेह के कारण न कर पाते थे, दुर्वासा ने किया । लेकिन प्रतिवाद आश्रमवासियों के मन में रहा, जो पंचम अंक में स्पष्ट होता है, जब गौतमी जी बहुत दुख से कहती है —

आर्य किमपि वस्तुकामाऽस्मि । न मे वचनावसरोऽस्ति । कथमिति ।
नापेक्षितो गुरुजनोऽनया त्वया पृष्टो न बन्धुजनः
एकैकस्य च चरिते भणामि किमेकैकम् ।।

और शार्ङ्गरव क्रोध से कहते हैं ।

"इत्थमात्मकृतमप्रतिहतंचापलं दहति ।"

इसी के फलस्वरूप शकुन्तला को राजभवन में रोकर कहना पडा था -

सुष्ठु तावदत्र स्वच्छन्दचारिणी कृतास्मि । याऽहमस्य पुरुवंशप्रत्ययेन मुखधोर्हृदयस्थित विषस्य हस्ताभ्याशमुपगता । ५-२४

और यदि उसकी पुत्री होती अथवा पुत्र चक्रवर्ती के प्रकल्पित लक्षणों से युक्त

न होता तो उसकी वही अवस्था होती जिसकी उसे शंका थी । जैसा कि शार्ङ्गरव कहते हैं –

अथ तु वेस्ति शुचिव्रतमात्मनः ।
पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम् ।। ५-२७

इन कारणों से भी वास्तविक परिचायक भरत ही होते हैं । पिता के द्वारा परित्यक्त वे अपने माँ ही के हैं । इसलिए जब बालक भरत माँ से दुष्यन्त के बारे में पूछते हैं कि यह कौन है, तो शकुन्तला उत्तर देती है, 'अपने भाग्य से पूछो'।

'वत्स ते भाग्यधेयानि पृच्छ'

राजा के लिए पूर्व अनुराग को भूल जाना कोई नयी बात भी नहीं है, यह नाट्यकार पंचम दृश्य के प्रथम में ही सूचित कर देते हैं, अब हंसपदिका अपने संगीत में राजा को मधुकर कह कर उपालम्भ देती है, अर्थात् राजा की आदत ही मधुकर की तरह एक फूल से दूसरे फूल में शहद के लिए घूमना है ।

अभिनवमधुलोलुपस्त्वं तथा परिचुम्ब्य चूतमंजरीम् ।
कमलवसति मात्रनिर्वृतो मधुकर विस्मृतोऽस्येनांकथम् ।। ५-१

इसको सुनकर राजा को कोई लज्जा भी नहीं होती, बल्कि वह हँसकर कहता है कि बहुत चतुरतापूर्वक उलाहना दिया गया है । कण्व जी ने जो शकुन्तला को उपदेश दिया, वे कहते हैं अपने सपत्नियों को सखी की तरह देखे ।

इसी प्रकार के राजमहल को शरङ्ख अग्नि से घिरा अनुभव करते हैं । 'हुतवह परीतं गृहमित' और शारदूत भी बताते हैं कि इन विषयभोगों में लगे व्यक्तियों को, पवित्र अपवित्र को, जगा व्यक्ति सोये आदमी को और स्वतंत्र व्यक्ति एक बद्ध व्यक्ति को देखकर सोचता है ।

अभ्यक्ततिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव सुप्तम् ।।
बद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसङ्गिनमवैमिः । ५/११

यह भी सूचित किया गया है कि शकुन्तला ने क्या छोडकर किसको पसन्द किया था और उसको पुनः किसके पास रक्षण के लिए लौटना पडा ।

नाट्यकार ने राजमहल के इस परिवेश तथा राजा की इस मधुकर-वृत्ति के कारण केवल शकुन्तला के पूर्व अनुराग पर भरोसा न करके चतुर्थ अंक में ही पुत्रहीन व्यक्ति का प्रसंग उपस्थित करके शकुन्तला के भविष्य के विषय में शंका दूर कर दी है ।

राजाओं को इस मधुकर-वृत्ति को ध्यान में रखकर कण्व जी भी शकुन्तला के

लिए संपत्तियों के समान प्रतिष्ठा चाहते हैं, राजा शकुन्तला को सपत्नियों की तरह देखने का उपदेश देते हैं ।

मधुकर के दृष्टान्तों में द्व्यर्थ

मधुकर तथा राजा को लेकर इस द्व्यर्थ को नाटक में प्रारम्भ से लेकर पंचम अंक तक दोहराया गया है । शुरू में ही नटी गीत गाती है कि मधुकर फूलों को थोडा-थोडा चूमता हुआ फिरता है, प्रथम दृश्य में जब मधुकर शकुन्तला के मुँह पर मँडराने लगता है तो उसको भगाने के बहाने आकर अब राजा मँडराने लगते हैं। जब तक ऐसा नहीं कर पाते हैं उनको मधुकर पर ईर्ष्या होती है । इसी दृश्य को चतुर्थ अंक में राजा चित्रित करते पाये जाते हैं । पंचम अंक में हंसपदिका मानो नटी के संगीत की ही अगली कडी पकड कर संकेत से राजा की तुलना मधुकर से करती है ।

हस्ती के प्रयोग में द्व्यर्थ

जहाँ राजा के अनुचरों के उपद्रव से आश्रम में वन-हस्ती के प्रवेश का दृश्य आता है, वहाँ राजा की तरफ भी हस्ती के प्रतीक से इंगित किया गया है । आश्रम की मर्यादा को भंग करने के लिए जैसे वन-हस्ती उद्यत है, राजा भी उसी प्रकार उद्यत है । इस प्रसंग में 'एकदंत' शब्द का जो प्रयोग है, उसके साथ काम-प्रवृत्ति का सम्बन्ध उल्लेखनीय है । गणेश जी के एकदन्त शरणागति स्तोत्र में आता है –

स्वबिम्बभावेन विलासयुक्तां प्रत्यक्षमायां विविधस्वरूपाम् ।
स्ववीर्यकं तत्र ददाति यो वै तमेकदन्तं शरणं व्रजामः ।।
स्वदीयवीर्येण समर्थभूतस्वमायया संरचितं च विश्वम् ।
तुरीयकं ह्यात्मप्रतीतिसंज्ञं तमेकदन्तं शरणं व्रजामः ।।[6]

एकदंत हाथी के उल्लेख के द्व्यर्थ की पुष्टि में कंचुकी और सेनापति राजा की तुलना हाथी से करते हैं –

प्रजाः प्रजाः स्वा इव तन्त्रयित्वा निषेवते श्रान्तमना विविक्तम् ।
यूथानि संचार्य रविप्रतप्तः शीतं दिवा स्थानमिव द्विपेन्द्रः ।।

यहाँ जो हाथी के झुंड को संचालित करने वाले गजेन्द्र से दुष्यन्त की तुलना की गयी है इसका एक कारण यह है कि वे हस्तिनापुर के राजा हैं ।

द्वितीय अंक में सेनापति अपने ढंग से राजा की तुलना जंगली हाथी से करते हैं । इस वर्णन में राजा के वर्णन में प्रयुक्त शब्द हाथी के अर्थान्तर से भी लगते

हैं ।

मृग तथा मृगी के दृष्टान्तों में द्व्यर्थ

अन्त में महत्त्वपूर्ण द्व्यर्थ शकुन्तला और मृग-मृगी के बीच है । राजा जब तपस्वियों के कहने से हरिण के शिकार से विरत होते हैं तो वे अपने स्वभाव को न छोडकर अन्य शिकार में लग जाते हैं । इस विषय में विदूषक भी राजा की आलोचना में कहता है कि उन्होंने तपोवन को क्रीडा उपवन बना डाला है ।

कृतं त्वयोपवनं तपोवनमिति पश्यामि ।।

राजा स्वयं ही शकुन्तला का सम्बन्ध मृग-मृगी से दो स्थानों पर दिखाते हैं । षष्ट अंक में शकुन्तला को 'शारंगाक्षी' कहते हैं और द्वितीय अंक में कहते हैं कि अब उनको जानवरों के शिकार में मन नहीं है क्योंकि जिन मृगों ने शकुन्तला के साथ रह कर उसे मुग्ध दृष्टि सिखाया है उन मृगों पर बाण नहीं चलाना चाहते हैं ।

चतुर्थ अंक में जब आश्रम में जाती हुई शकुन्तला आश्रम-कुटी के पास बिचरने वाली गर्भवती (अपनी तरह) मृगी की खबर भेजने को कण्व जी से कहती है, और जब उसके गमन को रोक कर उसका वस्त्र (उसका) पुत्रवत् पाला हुआ मातृहीन हरिणशावक मुँह से खींचता है, तो शकुन्तला का मृग-मृगियों के साथ परस्पर स्नेह-सम्बन्ध स्पष्ट है ।

इसका सबसे मार्मिक दृष्टान्त तब सम्मुख आता है, जब शकुन्तला डूबते हुए के लिए तृण के सहारे की तरह उस घटना की याद दुष्यन्त को दिलाने की चेष्टा करती है, जिसमें ही उस बात के अतिरिक्त उसको (शकुन्तला को) भी भूल जाने की सम्भावना अंतर्निहित है ।

यह घटना उसी हरिण शावक दीर्घापांग से संबंधित थी । उसको जब दुष्यन्त ने पानी पीने के लिए बुलाया तो उसने नहीं पिया, लेकिन शकुन्तला जब अपने हाथ से जल पिलाती है तो वह प्रेमपूर्वक पी लेता है । इस पर राजा ने हँसकर कहा था, 'सभी सहवासियों पर विश्वास करते हैं, तुम दोनों ही यहाँ जंगली हो,

सर्वः सगन्धेषु विश्वसिति ।
द्वावप्यत्रारण्यकाविति ।।

यहाँ सगन्ध का अर्थ 'स्वयूथेषु' अर्थात् अपना झुंड ।

इस उक्ति में ही झलक मिलती है कि राजा परिहास के स्तर पर उतरने के साथ शकुन्तला को भी शिकार के योग्य समझ सकते हैं क्या? 'मृग' से ही 'मृगया' शब्द

बना है।[१] रामायण में इस सन्दर्भ में निम्न विवरण मिलता है। बाणहत वाली ने कहा था कि बन में रहने वाला वानर हूँ, मुझसे या यहाँ के फलों से तुमको क्या लोभ?

वयं वनचरा राम मृगा मूलफलाशीन:।
एषा प्रकृतिरस्माकं पुरुषस्त्वं नरेश्वर:।।
भूमिर्हिरण्यं रूपं च निग्रहे कारणानि च।
अत्र कस्ते वने लोभो मदीय्येषु फलेषु वा। १७/२८-२९

उसका उत्तर रामायण में इस प्रकार मिलता है।

यान्ति राजर्षयश्चात्र मृगयां धर्म कोविदा:।
तस्मात्वं निहतो युद्धे मया बाणेन वानर।।
अयुध्यन्प्रतियुद्धन्वा यश्माच्छाखामृगो ह्यसि।। कि.१८, ४२

तुम शाखा मृग हो, इसलिए प्रति-युद्ध कर रहे या न कर रहे हो, मृगया में भी तुम्हारे वध में दोष नहीं है।

रीडर आफ लॉजिक **राजेन्द्र नाथ मुकर्जी**
रिटायर्ड, वी.एच.यू.
बी २०/१८५ भेलूपुरा वाराणसी।

टिप्पणियाँ

१. अभिनव गुप्त-ध्वन्यालोकलोचन. १.१८
२. आनन्दवर्धन-ध्वन्यालोक, २. १५
धन्यात्मभूत शृंगारे यमकादिनिबंधनम्।
शक्तानपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषत:।।
३. अ. शा. ५, ५
'यूथानि संचार्य रविप्रतप्त: शीतं दिवा स्थानमिव द्विपेन्द्र:' मान्यता के अनुसार चन्द्रवंशीय राजा हस्थी के द्वारा स्थापित होने के कारण 'हस्तिनापुर नाम पडा। लेकिन हो सकता है यह व्याख्या बाद में सोची गयी। राजधानी में हाथियों के होने के कारण भी ऐसा नाम पड सकता है और राजा का नाम भी हाथी से आया होगा।
४. ईश्वरचन्द्र विद्यासागर : व्याकरण कौमुदी, पृ. ८० में भाववाचो ल्युट् के दृष्टान्त में हसनम् गमनम् देते हैं जो सभी क्रियावाचक हैं। प्रतीत होता है कि अभिज्ञानम का प्राथमिक अर्थ 'परिचयन ही रहा, उसी से चलकर वह परिचय-

चिह्न के लिये भी प्रयोग होने लगा । जैसे मन्दिर का 'परिक्रमा-पथ' भी 'परिक्रमा' कहलाता है ।

५. लघु सिद्धान्त कौमुदी, ११०, व्याख्या कौमुदि ।

६. कुछ प्राचीन ग्रन्थों में अभिज्ञान शाकुन्तलम् नाम मिलता है । रविन्द्रनाथ के प्राचीन साहित्य में भी यही नाम लिखा गया है, क्योंकि उपर्युक्त प्रथम अर्थ, किसको साधारण मान्यता है, के अनुसार यह नाम हो सकता है, लेकिन उपर्युक्त तीसरे अर्थ में 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्, ही होगा और यही ठीक नाम है । यह व्यंगार्थ के लिए तद्धित् के प्रयोग का भी सुन्दर उदाहरण है । देखिए आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक ३. १६१

७. शकुन्तला के इस परिणति के विषय में रवीन्द्रनाथ प्राचीन साहित्य में इस प्रकार लिखते हैं, शकुन्तला में फूल से फल में, मर्त्य से स्वर्ग में, स्वभाव से धर्म में परिणति है । एक ओर (पहले) तरुलता पुष्प की तरह आत्मविस्मृति स्वाभावधर्म अनुगता: दूसरी ओर (बाद में) उसका नारी प्रकृति संयम, अन्तरतर एकाग्रतप:परायणा कल्याण धर्म के शासन से पूर्ण नियन्त्रिता । शकुन्तला की सरलता, अपराध, दु:ख, अभिज्ञता, धैर्य और क्षमा से परिपक्व, गम्भीर और स्थायी (हुई) । सहज स्वर्ग इस प्रकार नष्ट होकर साधना का स्वर्ग हुआ, अब विश्व के साथ उसका सम्बन्ध बदल गया ।

८. कल्याण गणेश अंक, पृ. ४५.

९. रवीन्द्रनाथ के वाक्यों में, यह बात (मृग के विषय में तपस्वियों द्वारा कथित) शकुन्तला के लिए भी लगती है । शकुन्तला के प्रति भी राजा का प्रणयशर निक्षेप । प्रणयव्यवसाय में राजा परिपक्व और कठिन . . . और यह आश्रम-पालिता बालिका की अनभिज्ञता और सरलता बहुत ही सुकुमार है ।

समाज में भाषा सम्बन्धी डॉ. राममनोहर लोहिया के विचार : एक विवेचन

संकल्प और साहस के धनी डा. लोहिया का व्यक्तित्व एकांगी नहीं, बल्कि बहुआयामी था। धर्म, दर्शन, पुराण, वेद, संस्कृति इत्यादि के संदर्भ में उन्होंने नये सिरे से चीजों की व्याख्या की है। जाति, धर्म और भाषा के बारे में उन्होंने विश्वसनीय ढंग से बहस आरम्भ की। वे मानवता के अद्भुत प्रेमी थे। उनके विचारों में सृजनशीलता तथा मौलिकता की झलक स्पष्ट रूप से व्यक्त होती है। वे हमेशा निर्गुण-सगुण, समष्टि-व्यष्टि और समता-स्वतंत्रता में समन्वय की तलाश करते रहे। सारी परिस्थितियों और समस्याओं पर निरन्तर आत्मचिंतन और आत्ममंथन में लीन दार्शनिकता की निरपेक्ष और निर्वैयक्तिक विचार पद्धति डा. लोहिया के व्यक्तित्व का सबसे अनोखा पक्ष था। भाषाओं के संबंध में, विशेष रूप से भारतीय भाषाओं के इतिहास के प्रसंग में उनकी बेबाक टिप्पणियाँ, भाषा विज्ञान के पंडितों को भी आश्चर्यचकित करनेवाली हैं। धर्म के संबंध में भी उनके चिंतन में गहरी दृष्टि तथा तटस्थ मूल्यांकन परीक्षित होता है।

भाषा की अवधारणा

डा. लोहिया के अनुसार भाषा रथ का काम करती है। जिस प्रकार रथ का काम है कि वह बिना भेदभाव के सबको एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाए, ठीक उसी प्रकार भाषा लोगों के बीच सेतु का कार्य करती है। जिस प्रकार अच्छा रथ वही है जो कि सबकी समान सेवा करे, ठीक उसी प्रकार बढिया भाषा वही है जो कि पवित्र तथा अपवित्र सभी प्रकार के जीवन में समान रूप से कार्य कर सके। यद्यपि पवित्रता तथा अपवित्रता सापेक्ष है। इस पर विभिन्न विचार हो सकते हैं। मनुष्य को अधिकांश मामलों में विचारों को भी मौका देना चाहिए। उन्हीं के शब्दों में, "भाषा एक रथ है। रथ का काम है सबको ढोए, बिना भेद-भाव के ढोए। बढिया रथ वही है जो सबकी समान सेवा करे। चाहे पवित्र जीवन, चाहे छिनाली,

भाषा सबके काम पूरी तरह आनी चाहिए । मुझे सब कहने की इसलिए जरूरत पड रही है कि कुछ लोगों ने अंग्रेजी हटाओं को अंग्रेजियत हटाओं के अर्थ में पकड लिया है । अगर अंग्रेजियत का मतलब नकलीपन अथवा कृत्रिमता है , तो मुझे आपत्ति नहीं । लेकिन इसके मतलब होते हैं औरतों के होठों पर लाली का न लाना अथवा मर्द औरत से चिपक जाय, बेवजह भरतनाट्यम् और कत्थक का ही चलते रहना, अथवा अष्टवर्षान्त या षोडषवर्षान्त भवेतु गौरी का होना और तलाक का न होना, तब मुझे कहना पडता है भाषारूपी रथ को दोनों अथवा और भी वृत्तियों को समान रूप से वहन करना चाहिए । हिन्दी में इतनी सामर्थ्य होनी चाहिए कि वह पवित्रता और छिनाली के, दोनों के काम बराबर आ सके । ''[१]

डा. लोहिया के विचार में भाषा ऐसी होनी चाहिए जिसमें कि सभी तरह की बुद्धियाँ फल-फूल सकें । वह सटीक हो, ठेठ हो, रोचक हो, रंगीन हो तथा पारिभाषिक हो । कहने का अर्थ यह कि वह अलग-अलग मतलब को बता सके। किसी भी सम्पन्न भाषा की मुख्य यही कसौटियाँ हैं । यह एक गौण और संदर्भ का प्रश्न है कि किस भाषा में कितने विषय की पुस्तकें हैं । अगर भाषा में सुनिश्चितता, रोचकता एवं रंगीनी है तो उस भाषा को सम्पन्न भाषा बनते देर नहीं लगती । भले ही उस भाषा में पुस्तकों का अभाव क्यों न हो । भाषा, सम्पन्न पारिभाषिक शब्दों या शब्दकोषों के गढने से दूर नहीं होता, इस रथ को सबों को तथा सब समान ढोने के लिए इस्तेमाल करने से ही हो सकेगा । भाषा सम्पन्न तभी बन सकेगी जब उससे सभी प्रकार की बुद्धियाँ विकसित हो सकें ।

डा. लोहिया के विचार में किसी भी समाज या देश में भाषा का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान होता है । भाषा देश के सभी मसलों पर अपना प्रभाव डालती है। साधारणतया इसका संबंध समाज के सभी क्षेत्रों से होता है, तथा उन क्षेत्रों पर भाषा का व्यापक प्रभाव पडता है । भाषा का संबंध समाज, सरकार, लोकतंत्र-प्रजातंत्र, राज-काज तक ही सीमित नहीं है, बल्कि ईमानदारी और बेईमानी के प्रश्न से भी जुडे हुए हैं । इस प्रकार किसी समाज के लिए भाषा का महत्त्व काफी बडा है, क्योंकि इसके प्रभाव से समाज का कोई भी क्षेत्र अछूता नहीं रहता है ।

सामन्ती भाषा और भारतीय समाज

डा. लोहिया के विचार में अंग्रेजी विदेशी ही नहीं बल्कि सामन्तों की भाषा है । दूसरे शब्दों में, अंग्रेजी भारतीय परिप्रेक्ष्य में सामन्ती है, क्योंकि अभी भी जनसंख्या का अल्पमत ही इस भाषा को जानता है । उन्ही के शब्दों में "अंग्रेजी

हिन्दुस्तान को ज्यादा नुकसान इसलिए नहीं पहुँचा रही है कि वह विदेशी है, बल्कि इसलिए कि भारतीय प्रसंग में वह सामन्ती है । आबादी का सिर्फ एक प्रतिशत छोटा-सा अल्पमत ही अंग्रेजी में ऐसी योग्यता हासिल कर पाता है कि वह उसे सत्ता या स्वार्थ के लिए इस्तेमाल करता है । इस छोटे से अल्पमत के हाथ में विशाल जन-समुदाय पर अधिकार और शोषण करने का हथियार है अंग्रेजी ।"[२] इतनां ही नहीं इसके कारण भारतीय जनता अपने में हीन भावना अपना चुकी है । जनता के दिलों-दिमाग पर यह विकृति छा गयी है कि जो अंग्रेजी नहीं जानते, वे किसी सार्वजनिक काम के लायक नहीं हैं । तथा इस प्रकार वे दौड से अपना पैर पीछे कर लेते हैं । वस्तुत: जन साधारण द्वारा इस तरह से पैर पीछे करने के कारण ही इस सामन्ती राज्य की बुनियाद पडी तथा अंग्रेजी ने सामन्ती भाषा बनने का गौरव प्राप्त की। हमारे समाज में डराकर या धमकाकर कम, बल्कि गिटपिट भाषा के जरिये लोगों को दबा कर रखा जाता है । पर इतना तो स्पष्ट है कि लोकभाषा के बिना लोकराज्य सम्भव नहीं है । अत: डा. लोहिया का कहना है कि कुछ लोगों में यह भ्रम व्याप्त हो गया है कि उनके बच्चों को भी अवसर मिलने पर, वे अंग्रेजी में योग्यता हासिल कर सकते हैं। पर यह असम्भव है । हो सकता है कि सौ में एक सम्भव हो सके । उच्च वर्ग या सामन्ती वर्ग पीढियों से अपने घरों में अंग्रेजी का वातावरण बनाते आ रहे हैं । अत: जन-साधारण इन पुश्तैनी गुलामों से मुकाबला विदेशी भाषाओं के अध्ययन के द्वारा भी नहीं कर सकते । अत: डा. लोहिया का कहना था कि हिन्दुस्तान के सार्वजनिक मामलों से अब अंग्रेजी हटाने में देर नहीं करनी चाहिए क्योंकि इससे अन्य दूसरी समस्याएँ खडी हो सकती हैं तथा बिगड भी सकती हैं । जिस भाषा को करोडों भारतीय नहीं जानते तथा नहीं समझते हैं, उसके बारे में यही धारणा बनती है कि यह गुप्त विद्या है तथा इसे कुछ व्यक्ति ही जान सकते हैं । इसलिए ऐसी जबान में जितना झूठ बोला जाय, धोखा चलता रहेगा, क्योंकि बहुतांश इसे समझेंगे ही नहीं । हमारे समाज में पहले से ही अमीरी-गरीबी, जात-पात इत्यादि की जबरदस्त खाई व्याप्त हैं तथा उस खाई को अंग्रेजी और भी चौडा कर रही है । अगर सही अर्थों में देखा जाय तो समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार की जड में यह अंग्रेजी ही है । आज भी सार्वजनिक जीवन में अंग्रेजियत की अहमियत है । अंग्रेजी जानने वालों का कार्य सभी सरकारी महकमों में आसानी से हो जाता है । घूस और रिश्वत का बाजार अंग्रेजी के ही कारण गर्म है, क्योंकि अधिकांश जनता इस से वाकिफ नहीं है । इतना तो स्पष्ट है कि जबतक अंग्रेजी की यह बीमारी कायम है तब तक ईमानदारी आ ही नहीं सकती तथा भ्रष्टाचार बदस्तुर कायम रहेगा।

इस भाषा की खाई की वजह से ही खुफिया तौर पर जनता से बेईमानियाँ चल रही हैं। जन साधारण को इतनी समझ नहीं है कि वह इस व्यापार को समझ सकें।

भाषा के इस घपले का कुप्रभाव हमारी फौजों पर भी पड रहा है। डा. लोहिया के अनुसार भारतीय फौजों की भी हालत कोई अच्छी नहीं है तथा वे भी असंतोष का जीवन जी रहे हैं। यह देश के लिए खतरनाक है। हमारे यहाँ सिविल अफसरों का ओहदा फौजी अफसरों से ऊँचा समझा जाता है। यहाँ तक कि सिविल बाबू फौजी बाबू से ऊँचे रहन-सहन का जीवन व्यतीत करते हैं। हमारे यहाँ आज भी फौजी अफसरों की बैठक का सभापतित्व एक सिविल अफसर जो कि रक्षा-सचिव होता है, वही करता है। आज भी समाज में अंग्रेजीयत की बोलबाला है। यह धारणा बलवती है कि ऊँचे अफसरों की अंग्रेजी अच्छी होनी चाहिए। कितने दुर्भाग्य की बात है कि फौजी अफसरों की योग्यता उसके दुश्मन के लडने की ताकत से नहीं, बल्कि कैसी उसकी अंग्रेजी है इससे परखी जाती है। हिन्दुस्तान में एक से एक वीर जातियाँ हैं, जिन्हें अफसर बनने के लिए अंग्रेजी सीखनी जरूरी है। वे अगर न सीखें तो अफसर नहीं बन सकते हैं। अत: केवल भाषा के बंधन के कारण ही उनकी दिलेरी, साहस और योग्यता का इस्तेमाल न हो पाता है। अत: डा. लोहिया का दृढ विश्वास था कि सार्वजनिक उपयोग से अंग्रेजी को हटाये बिना समाज तथा देश की प्रगती एवं विकास सम्भव नहीं है।

अत: डा. लोहिया का कहना है कि – ''दुनिया में सिर्फ हिन्दुस्तान ही एक ऐसा सभ्य देश है, यह मानकर कि हम सभ्य हैं, जिसके जीवन का पुराना दर्शन कभी खत्म ही नहीं होना चाहता जो अपनी विधायिकाएँ, अदालतें, प्रयोगशालाएँ, कारखाने, तार, रेलवे, और लगभग सभी सरकारी और दूसरे सार्वजनिक काम उस भाषा में करता हैं, जिसको ९९ प्रतिशत लोग समझते तक नहीं। वास्तव में, दुनिया में और ऐसा सभ्य अथवा असभ्य देश नहीं हैं, जो ऐसा करता है। हिन्दुस्तान को छोंडकर, अपने सार्वजनिक कार्य के लिए किसी भी देश ने अंग्रेजी को अपनाया है, वह तभी जबकि उसकी अपनी भाषाएँ प्राय: समाप्त हो गयी हों और चाहे जितने मिश्रित रूप में ही क्यों न हो, अंग्रेजी उनके बोल-चाल की भाषा बन गयी हो। ''अंग्रेजी हटाओ आन्दोलन'' अपने देश के सार्वजनिक या सामूहिक जीवन से अंग्रेजी के इस्तेमाल को हटाना चाहता है। अभिव्यक्ति का माध्यम बन कर अंग्रेजी नहीं रह सकती। अतिरिक्त मेधा प्राप्त करने के लिए उसे अध्ययन का एक ऐच्छिक विषय रखा जा सकता है। सभी जानते हैं कि फ्रांस या जर्मनी में शेक्सपीयर का अंग्रेजी पाठ तो पढा, पर उसका

विवेचन किया अपनी भाषा में । हिंदुस्तान में शेक्सपीयर साहित्य के उनसे सैकडों या हजारों गुणा ज्यादा विद्वान हुए, पर कोई भी महत्त्वपूर्ण नहीं हुआ क्योंकि वे अभिव्यक्ति और मेधा का भी माध्यम अंग्रेजी रखते हैं ।[3]

डा. लोहिया के अनुसार इस सामन्ती भाषा का दुष्परिणाम हमारे समाज पर इस कदर हुआ है कि हिन्दुस्तान में मौलिक चिन्तन प्राय: मृत हो गया है । इसके अन्य कारणों में से प्रमुख अंग्रेजी की जकडन है । इस देश में हाल के कुछ दशकों में अगर कुछ अच्छे वैज्ञानिक पैदा हुए भी हैं तो इसलिए कि उनकी भाषा से उतना वास्ता नहीं पडता है । आज भी सामाजिक और दार्शनिक क्षेत्रों में एक शून्यता है। इसका मुख्य कारण है कि यहाँ के चिन्तक जितना समय चिन्तन की गहराई में नहीं लगाते हैं उससे ज्यादा समय भाषा को लच्छेदारी में लगा देते हैं । चिन्तन यहाँ गौण विषय हो गया है जबकि लच्छेदारी प्रमुख ।

प्राय: भाषा का संबंध जीवन के सभी क्षेत्रों से है । किसी भी देश ने प्रगति अगर की है तो केवल आर्थिक इन्तजाम के कारण नहीं, बल्कि उस प्रगति में उस देश की जनभाषा का महत्त्वपूर्ण योगदान है । इसलिए लोहिया का कहना है कि "केवल व्यक्ति के लिए ही नहीं, बल्कि समाज के लिए भी मन और पेट का एक दूसरे पर बहुत गहरा प्रभाव पडता है । हमारे युग में यह बडे दुख की बात है कि रंगीन देशों की विशेषत: भारत की वर्तमान विचारधारा में मन और पेट को बहुत ही विकृत ढंग से विच्छिन्न कर लिया गया है । किसी देश के मन को साथ ठीक करने की कोशिश किए बिना कोई उसके पेट या आर्थिक व्यवस्था को ठीक नहीं कर सकता"।[4]

इस सामन्ती भाषा के कुप्रभाव के कारण हमारे देश में उत्तर और दक्षिण के बीच मूर्खतापूर्ण झगडा, अभिव्यक्ति का स्थायी ढंग बन गया है, जबकि उसका वास्तविकता से कोई सरोकार नहीं है । डा. लोहिया के विचार में यह झगडा शुद्ध रूप से बनावटी है । दरअसल इसमें उच्च वर्गो का स्वार्थ छिपा हुआ है । स्वार्थ की समानता के कारण ही इन दोनों इलाकों के उच्च-वर्ग अंग्रेजी को कायम रखना चाहते हैं । झगडा बना रहे तथा आड में उन लोंगों का स्वार्थ सिद्ध होता रहे । वास्तव में उच्च वर्ग संपूर्ण रूप से उतना प्रभुत्व, प्रतिष्ठा या विलासिता नहीं भोगते; अपने लोगों से वे सिर्फ आनुषंगिक दृष्टि से श्रेष्ठ हैं । उनके अनुरूप यूरोप की तुलना में या यूरोपी जन-साधारण की तुलना में भी उनका जीवन-स्तर घटिया है किन्तु कोई एक हजार वर्ष से एक डर ने उनके दिमागों को जकड लिया है । या तो वे

अपने ही लोगों से डरते हैं या फिर उन्हें हीन समझते हैं । इसलिए उनकी मनोवृत्ति संकुचित हो गयी है । देश में व्यापक मनोवृत्ति की आवश्यकता है । अगर अपने पडोसियों के साथ बराबरी से रहना है तो हमें सभी दिशाओं में, आर्थिक मामलों में और ज्ञान में विस्तार करना होगा । लेकिन उच्च वर्ग ऐसे अनिश्चित विस्तार से डरते हैं और राष्ट्रीय उत्पादन की दयनीय कमी में भी वे अपने तुच्छ भाग को कायम रखने या बढाने की ही चिन्ता में रहते हैं । मैं नहीं समझता कि सारा उच्चवर्ग इस संकुचित मनोवृत्ति से छुटकारा पा लेगा । यही कष्टप्रद संकुचित स्वार्थ उच्च वर्गों को और उनके युवकों या कम से कम उनके एक तबके को इसके खिलाफ उठाना चाहिए।''[५]

उपरोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि इस सामन्ती भाषा से हमारे समाज के सभी क्षेत्र कुप्रभावित तथा उजर हो गये हैं । इसलिए लोहिया कहा करते थे कि – ''किसी सामंती राज को खत्म करने के लिए और जनता में आत्मविश्वास पैदा करने के लिए यह जरूरी है कि सामंतों की भाषा और भूषा से जनता नफरत करना सीखे; कम से कम उसका तिरस्कार तो जरूर ही करे । जाहिर है कि अंग्रेजों के देश में अंग्रेजी लोकभाषा है, जिस तरह हिन्दुस्तान में तमिल या हिन्दुस्थानी लोक भाषाएँ हैं । जो भाषा अपने देश में लोकभाषा हैं, पराये देश में शासन की भाषा बन कर सामन्ती हो जाती है । ऐसी सामंती भाषा का तिरस्कार किए बिना लोकनीति निखरती नहीं । सार्वजनिक जगहों पर अंग्रेजी गिटपिट करने वालों का तिरस्कार होना चाहिए । इस सामंती भाषा को उन्हीं के लिए छोड देना चाहिए जिनके माँ-बाप अगर शरीर से नहीं तो आत्मा से अंग्रेज रहे हों ।[६]

डा. लोहिया इस संबंध में उदाहरण पेश करते हैं कि आज भी हिन्दुस्तान के बाजारों में हम दुकानों के नामपट अंग्रेजी में पाते हैं । यहाँ तक की चाय और नाईं की भी दुकान का बोर्ड अंग्रेजी में ही मिलता है—जैसे, फँसी हेयर ड्रेसर । इस नामपट से क्या फायदा जिससे कि अधिकांश जनता नहीं समझती हो । यह तो शुक्र है कि नामपट के साथ-साथ खिडिकियों में सजे माल को देखकर जन साधारण समझ जाता है कि यह किस चीज की दुकान है नहीं तो नामपट से तो कुछ भी पता ही नहीं चल पाता । लोहिया के विचार में यह सब गुलामी की परम्परा का जीवन्त उदाहरण है । कुछ लोग इस पर शर्म करने की बजाय इसे मर्यादापूर्ण मानते हैं । इससे तो यही परिलक्षित होता है कि हमारी भाषा इस योग्य नहीं कि उसमें नामपट लगाया जाय तथा यह गुलामी का नक्सा हमारे दिमाग पर ताजा रखते हैं । इस संबंध में अंग्रेजी अखबार भी गुलामी की याद दिलाते हैं । दुनिया में भारत ही एक ऐसा देश

है जहाँ दैनिक अखबार विदेशी भाषा में मिलता है। मासिक या साप्ताहिक पत्र-पत्रिकाएं तो हर देश मे विदेशी भाषाओं में मिलती हैं। इस संबंध में लोहिया कहते हैं कि पूरे यूरोप में सिवाय पेरिस के उन्होंने कहीं भी विदेशी भाषा का दैनिक निकलते नहीं देखा। हमारे यहाँ यह आम धारणा बन गयी है कि अंग्रेजी के अखबारों में सूचनाएँ अधिक होती हैं तथा वे हिन्दी के बनिस्पत अच्छी होती हैं। इसी कारण आज भी हमारे हिन्दी दैनिकों की हालत अंग्रेजी जैसी नहीं है। सरकार भी अधिकांश विज्ञापन इन्हीं अंग्रेजी अखबारों को देती हैं। अगर आज सरकार इन अखबारों को विज्ञापन देना बंद कर दे तो ये अखबार बंद हो जायेगा। उन अखबारों से क्या फायदा जिनसे कि मुल्क के ज्यादातर आदमी दुनिया की जानकारी हासिल नहीं कर सकते। डा. लोहिया के अनुसार इतना ही नहीं कुछ लोगों में विदेशी सभ्यता की ओर इतना आकर्षण बढ गया है कि उनका हृदय ही गुलाम हो चुका है, न केवल भाषा में बल्कि भूषा में भी। आज भी देश में कुछ लाख गलालंगोट और चूडीदार पैजामा वाले देश के करोडों की छाती पर मूँग दर रहे हैं। वस्तुत: ये तो हैं पुश्तैनी गुलाम, परन्तु राजा-महाराजा, सरकार और हुजूर कहलाते हैं। असल में अंग्रेजियत के नशे में ये लोग मदान्ध हो गये हैं। जिस प्रकार ग्रामों में भूत इत्यादि लगने पर लोग झाड-फूँक करनेवाले ओझाओं को बुलाकर मन्तर से झडवाया जाता है। अगर लोग ओझाओं का मन्तर समझ जाय तो उनकी ओझाई ही समाप्त हो जाय। ठीक उसी प्रकार इस देश में वकील, डाक्टर और मंत्री अंग्रेजी भाषा में अपनी ओझाई चला रहे हैं। अत: डा. लोहिया का कहना है कि — "लोक-राज कभी सामन्ती भाषा में चल नहीं सकता। लोक-राज लोक-बोली में ही चल सकता है। आज हिन्दुस्तान में घूस और भ्रष्टाचार पर अंग्रेजी भाषा की चादर पडी हुई है। झटके से उस चादर को पकड कर खींच दो, सब मामला साफ हो जायेगा अदालतों, स्कूलों सार्वजनिक संस्थाओं, सरकारी दफ्तरों आदि में अंग्रेजी को तुरन्त खतम करो, तभी लोक-तंत्र चल सकता है। अंग्रेजी बोलने वालों और सामन्ती भाषा वालों के खिलाफ तिरस्कार की भावना बनानी होगी।"[७]

भारतीय समाज पर अंग्रेजी जैसे सामन्ती भाषा के कायम रहने के कारण इसे कितनी ही दु:खद स्थिति से गुजरना पड रहा है, यह हम उपरोक्त विवेचन में देख चुके हैं, तथापि समाज के बडे तबके द्वारा हल सामन्ती भाषा के कायम रखने के लिए तरह-तरह के तर्कों को पेश किया जाता रहा है। इस अंग्रेजी भाषा पर अगर हम दृष्टिपात करें तो पायेंगे कि यद्यपि यह अपने क्षेत्र में लावण्यमयी भाषा है तथापि वह फ्रेंच जैसी चटपटी तथा जर्मन जैसी परिमित, परिग्रही और उदार नहीं है। हिन्दी

में लगभग ६-७ लाख शब्द हैं जबकि अंग्रेजी में सिर्फ उसका आधा ही। अंग्रेजी के संबंध में कहा जाता है कि यह विश्वभाषा है। इसको हटाने से देश टूट जायेगा। यह बडे ही आश्चर्य की बात है कि अंग्रेजी का संबंध देश टूटने से कैसे जुडा हुआ है। कुछ लोगों को यह भ्रम पैदा हो गया है कि अंग्रेजी विश्व-भाषा है। फ्रेंच और स्पेनी भाषाएँ अंग्रेजी से भी पहले से हैं तथा समसामयिक काल में उसी भाषा का दिनानुदिन विस्तार हो रहा है। दुनिया की आबादी का १० में से १ ही लोग इस अंग्रेजी भाषा को जानते हैं तथापि उसे विश्व-भाषा का दर्जा दिया जाता है। संस्कृत, अरबी, इत्यादि अन्य भाषाएँ भी अपने काल में काफी समृद्ध भाषाएँ थीं तथा लगता था कि वे विश्व भाषा का दर्जा प्राप्त कर लेंगी। परन्तु ऐसा नहीं हो सका। ठीक उसी तरह अब अंग्रेजी भी उतार पर है, खासकर रूसी विस्तार के कारण। डा. लोहिया के अनुसार अगर कभी कोई विश्व-भाषा सम्भव हो सका तो भी आज की ये भाषाएँ कदापि नहीं विश्व-भाषा का दर्जा प्राप्त कर पाएँगी। उन्हीं के शब्दों में, "अंग्रेजी विश्व-भाषा नहीं है। अंग्रेजी तो क्या, कोई भी भाषा विश्व-भाषा नहीं है। जिस प्रकार अंग्रेजी दुनिया में फैली उसी तरह पहले संस्कृत, अरबी, लैटिन आदि भाषाएँ भी फैल चुकी हैं। इन सब भाषाओं के समय-समय पर साम्राज्य बन चुका हैं। आज वे साम्राज्य नहीं हैं और मैं कहता हूँ कि अंग्रेजी का भी नहीं रहेगा। क्या आप समझते हैं कि ४० करोड चीनी और २० करोड रुसी कभी भी इस बात को स्वीकार करेंगे कि अंग्रेजी विश्व-भाषा मानी जाय। इन सब बातों में राष्ट्रीय आत्मसम्मान का प्रश्न आ जाता है। मैं समझता हूँ कि यदि कभी भी कोई विश्व-भाषा बन सकी तो वह किसी देश की भाषा नहीं होगी, बल्कि सभी देशों की भाषा का सम्मिश्रण होगी। कुछ लोग जो अपने को विश्वादी समझते हैं, इस आत्मसम्मान को बचपना और संकुचित विचार कहते हैं। मैं उस पर भी चाहता हूँ कि यह बचपना मुझमें रहे। ये लोग अधकचरे और मंदबुद्धि विश्ववादी हैं"।[८]

अक्सर ये भी विचार अंग्रेजी वालों के तरफ से दिये जाते हैं कि हिन्दुस्तान की भाषाएँ अभी गरीब हैं, तथा अंग्रेजी काफी धनी भाषा है। अतः इस प्रतियोगिताशाली विश्व में अगर देश में विकास का समृद्धि का मार्ग अपनाना है तो हमें किसी धनी भाषा का सहारा तो लेना ही पडेगा। इस मायने में अंग्रेजी धनी भी और आन्तर्राष्ट्रीय भाषा है। इस विचार पर अगर हम गौर करें तो पाएँगे कि उन्हीं के दलील द्वारा यह अनिवार्य तर्क निस्तृत होता है कि अगर हमारी भाषाएँ धनी नहीं हैं तो उन्हें धनी बनाये जाने का प्रयास किया जाना चाहिए। दूसरी बात यह भी कही जा सकती है कि चूँकि

हमारी भाषाएँ अभी धनी नहीं हैं इसलिए अदालत, कॉलेज, सरकारी कामकाज इत्यादि में अभी अंग्रेजी का इस्तेमाल करना जरुरी है । जब हमारी भाषा विकसित हो जाएगी तब हम उनका व्यवहार सभी कार्यों के लिए करेंगे, क्योंकि उपरोक्त जगहों पर सुसंस्कृत तथा विकसित भाषा की आवश्यकता पडती है । अपनी भाषाओं के विकसित करने के संबंध में कहा जाता है कि सबसे प्रथम यह कार्य आवश्यक है कि पारिभाषिक शब्दों को ठीक किया जाय, शब्दकोष बनाया जाय । इन सबके लिए कमिटियाँ बनाई जाय जो यह तय करे कि किस शब्द का क्या मतलब है । डा. लोहिया के अनुसार ये सारी दलीलें भाषा की समस्या को उलझाने के लिए दी जाती हैं । इन तर्कों में कोई दम नहीं है कि किसी भी भाषा की तरक्की शब्दकोष बनने के बाद ही सम्भव है । भाषा की उन्नति उसके व्यवहार से ही सम्भव है । अत: डा. लोहिया का कहना है कि "हमारे यहाँ मामला उल्टा है । कहते हैं कि जब शब्द बन जायेंगे तब हिन्दी शुरू करेंगे। यह वैसी बात है जैसे बिना पानी में गये तैरना सीखने की इच्छा । लोग सवाल उठा देते हैं कि आखिर यदि आज की दुनिया, जो मशीनों की दुनिया है, से संबंध रखना है तो यूरोपी भाषा से संबंध रखना ही पडेगा । उनकी दलील है कि जब अंग्रेजी खत्म कर दी गयी तो मुल्क पर फिर पुराने दकियानूसी, जनेऊधारी, चोटीधारी कब्जा करेंगे। इसकी वजह यह है कि आज तक हिन्दी की हिमायत देश में केवल उसी तरह के दकियानूसी लोग करते हैं । कुछ लोगों ने जर्मनी, फ्रांस के कुछ विचारकों की किताबें पढ कर उनकी नकल में यह सोचा है कि अपनी पुरानी संस्कृति बना कर रखनी चाहिए । अच्छी बात यही है कि अब जा कर इन लोगों ने हिन्दी की हिमायत को कुछ छोड दिया है । इसलिए अब मेरे जैसे लोग हिन्दी की हिमायत करने को निकल सकते हैं । यह कितनी खतरनाक हालत है कि अपनी भाषाएँ प्रतिक्रियावाद की और विदेशी भाषा प्रगति की प्रतीक समझी जाती हैं । कई लोग सिर्फ इसी वजह से खुल कर हिन्दी की हिमायत नहीं कर पाते हैं कि कहीं वह भी प्रगति के दुश्मन न समझ लिए जाए । इन सब बातों का फायदा उन लोगों ने उठाया, जो अंग्रेजी पढे-लिखे हैं और देश से अपने एकाधिपत्य को उठने देना नहीं चाहते । जनेऊ और चोटीधारियों का जमाना तो लद ही गया । इन लोगों ने हिन्दी को भी उन्हीं के साथ जोडकर अपना रास्ता साफ रखना चाह।"[६] अत: इतना तो स्पष्ट ही है कि देश की आबादी के ये अल्पमत यह नहीं चाहते कि अंग्रेजी समाप्त हो तथा देश की ताकत बढ सके।

अंग्रेजी भाषा को भारतीय समाज में कायम रखने के संबंध में तर्क यह भी पेश किया जाता है कि अगर हिन्दी लागू कर दी जाय तो देश में हिन्दीभाषियों को

विकास के अच्छे अवसर मिलने लगेगें तथा इससे गैरहिन्दीभाषी लोग प्रभावित होंगे। फलत: इससे देश के टूटने का भी खतरा हो सकता है । बंगाली, तमिल, मराठी आदि अन्य भाषा वाले लोग विद्रोह कर सकते हैं । इस संबंध में डा. लोहिया कहते हैं कि जिस तरह से अंग्रेजी को १५ वर्षो तक संरक्षण दिया जा सकता है उसी तरह हिन्दुस्तान की दूसरी भाषाओं को भी क्यों न यह अवसर दिया जाय । ऐसा करने से अहिन्दी भाषी लोगों का विद्रोह समाप्त हो जायेगा । दूसरी बात यह है कि अंग्रेजी को समाप्त करने से हिन्दी का प्रसार स्वयं होगा । लोग उसके पीछे भागेंगे क्योंकि उन्हें डर होगा कि ऐसा न करने से विकास तथा अवसर न खो दें । इस संबंध में यह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है कि जिन राज्यों में हिन्दी भाषियों की बहुलता या हिन्दी भाषी राज्य है वहाँ भी तो अंग्रेजी को हटाने के लिए कुछ भी नहीं किया जा सका है ।

सामन्ती भाषा और सरकार की भाषाई नीति

डा. लोहिया के विचार में इस भाषा समस्या के प्रति सरकारी नीति भी स्पष्ट नहीं है । सरकार खुद ही इस समस्या को अपने राजनैतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उलझाये हुए हैं । सरकार खुद नहीं चाहती कि अंग्रेजी समाप्त हो । इसी मंशा के चलते सरकारी नीति हमेशा ही दुलमुल रही है । हिन्दी और अंग्रेजी के असली झगडे को नजर-अंदाज करने के लिए हिन्दी के साथ दूसरी लोकभाषाओं के झूठे झगडे चलाये गये हैं । सरकारी नीतिने हिन्दी को अंग्रेजी साम्राज्यशाही का एक छोटा हिस्सा दिलाने की कोशिश की । अंग्रेजी का कुछ हिस्सा हिन्दी को भी मिल जाए, यह सरकारी नीति रही । अब यह बात साफ है कि हिन्दी साम्राज्यशाही नहीं चल सकती । गैर हिन्दी इलाके इसको कभी स्वीकार नहीं करेंगे । सरकार की इस साजिश ने हिन्दी को बहुत नुकसान पहुँचाया । गैर हिन्दी लोगों को अपनी नौकरियाँ वगैरह का डर लगा । सरकारी नीति के कारण ही कई बडे इलाकों के लोग हिन्दी की कहर मुखलिकत करने लगे ।...........हिन्दी की हिमायत वही कर सकता है, जो उसकी बराबरी में अंग्रेजी को न लिये बल्कि हिन्दुस्तान की दूसरी भाषाओं को, और जो हिन्दी को अन्य भारतीय भाषाओं के साथ राष्ट्र की उन्नति का साधन और अंग्रेजी को गुलामी का साधन समझे ।''[१०]

डा. लोहिया के विचार में अंग्रेजी को खत्म करने की एक निश्चित तारीख बाँध दी गयी वह और भी हमारे इतिहास के लिए एक दुर्भाग्यपूर्ण घटना ही हुई । इसी के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय ईमानदारी के स्रोत में जहर घुल गया । ''यह तो हिन्दी को देश-

भाषा बनाने की कसम रखनी ही न थी और रखनी थी तो तत्काल परिणाम के साथ। समय सीमा बाँधने का अर्थ क्या? सीमा बाँधने के कारण जान लेने पर उसके अर्थ का पता चल जाता है। समय सीमा बाँधने की जरूरत हुई; एक इसलिए कि हिन्दी को समृद्ध बनाना है, दो इसलिए कि इसे देश की स्वीकृति, प्रचार इत्यादि के जरिये दिलाना है। जब भविष्य के किसी समय के साथ हिन्दी की समृद्धता बाँध दी जाती है तब स्वीकार लिया जाता है कि एक, हिन्दी आज समृद्ध नहीं है और दो, कुछ समय के बाद समृद्ध बनने पर यह देश की भाषा कर दी जाएगी। इन दोनों तर्कों पर ध्यान देने से स्पष्ट होता है कि इनमें अन्तर्द्वन्द्ध है जो मान लेता है कि आज हिन्दी अथवा कोई भी भारतीय भाषा समृद्ध नहीं है और इसी असमृद्धता के कारण उसको देश की भाषा नहीं बनाया जा सकता, वह तर्क से अनन्तकाल तक छुटकारा नहीं पा सकता।''[२२] यह भी तर्क गलत है कि अनेक प्रशासनिक और शैक्षणिक उलझनों के कारण सन १९६५ या इससे पहले की तारीख बाँधना ठीक नहीं था। परन्तु महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि इस बीच व्यक्तियों के लिए हिन्दी सीखना क्यों नहीं सम्भव हो सका। देश में महत्त्वपूर्ण राजनेता या संसदसदस्यों ने संविधान के प्रति अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी का इस्तेमाल करने की कसम खायी है। वे इससे बँधे हुए भी हैं क्योंकि राष्ट्र इसके लिए उन्हें पैसा देता है। लोहिया के अनुसार संविधान के प्रति अपनी इस कसम को उन्होंने बडी ही निर्ममता से तोडा है। अत: इस कसम को फिर से तोडने के लिए अंग्रेजी समाप्त करने की तारीखें न बढानी चाहिए। इस प्रकार सरकार की नीति स्पष्ट नहीं हैं। एक बात इस के संबंध में और उल्लेखनीय है कि हमारे विधान में यह लिखा हुआ है कि यदि राष्ट्रपति चाहे तो इस अवधि को बढा भी सकते हैं। हमारे हालात यह बता रहे हैं कि अंग्रेजी अभी कायम रहेगी ही। ''तमिलनाडू में आन्दोलन होते हैं, जुलूस निकलते हैं कि हिन्दी की साम्राज्यशाही खत्म हो। ऐसा इसलिए हो रहा है कि दिल्ली की सरकार ने इसका मामला बिगाड दिया है। देशी-भाषाओं में कोई आपसी झगडा नहीं। हिन्दी का झगडा भारत की अन्य भाषाओं, तमिल, तेलगु आदि से नहीं बल्कि अंग्रेजी से है। नकली झगडे को खत्म करो। बिना अंग्रेजी खत्म किए, सुधार हो ही नहीं सकता। इसको फौरन स्कूल, न्यायालय, आदि से हटा देना चाहिए। पुराने लोग, चोटी, जनेऊधारी लोग हिन्दी को नुकसान पहुंचा रहे हैं। हिन्दी का पेट बडा होना चाहिए। उसमें तमिल, तेलगू आदि देशी भाषाओं के शब्दों को प्रवेश मिलना चाहिए। ऐसा करने पर हिन्दी देश और लोक की भाषा बन कर रहेगी।''[२३]

उपरोक्त विवेचन से उतना तो स्पष्ट है कि सरकारी नीति तथा आबादी के कुछ

अल्पमत वाले ही इस भाषा समस्या को दिनानुदिन और भी जटिल बनाते जा रहे हैं। इस दिशा में अनेकों दलीलें दी जा रही हैं कि क्यों अंग्रेजी को कायम रखा जाय तथा अपनी लोकभाषाओं में क्या-क्या खामियाँ हैं । इस संबंध में अगर हम अंग्रेजी भाषा के परिप्रेक्ष्य में लोकभाषाओं का विश्लेषण करें तो पायेंगे कि इस सामन्ती भाषा को न समाप्त करने के लिए जितने भी तर्क पेश किए जा रहें उनमें कोई भी तार्किक परिपक्वता नहीं हैं । यह सही है कि हमारी लोकभाषाएँ गरीब हैं; परन्तु ये धनी तो व्यवहार में आने के बाद ही बन पायेंगी । अगर हमारी भाषाएँ गरीब हैं भी तो उस स्तर की नहीं जैसी कि इसके बारे में कहा जाता है । प्रारम्भ में सभी भाषाएँ गरीब होती हैं । उसके इस्तेमाल से ही भाषा में रौनक आती है । अगर हम अंग्रेजी पर ही गौर करें तो पायेंगे कि उसकी तरक्की पहले शब्दकोष या पारिभाषिक शब्दों के निर्माण से नहीं हुई है, बल्कि उसके व्यवहार तथा प्रयोग से । पहले शेक्सपीयर आदि पैदा हुए हैं, तब जाकर अंग्रेजी भाषा में कितने प्रकार की टीकाएँ बनी हैं । शब्दकोष तथा टीकाएँ आदि भाषा के इस्तेमाल के साथ-साथ- होते रहते हैं । भाषा के इस्तेमाल होने से शब्द मँजते हैं। जितने ही शब्दों का व्यवहार होता है उतनी ही भाषा में प्रखरता आती है, नये-नये शब्दों का आविष्कार होता है, पारिभाषिक शब्द गढ़े जाते हैं । अगर किसी भाषा का इस्तेमाल ही न किया जाय तो कैसे उस भाषा का विकास सम्भव है ? अगर हम दुनिया की अन्य भाषाओं की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करें तो पायेंगे कि उन सभी भाषाओं का विस्तार उसके इस्तेमाल से ही संभव हो पाया है तथा वह भाषाएँ धनी हो पायी हैं । चाहे वह रूसी, फ्रेंच, जर्मन या जापानी हो । पहले ही भाषा का शुद्ध शब्दकोष बना लेने के बाद उसका इस्तेमाल नहीं किया गया है ।

यह बात भी गलत है कि हमारी लोकभाषाओं के पास शब्दों की कमी है । हमारी लोकभाषाओं के पास अंग्रेजी से ३ गुना अधिक शब्द हैं । कमी केवल इस बात की है कि उनमें जंग लग गया है । वे मँजे हुए नही हैं । पिछले तीन-चार सौ वर्षों से उनका इस्तेमाल नहीं हुआ है । परिणामस्वरूप उन शब्दों का मतलब कुछ दुलमुल हो गया है । तथा इस आधुनिक जीवन की जरूरतों में उनका इस्तेमाल पूरी तौर पर नहीं हो पाता है । इस संबंध में मुख्य बात यही है कि "नाच न जाने तो आँगन टेढा" । डा. लोहिया के ही शब्दों में "हिन्दुस्तानी में ६ से ७ लाख तक शब्द हैं, जबकि अंग्रेजी में सिर्फ इससे आधे हैं । अंग्रेजी में समास बनाने की क्षमता खत्म हो गयी है। जिसका मतलब होता है नये शब्दों को गढना, जब कि हिन्दी और भारतीय भाषाओं में सबसे ज्यादा [illegible] सम्पन्नता है । लगातार उनकी अक्षमता की बात करते रहना महज बकवास

है। दुनिया दिन पर दिन जटिल बनती जा रही है और ऐसी दुनिया के मामलों से लम्बे अरसे तक गैर-इस्तेमाल के कारण उनके शब्दों के अर्थ निःसंदेह कुछ ढीले हैं। उन शब्दों और इन मामलों को फौरन गूँथना चाहिए। चाहे किसी कारण से क्यों न हो, देर करने से नुकसान होगा। पाठ्य पुस्तकों की ओर अनुवाद की कमी का तर्क बेहद वाहियात है। आमतौर पर यह सही नहीं है। हर हालत में कॉलेज अध्यापकों की इतनी बडी फौज से, जो करीब एक लाख की होगी, कहा जा सकता है कि अनुवाद करो या बरखास्त हो जाओ। उनमें इच्छाशक्ति नहीं है। सम्भावनाएँ तो बहुत हैं। अंग्रेजी नहीं हटायी जा रही है, इसलिए नहीं कि भारतीय भाषाएँ निर्धन या अक्षम हैं, बल्कि इसलिए कि अंग्रेजी हटाने की तबियत नहीं है।''[१३]

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि भाषा का व्यवहार या प्रयोग ही उसे विकसित करता है। यह भी साफ है कि जो लोग अपनी भाषा का इस्तेमाल करना नहीं जानते वे परायी भाषा का व्यवहार क्या सही ढंग से कर पायेंगें ? डा. लोहिया के अनुसार जिस प्रकार बच्चा अपनी माँ के साथ ही अच्छे ढंग से खेल सकता है ठीक उसी प्रकार लोग अपनी भाषा के साथ ही अच्छे ढंग से खेल सकते हैं। खेलनेवाला अपनी जबान का आदमी हो तभी खेल का मजा भी आता है। अतः हिन्दुस्तानी लोग तेलगु, हिन्दी, उर्दू बंगाली या मराठी के साथ ही खेल सकते हैं। उसमें नया रंग डाल सकते हैं, जान डाल सकते हैं। अतः डा. लोहिया का कहना था कि कुछ मायने में तो हमारी भाषाओं के ''शब्द बहुत आगे बढे हुए हैं। मिसाल के लिए वे कहते हैं कि गद्दी पर बैठने के पहले त्यागी और गद्दी पर बैठने के बाद भोगी। त्यागी और भोगी ये दो शब्द हैं। मैं कहना चाहता हूँ कि अंग्रेजी का जो सबसे बडा विद्वान हो वह त्यागी और भोगी के लिए इसी तरह के एक-एक शब्द बतला दे। यह असम्भव है, क्योंकि वह भाषा इस तरह की नहीं हैं। उसकी अपनी जिन्दगी हैं। त्यागी और भोगी के लिए उसको पूरे दो वाक्य लगाने पडेंगे।.........आज भी अपनी भाषाएँ धनी हैं। आरोग्यशास्त्र, दवाईशास्त्र, इंजीनियरी वगैरह में इसी तरह से, अपनी भाषाओं के शब्द माँजने हैं, उनके अर्थ निश्चित करने हैं। कैसे करोगे ? कमेटियाँ बैठाकर शब्दकोष बनाने से नहीं, बल्कि उनका इस्तेमाल करके।''

इस संबंध में एक बात यह भी उल्लेखनीय है कि प्रायः भारतीय यह समझते हैं कि भारत के बाहर अंग्रेजी ही एकमात्र भाषा है। वस्तुतः अंग्रेजी का विकास तो अमेरिका की तरक्की के बाद हुआ । इससे पहले तो फ्रांसीसी भाषा का बोलबाला था। इसमें कोई शक नहीं है कि वर्तमान युग में रूसी तथा अन्य कई भाषाएं भी

तरक्की के शिखर पर चढ रही हैं । परन्तु, इस सम्बन्ध में यह बात याद रखनी चाहिए कि दुनिया की सात-आठ भाषाओं, जिन्होंने आन्तर्राष्ट्रीय भाषा बनने की कोशिश अपने ताकत के बल पर की पर पूरी तौर पर बन न पायी । ऊपर जाकर वह नीचे गिरा दी गयी । इस प्रकार अंग्रेजी आंतर्राष्ट्रीय भाषा कभी भी नहीं बन पायेगी ।

अपनी भाषा के सम्बन्ध में यह तर्क दिया जाता है कि विज्ञान एवं गणित जैसे विषयों में पारिभाषिक शब्दों की कमी है । अत: अंग्रेजी की आवश्यकता प्रबल है। जापान में भी ऐसी समस्या उठी थी परन्तु जापानी सरकार ने अपनी ही भाषा में ज्ञान प्राप्त करने की अनिवार्यता को लागू कर दिया । फलत: वहाँ काफी प्रगति हुई । रूस में भी ऐसी समस्या आयी थी, परन्तु रूसी पुनर्जागरण के समय कोई भी डर से इस बात को बोल न सका कि रूसी में शब्द नहीं है इसलिए विज्ञान की पढाई फ्रांसीसी या जर्मन में हो । इसका परिणाम हुआ कि रुस ने विज्ञान के मामले में काफी प्रगति की । जब यह समस्या भारत के सामने आयी तो यहाँ के लोग अमेरिका और इंग्लस्तान ज्ञान हासिल करने के लिए गये । क्योंकि उनके अनुसार विज्ञान को तो अंग्रेजी जैसी धनी भाषा में ही सीखा जा सकता है । हमारी लोकभाषाएँ तो गरीब हैं । इनमें विज्ञान कैसे सीखा जा सकता है? इसका परिणाम यह हुआ कि आज इतने वर्षो के बाद भी रूस अंतरिक्ष में एक से एक प्रयोग करने में सफल होता जा रहा है वहीं भारत के द्वारा छोडी गयी राकेट बंगाल की खाडी में गिरती जा रही है । कहने का अर्थ यह है कि अपनी भाषा के न प्रयोग के कारण कोई भी राष्ट्र सभी पहलुओं पर पिछडता जाता है । भाषा का राष्ट्र के विकास से बडा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है । अत: यह कहना कि हिन्दी में किताबें नहीं हैं, शब्द नहीं हैं ; बिल्कुल उचित नहीं है । लोहिया के शब्दों में, "कुछ लोग कहते हैं कि हिन्दी इस योग्य नहीं, उसमें शब्द नहीं । यह सवाल जापान में भी उठा था, लेकिन वहाँ की सरकार ने साफ कहा कि जापानी भाषा का प्रयोग किया जाय, वैज्ञानिक शब्दावली चाहे जो कुछ भी हो । दूसरी भाषाओं से पारिभाषिक शब्द लिये गये । आज नाई भी लिखता है– "फैन्सी हेयर ड्रेसेस सैलून" और "मरचेन्ट एसोसिएशन" के भी नामपट दिखायी देते हैं । यह नामपट हिन्दी और उर्दू में होने चाहिए ।––– अगर तमिलनाडू वालों को इजाजत होती कि वे दिल्ली को तमिल में लिखते और दिल्ली के लोग उनको हिन्दी में लिखते तो आज भाषा का प्रश्न एक तरह से हल हो जाता ।"[१५] इसलिए वक्त का तकाजा यह है कि अंग्रेजी खत्म हो तथा उसकी जगह पर देश की अपनी भाषाएँ आ जाएँ।

अलग-अलग प्रदेशों में काम उनकी अपनी प्रादेशिक भाषा में चलना चाहिए। शुरू में लोग भले ही तेलगु और तमिल की जिद्द पर अडे रहे, परन्तु अन्ततोगत्वा वे रास्ते पर आ जायेगें तथा हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में अपना लेंगे।

हिन्दुस्तान की एकता को कायम रखने के लिए भी हिन्दी को राष्ट्रभाषा को स्वीकार करना परम आवश्यक है। इस पर किसी प्रकार का समझौता नहीं किया जा सकता है। अगर किसी इलाके के लोग इस नीति को नहीं मानें तो उन्हें अपना काम अपनी ही लोकभाषा में करने की पूरी तौर पर छूट होनी चाहिए। एक ही नीति पर समझौता किया जा सकता है कि अंग्रेजी को हटाया जाय तथा देशी भाषाओं को विकास का अवसर मिले।

हिन्दी की ही तरह उर्दू भी भारत की है। इसका भी वही रुतवा होना चाहिए जो कि अन्य लोकभाषा का है। डा. लोहिया के अनुसार हिन्दी और उर्दू एक ही तरह की है जैसे की सती और पार्वती। उर्दू को भी लोकभाषाओं में प्रमुख स्थान मिलना चाहिए। प्राय: सभी भारतीय वर्णमालाओं की ध्वनि ९९ प्रतिशत और आकृति ८० प्रतिशत के ऊपर समान है। लोहिया के अनुसार "अक्षर की ध्वनि और उसकी आकृति ही किसी वर्णमाला को अपना विशिष्ट रूप देते हैं।" भारतीय वर्णमालाओं के अत्यन्त बहुसंख्यक अक्षर ध्वनि में ठीक एक जैसे हैं बहुत थोडे अक्षर, जो अन्य अक्षरों से भिन्न हैं, प्रतिभावी ध्वनि को ही व्यक्त करते हैं। दरअसल यूरोप के विभिन्न देशों में जिस तरह रोमन वर्णमाला का उच्चारण किया जाता है, इसमें कहीं ज्यादा विभेद है और फिर भी अब तक किसी विद्वान ने यह उक्ति नहीं दी कि रोमन वर्णमाला एक नहीं है। उदाहरण के लिए, जर्मन का "ए" अंग्रेजी की अपेक्षा ध्वनि में नागरी "अ" से ज्यादा करीब है। भारत की वर्णमालाओं के सभी स्वर "अ, आ" से अपने उद्गम के भाषा क्षेत्रों के अनुसार ध्वनि को नियोजित करने वाले उसके व्यंजन वर्ग "क, च, ट, त, प, र" से शुरू होते हैं। तमिल वर्णमाला न सिर्फ अपवाद नहीं है, बल्कि उसकी तीन चौथाई से ज्यादा ध्वनियाँ नागरी और भारत की और किसी वर्णमाला की ध्वनियों के ही समान है। जिस तरह महाराष्ट्र में नागरी लिपि में कुछ और अक्षर जुड गये है, उसी तरह तमिल लिपि में कुछ अक्षर अधिक हैं। फिर, तमिल लिपि ने कुछ नागरी अक्षर छोड भी दिए हैं। भारतीय वर्णमालाओं की ध्वनि में समानता का यह चमत्कार बहुत हद तक उसकी आकृति में भी प्रतिबिंबित होता है किन्तु काल और दूरी ने भी उनके साथ कुछ खेल खेलें हैं। उनकी आकृति, खास कर दक्षिण में, पहली बार देखने पर अलग प्रतीत होती है, किन्तु गौर से देखने पर उनमें समानता झट स्पष्ट हो जाती

है । भारतीय अक्षरों की समानता, एक ही भारतीय वर्णमाला के इस तथ्य के प्रति भारतीय विद्वानों की आँखें जो बन्द हैं, उसका कारण सिर्फ उनकी मूढमति नहीं है। लगता है कि कुछ पाजी शक्तियाँ क्रियाशील हैं ।'' [१६]

उपरोक्त विश्लेषण से इतना तो स्पष्ट है कि भारत की विभिन्न वर्णमालाओं के सम्बन्ध में ज्ञान के अभाव के कारण ही कुछ सुधारकों ने रोमन लिपि की सिफारिश की है, तथा राष्ट्र को भयानक बर्बादी के कगार पर पहुँचा दिया है । शिक्षा का यह अर्थ कदापि नहीं है कि लोगों को विदेशी भाषा पढाकर हैरान किया जाय बल्कि उन्हें आवश्यक ज्ञान दिया जाय । अत: लोहिया कहते हैं कि दुनिया की सभी लिपियों से नागरी लिपि सबसे ज्यादा वैज्ञानिक है । सामाजिक उपादान के रूप में वैज्ञानिकता का महत्त्व उसकी मान्यता पर निर्भर करता है तथा मान्यता ज्यादातर शक्ति और सत्ता पर आश्रित है ।

हिन्दी, डा. लोहिया के विचार में, सबसे सरल और सरस भाषा है । सरलता के दो अर्थ होते हैं । एक यह कि उस भाषा में शब्दों की संख्या सीमित कर दी जाय तथा दूसरी वह भाषा बहुजन समुदाय की समझ में आए । इस सम्बन्ध में डा. लोहिया कहते हैं ''मैं सरल और सरस को प्राय: सम अर्थ समझता हूँ, पूरा नहीं। भाषा को सरल या सरस प्रशासक और विद्वान नहीं बनाया करते । जैसे और मामलों में वैसे इसमें, समय बलवान है । समय के साथ-साथ कोई अद्वितीय प्रतिभा वाला गायक, लेखक या भाषक अपना रस-रत्न डालता है । इसलिए सरकार की शब्दकोष नीति मुझे न सिर्फ अटपटी लगी, बल्कि बदनीयत । अगर सरकार विद्वानों की मंडलियाँ बिठाती, डाक्टरी, इंजीनियरी, विज्ञान वगैरह के शब्द हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के इस्तेमाल के लिए, एक सहायक कार्य के रूप में, तो मुझे विशेष एतराज न होता, लेकिन यह सहायक कार्य न होकर आवश्यक कार्य हो गया। पहले शब्द निर्माण हो, तब अंग्रेजी हटे । दुनिया में ऐसा न कभी हुआ और न कभी होगा। भाषा की पहले प्रतिष्ठा होती है, तब उसका विकास हुआ करता है । मूर्ख अथवा देशद्रोही ही चाह सकता है कि भाषा का पहले विकास हो तब उसकी प्रतिष्ठा की जाए ।'' [१७]

डा. लोहिया के अनुसार देश का कार्य किस भाषा में हो यह दायित्व विशुद्ध रूप से राजकीय है । यह लोक-इच्छा का प्रश्न है । हिन्दी के प्रचारक हिन्दी के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह नहीं कर रहे हैं । वे लोग सरकार द्वारा बिक चुके हैं । वस्तुत: हमारे देश की जीभ कट चुकी है । इसकी जीभ जोडे विना देश की एकता

सम्भव नहीं है। जब हमारे भारतमाता की जीभ जायेगी तभी इससे सरल या क्लिष्ट शब्द निकल पायेंगे। इसका निर्णय काल करेगा। शर्त यही है कि हम समय के साथ चलें।

व्याख्याता दर्शनशास्त्र विभाग
एम. आर. एम. महाविद्यालय, दरभंगा
ल. ना. मि. विश्वविद्यालय, दरभंगा (बिहार)

राजवंश यादव

टिप्पणियाँ

१. डा. राम मनोहर लोहिया, "लोहिया के विचार", सं. ओंकार शरद, पृ. १६७
२. वही पृ. १३५
३. वही पृ. १३५-३६
४. वही पृ. १३६
५. वही पृ. १३८-३९
६. डा. राम मनोहर लोहिया, "भारत माता-धरती माता : राम मनोहर लोहिया के सांस्कृतिक लेख," सं. ओंकार शरद. पृ. १९६
७. वही पृ. १९४
८. वही पृ. १८७-८८
९. वही पृ. १८२-८३
१०. वही पृ. १८३-८४
११. डा. राम मनोहर लोहिया, "लोहिया के विचार" स. ओंकार शरद, पृ. १६९
१२. डा. राम मनोहर लोहिया, "भारत माता-धरती माता: राम मनोहर लोहिया, के सांस्कृतिक लेख," सं. ओंकार शरद.
१३. डा. राम मनोहर लोहिया, "लोहिया के विचार" स. ओंकार शरद. पृ. १४२-४३
१४. वही पृ. १४८-४९

१५. डा. राम मनोहर लोहिया, ''भारत माता-धरती माता : राम मनोहर लोहिया के सांस्कृतिक लेख,'' सं. ओंकार शरद. पृ. १९०

१६. वही पृ. १५८-५९

१७. डा. राम मनोहर लोहिया, ''लोहिया के विचार'' स. ओंकार शरद, पृ. १७७

परिचर्चा में

परामर्श (हिन्दी) मार्च-मई-२००० में 'राष्ट्रवाद एवं धर्म निरपेक्षता का अन्तर्विरोध' लेख पढा। नि:संदेह लेखक का विचार सुग्राह्य है कि राष्ट्र का नागरिक और चिन्तक होने के नाते दार्शनिकों को ऐसे विषयों पर भी गंभीर चिन्तन करना चाहिए। लेकिन इस बात का ध्यान रखना दार्शनिक के लिए आवश्यक है वह सैद्धान्तिक पक्ष में अत्यन्त स्पष्ट हो, सामायिक होते समय उपदेशक के बजाय 'विचारक' हो। उक्त लेख में सैद्धान्तिक स्पष्टता के बजाय अस्पष्टता और विचारक की जगह उपदेशक परिलक्षित होता है।

राष्ट्रवाद - लेख के अनुसार 'एक विचारधारा और राजनैतिक सिद्धान्त है जो राष्ट्रीय अलगाव की तरफदारी करता है, व्यक्ति राष्ट्रों की अनन्यता, राष्ट्रों के बीच भ्रामक तथा हिंसक संबंध का विचार रखता है। यह विचार धारा.... मानवीय गुणों, श्रम एवं सोच को भी विभाजित करती है। राष्ट्रवाद दूसरे राष्ट्रों, धर्मों तथा अपने सिद्धान्त के अनुकूल न दिखने वाले आदर्शों के प्रति असहिष्णु और आवेगात्मक विचार होता है। यह विस्तारवादी साम्राज्यवादी विचारधारा है और यही कारण है राष्ट्रवाद चाहे राजनैतिक हो, धार्मिक या आध्यात्मिक राष्ट्रवाद हो अन्ततो उसका निष्कर्ष एनार्किज्म में होता है।' (पृष्ठ ७९)

भारतीय प्रजातंत्र की प्रशंसा के संदर्भ में लेखक लिखता है 'राष्ट्रवाद हमारी धर्म निरपेक्षता एवं जननी जन्मभूमिश्च.... की संस्कृति के सर्वथा विरुद्ध होने से त्याज्य है... (पृष्ठ ८३)

'राष्ट्रवाद' पर उपर्युक्त टिप्पणियों के अनुमोदन के लिए राष्ट्र, राष्ट्रीयता, राष्ट्रवाद आदि पर किसी भी विचारक को उद्धृत नहीं किया गया। मात्र एक उद्धरण था जो सर्वथा असंदर्भित था। उद्धरण 'फासीवाद' से संबंधित था। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने फासीवाद को ही राष्ट्रवाद समझ लिया। भारतीय समाज के संदर्भ में फासीवाद, नाजीवाद आदि बिल्कुल प्रासंगिक नहीं हैं। राष्ट्रवाद पर लिखने से पूर्व इस संबंध कुछ साहित्य का अध्ययन अवश्य करना चाहिए और भारत के समाज अथवा

राष्ट्र के मूलभूत तथ्य को समझने का प्रयास करना चाहिए ।

अर्नेस्ट रेनन के अनुसार 'राष्ट्र एक जीवन्त आत्मा है, एक आध्यात्मिक सिद्धांत है । इस आत्मा की संरचना दो तत्वों से होती है जिनमें से एक अतीत मूलक और दूसरा वर्तमान मूलक है । किसी समुदाय की सामूहिक विरासत, स्मृतियाँ (अतीत) और विरासत के संरक्षण का संकल्प तथा साघ-साथ रहने की सामान्य स्वीकृति (वर्तमान) राष्ट्र की संकल्पना में मूल हैं । कार्लटन हेज के अनुसार "एक राष्ट्र ऐसे लोगों का समुदाय होता है जो एक सामान्य भाषा बोलते हों, जिनकी सामान्य ऐतिहासिक परंपराएँ हैं और जिनका एक अलग विशिष्ट सांस्कृतिक समाज बन गया है या कम से कम ऐसा सोचते हों, जिसके निर्माण में दूसरी बातों के साथ धर्म और राजनीति ने महत्वपूर्ण भाग लिया हो ।"

लेखक ने राष्ट्र, राष्ट्रीयता, राष्ट्रप्रेम और राष्ट्रवाद के बीच तथा राष्ट्र और राज्य के बीच अन्तर को ध्यान में नहीं रखा । परिणाम स्वरूप उन्हें धर्मनिरपेक्षता और राष्ट्रवाद में अन्तर्द्वन्द्व दिखलाई पडा । धर्म निरपेक्षता का (इहलोकवाद के अर्थ में) राष्ट्र से या राष्ट्रवाद से कोई विरोध नहीं होता । राज्य अवश्य धर्म निरपेक्ष, धर्म सापेक्ष हो सकता है और यहाँ राज्य के लिए धर्म-निरपेक्षता ही युक्तिसंगत आदर्श होता है । सर्वधर्मसमभाव के अर्थ में धर्मनिरपेक्षता भारत का सामाजिक और संवैधानिक आदर्श है । यह आदर्श अत्यन्त प्राचीन काल से ही भारतीय जनमानस में ग्राह्य रहा है । इसलिए भारत के संदर्भ में राष्ट्रवाद और धर्म निरपेक्षता में कभी अन्तर्द्वद्ध या अन्तर्विरोध नहीं रहा और न ही आज है । लेखक की यह भ्रांति राष्ट्रवाद को न समझ पाने के कारण है । राष्ट्रनिर्माण के संदर्भ में निम्नलिखित बिन्दुओं पर विचार किया जाय तो उक्त प्रकार के भ्रम का निराकरण हो जाएगा :-

१) कोई भी जनसमुदाय अतीतमूलक ऐक्य, भविष्योन्मुख वर्तमान ऐक्य युक्त हो तो वह एक राष्ट्र हो जाता है जिसका एक 'राज्य' होता है । राज्य एक से अधिक भी हो सकते हैं ।

२) राष्ट्रीय ऐक्य को निर्मित करने वाली विरासत, अतीत की सहभागिता और भविष्य में ऐक्य संरक्षण की भावना राष्ट्रप्रेम और स्वयं को राष्ट्र का सदस्य समझना राष्ट्रीयता है ।

३) राष्ट्र की विशिष्टताओं को समझ कर उनके संरक्षण, संवर्द्धन और सम्पोषण हेतु

सचेत होकर प्रयास करना, लक्ष्य, राष्ट्र के विविध घटकों यथा-परिवार, राज्य, भूमि, साहित्य, धर्म-दर्शन, परम्पराओं आदि को प्राप्त विशिष्टताओं के अनुरूप चलाने का संकल्प - राष्ट्रवाद है।

राष्ट्रवाद कई प्रकार के हो सकते हैं। प्रजातांत्रिक राष्ट्रवाद, थियोटिक राष्ट्रवाद, नस्ल प्रधान राष्ट्रवाद आदि कुछ रूप हैं। अंतिम दो अवश्य फासीवाद और फिर अधिनायकवाद और अराजकता को जन्म दे सकते हैं (अनिवार्यता तब भी नहीं) इन में अवश्य कुछ हद तक धर्म निरपेक्षता से विरोध हो सकता है। लेकिन ऐसा 'राष्ट्रवाद' के कारण नहीं नस्लवाद, जातिवाद या सम्प्रदायवाद के कारण होता है। भारत में 'राष्ट्र' निर्माण उसके सुदीर्घ वैचारिक दार्शनिक परम्पराओं से निर्मित लक्षणों के कारण हुआ है। उसमें यदि कोई परिवर्तनशील तत्त्व रहा है 'राज्य' का स्वरूप और उसकी भूमिका। कभी एक 'राज्य' प्रभावी रहा तो कभी छोटे-छोटे कई 'राज्य'। ब्रिटिश काल में 'राज्य' की सीमा और स्वरूप कुछ स्थिर हुआ। राष्ट्र के शेष लक्षण जिनका समग्र रूप संस्कृति है - ही राष्ट्र का आधार थी और आज भी है।

यह कहना कि राष्ट्रवाद साम्राज्यवादी विस्तारवादी विचारधारा है - भी भ्रामक है। किसी विशेष प्रकार का राष्ट्रवाद ऐसा हो सकता है। यह निर्भर करता है राष्ट्रवादी 'राष्ट्र' का मूल किसे मानते हैं। जो लोग 'राज्य' को ही राष्ट्र मान लेते हैं वहाँ ऐसा संभव है, यद्यपि आज की परिस्थितियों में उनके लिए भी साम्राज्यवादी होना सीधे संभव नहीं है।

यह कहना कि राष्ट्रवाद अन्य राष्ट्रों के प्रति संघर्ष और उनके प्रति असहिष्णुता को जन्म देता है - भी अप्रमाणिक मत है। संसार में कई राष्ट्र हैं। कहीं-कहीं एक 'देश' में भी एकाधिक राष्ट्र होते हैं। उनमें सहयोग और संघर्ष एक सहज सामाजिक प्रक्रिया है। जब तक किसी राष्ट्रवादी समाज को उसकी अपनी अस्मिता के खो जाने या इतर राष्ट्र के अधीन हो जाने की आशंका नहीं होती तब तक आन्तरिक कट्टरता और बाह्य संघर्ष की स्थिति नहीं बनती। राष्ट्र, राष्ट्रवाद को भारतीय संदर्भ में उठाने वाली समस्याओं पर विस्तृत विश्लेषण के लिए परामर्श, दिसंबर १९९३ में प्रकाशित लेख 'भारत में राष्ट्र का अन्वेषण' द्रष्टव्य है।

लेख के अंतिम तीन पृष्ठों में वर्तमान भारत की जिन ह्रासोन्मुख परिस्थितियों का उल्लेख लेखक ने किया है वह न तो राष्ट्रवाद की उपज है न ही धर्म निरपेक्षता के विरोध की। यह वास्तव में राष्ट्र की भावना के सम्पोषण के अभाव और 'राज्य' को अर्थात्

राजनिति को सर्वोपरि मान लेने के कारण है । लेखक का यह कहना सही है कि 'सियासत करने वाले बहुत से लोग न तो राजनीति का सही अर्थ जानते हैं न धर्म निरपेक्षता का और न ही राषट्रवाद और राष्ट्रीयता का ।'' (पृष्ट - ८६)

इसमें कोई आश्चर्य भी नहीं होना चाहिए । चिन्तक विचारक या दार्शनिक स्वयं जब इन विवादों पर स्पष्ट न हों तब सियासत करने वालों से ऐसी अपेक्षा भी नहीं की जा सकती ।

तुलनात्मक धर्म एवं दर्शन अध्ययनशाला **बी.कामेश्वर राव**
पं.रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय, रायपुर

संपादकीय

मनुष्य का अस्तित्व उसके जीवन में विस्तारित होता है । जीने का क्रम ही उसका अस्तित्व है । जीवन के इस विस्तारित क्रम का मूल है गति, परिवर्तन और होते रहना । मनुष्य को अपने स्वरूप का ज्ञान अपनी अभिव्यक्ति से होता है और किसी भी मनुष्य के अस्तित्व का ज्ञान अन्यों को उस मनुष्य की अभिव्यक्तियों से होता है । मनुष्य हर क्षण अभिव्यक्त होता रहता है । उस के अस्तित्व का यही स्वभाव है । इस अभिव्यक्ति का सूत्र मनुष्य के क्रियाकलापों में हमें मिलता है । अस्तित्व के दो रूप हैं- होना तथा होते रहना । मनुष्य के अस्तित्व की प्रतीति उसके जीवन के होते रहने के क्रम में पायी जाती है । अपने विभिन्न क्रियाकलापों के जरिये मनुष्य का जीवन एक संतत क्रम की तरह चलता रहता है । अत: मनुष्य के होने का, उसके अस्तित्व का मूल हमें उस के कर्मों में मिलता है । हमेशा कर्म करते रहना उस के अस्तित्व का सार है और अपने को अभिव्यक्त करते रहना, परिवर्द्धीत करते रहना, परिष्कृत करते रहना यही उस का जीवन है और यही उसकी पहचान है । उस के कर्मों की प्रेरणा उस के अंतस् से जैसे फूटती है वैसे ही उस के साथ जीवन-यापन करनेवाले अन्यों से तथा जिस परिवेश में उस का जीवनक्रम चलता है उस परिवेश से उस के कर्मों की प्रेरणा उमडती रहती है । कर्मों के अनुबंध का केन्द्र उस की चेतना को परिवेष्टित करता है और कर्मों से परिवेष्टित उस की चेतना अपना व्यक्तित्व पाती है । कर्म ही उस का व्यक्तित्व बनाते हैं और उस के व्यक्तित्व से उस के कर्म निस्सृत होते रहते हैं । पूरे समाज में ऐसे अनेकों मनुष्य हैं जो एकसाथ मिलकर अपने को अभिव्यक्त करते हुए अपना जीवनक्रम बनाते जाते हैं । जिस तरह व्यष्टि का व्यक्तित्व बहुआयामी कर्मों के अनुबंध से परिवेष्टित होता है उसी तरह समष्टि का व्यक्तित्व भी बहुविध व्यक्तियों के बहुआयामी कर्मों के व्यमिश्र अनुबंध से रचा जाता है । समष्टि का व्यक्तित्व व्यष्टि के व्यक्तित्व को निर्धारित करता है और व्यष्टि का व्यक्तित्व समष्टि के व्यक्तित्व को संचालित करता है । इस तरह व्यक्ति या समाज दोनों ही चेतना का वह रिक्त अवकाश है जो बहुआयामी कर्मों के अनुबंध के बीच किसी तरह के स्पर्श बिना बचा रहता है । वहाँ पहुँचने के लिए कर्मों के बने चक्रव्यूह को भेदना पडता है और किसी

भी कर्म से अस्पृष्ट बचाकर ही उसे पाया जा सकता है । मनुष्य की प्रेरणाओं का खेल तो बस बाहरी आडंबर ही है जिस की पकड से मनुष्य की चेतना पकड में नहीं आ सकती है । इस चेतना की अविरत स्पंदमान स्वाभाविक हलचल से कर्मों की प्रेरणा निर्माण होती हो । लेकिन चेतना कर्मों की प्रेरणा से पूर्णतया मुक्त ही रहती है । मनुष्य अपने कर्मों से मुक्त नहीं हो सकता और अगर उसे अपनी चेतना को शुद्ध रूप में पाना है तो, तो उसे कर्मों के दायरे के परे ही रखना चाहिए । अत: मनुष्य को जानना इतनी आसान बात नहीं है । उसकी शुद्ध चेतना को जाने बगैर उसे जाना नहीं जा सकता और कर्मों के दायरे के परे रहकर ही उस की शुद्ध चेतना को जानना संभव है । दूसरी ओर, कर्मों के अखण्ड, अखिल प्रवाह को जानने के बिना मनुष्य के अस्तित्व की पहचान भी संभव नहीं है । अत: इन दोनों केन्द्र बिन्दुओं को लेकर ही मनुष्य तथा उस के जीवन के ज्ञान की परिधि बन सकती है । इस मूलतक पहुँचकर हम अपनी सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक समस्याओं की सुलझ कर सकते हैं।

सुभाषचन्द्र भेलके

उपनिषद् साहित्य में प्रजापति

वैदिक देवताओं में प्रजापति का स्थान सर्वोपरि है। सृष्टिकर्ता एवं प्रजाओं के पालनकर्ता के रूप में प्रजापति का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रथमत: प्रजापति शब्द के व्युत्पत्तिगत अर्थ पर विचार अपेक्षित है। 'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'जन्' धातु से 'टाप्' प्रत्यय करने पर प्रजापति शब्द सिद्ध होता है। (प्र + जन् + क + टाप् = प्रजा + पति = पा + डति > प् + अति > पति)। इस प्रकार इस शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ है, "प्रजाओं का पालन कर्ता"। निरुक्तकार यास्क ने प्रजापति शब्द का निर्वचन निम्न प्रकार किया है।

"प्रजापति: प्रजानां पाता वा पालयिता वा।
तस्यैषा भवति।"[१]

अर्थात् प्रजाओं का पालन करने से उनका नाम प्रजापति है। आचार्य शंकर ने भी छान्दोग्य उपनिषद् के भाष्य में लिखा है –

"प्रजापति: पालनात्प्रजानाम्"[२]

अमरकोश म ब्रह्मा को प्रजापति (प्रजानां पति) कहा गया है। इस कोश में प्रजापति के २१ पर्यायवाची नाम उल्लिखित हैं, यथा ब्रह्मा, आत्मभू. स्वयम्भू, हिरण्यगर्भ, पितामह, धाता, स्रष्टा, वेधा, विधाता, विश्वसृट् (विश्वसृज्), विरञ्चि, विधि... आदि। इस प्रकार मेदिनी, वैजयन्ती आदि कोश में भी प्रजापति शब्द के उपर्युक्त अर्थ की पुष्टि होती है।[३]

आचार्य शंकर के अनुसार प्रजापति पिता को कहते हैं, क्योंकि पिता से ही पुत्र की उत्पत्ति होती है –

"प्रजापति: पित्रोच्यते, पितृतो हि पुत्रोस्योत्पत्ति:।"[४]

अर्थात् समग्र सृष्टि ही उसके लिए पुत्रवत् है, क्योंकि वही इस विश्व ब्रह्माण्ड का आदि स्रष्टा एवं पालनकर्ता है।

अब यहाँ कुछ प्रमुख उपनिषदों में प्रजापति देवता का स्वरूप, महत्त्व एवं उनके द्वारा सृष्टि रचना तथा उससे सम्बन्धित समस्त श्रेष्ठ प्राणिओं को दिया गया उपदेश संक्षेप में प्रस्तुत है।

प्रश्नउपनिषद् में सृष्टि से सम्बन्धित प्रजापति देवता का रूपगुणानुकीर्तन के साथ उनका महत्त्व तथा उनकी उपासना करने को कहा गया है। प्रत्येक मनुष्य को प्रजापति का स्वरूप (सम्वत्सर, मास, अहोरात्र, अन्न आदि) के विषय में ज्ञान प्राप्त करने को भी उपदेश दिया गया है, जो निम्न प्रकार है।

प्रजापति को संवत्सर कहा गया है।[५] अर्थात् बारह महीनों का यह संवत्सररूप काल ही मानो सृष्टि के स्वामी परमेश्वर का स्वरूप है। संवत्सरों वै प्रजापति ... इस मन्त्र में संवत्सर को परमात्मा का प्रतीक बनाकर उसके रयिस्थानीय भोग्य पदार्थों के उद्देश्य से की जाने वाली उपासना और उसका फल बताते हैं।

"मासो वै प्रजापतिः[६]...." इस मन्त्र में महीने को प्रजापति परमेश्वर का रूप देकर कर्मों द्वारा उसकी उपासना करने का रहस्य बताया गया है। भाव यह है कि प्रत्येक माह ही मानो प्रजापति है, उसमें कृष्ण पक्ष के पन्द्रह दिन तो उस परमात्मा का दक्षिण अंग है, इसे रयि समझना चाहिये। उस प्रजापति परमेश्वर का शक्ति स्वरूप भोगमय रूप है और शुक्ल पक्ष के पन्द्रह दिन ही मानो उत्तर अंग हैं। यही प्राण अर्थात् सबको जीवन प्रदान करनेवाले परमात्मा का सर्वान्तर्यामी रूप है। अतः जो कल्याणकामी ऋषि हैं, वे निष्काम भाव से अपने समस्त शुभ कर्मों को शुक्ल पक्ष में करते हैं। इससे भिन्न जो भोगासक्त मनुष्य हैं, वे कृष्ण पक्ष में अर्थात् कृष्ण पक्ष स्थानीय स्थूल पदार्थों की प्राप्ति के उद्देश्य से विविध प्रकार के कर्म किया करते हैं।

"अहोरात्रो वै प्रजापति..." इस मन्त्र में दिन और रात का जोडा ही प्रजापति है।[७] उसका दिन ही प्राण है और रात्रि भोगरूप रयि है। मनुष्यों को अर्थात् गृहस्थों को दिन में स्त्री-प्रसंग (स्त्री-सहवास) कदापि न करने का और विहित रात्रियों में शास्त्रानुसार नियमित और संयमित रूप में केवल संतान की कामना से स्त्री-सहवास करने का उपदेश दिया गया है। इस प्रश्न उपनिषद् में अन्न को ही प्रजापति कहा गया है, यथा -

"अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त"[८]

उपर्युक्त मन्त्र में अन्न को प्रजापति का स्वरूप बताकर अन्न की महिमा बतलाते हुए कहते हैं कि यह सब प्राणियों का आहार रूप अन्न ही प्रजापति है, क्योंकि इसी से वीर्य उत्पन्न होता है और वीर्य से समस्त चराचर प्राणी उत्पन्न होते हैं। अतः इस अन्न को भी प्रकारान्तर से प्रजापति माना गया है। अब

उपनिषद्कार कहते हैं कि प्रजापति व्रत को नियमपूर्वक पालन करने वाले मनुष्यों को ब्रह्मलोक प्राप्त होता है –

"तद्ये ह वै तत्प्रजापतिव्रतं चरन्ति ते मिथुनमुत्पादयन्ते । तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् ।"[९]

उपर्युक्त मन्त्र का अभिप्राय है कि जो मनुष्य सन्तानोत्पत्तिरूप प्रजापति के व्रत का अनुष्ठान करते हैं, अर्थात् स्वर्गादि लोकों के भोग की प्राप्ति के लिए शास्त्र विहित शुभकर्मों का आचरण करते हुए नियमानुसार स्त्री-सहवास आदि भोगों का शक्ति अनुसार उपभोग करते हैं, वे तो पुत्र और कन्यारूप जोडे को उत्पन्न करके प्रजा की वृद्धि करते हैं और जो उनसे सर्वदा भिन्न हैं, जिनमें ब्रह्मचर्य और तप भरा हुआ है तथा जो सत्य स्वरूप प्रजापतिरूप परमेश्वर को अपने हृदय में नित्य अवस्थान देखते हैं, उन्हीं को वह परमपद ब्रह्मलोक प्राप्त होता है, इससे भिन्न मनुष्यों को नहीं ।

प्रसंगवश बृहदारण्यक उपनिषद् में प्रश्न किया गया है "कतमः प्रजापति"? अर्थात् प्रजापति कौन है ? इसके उत्तर में कहा गया है – "यज्ञः प्रजापतिरिति"[१०] अर्थात् यज्ञ प्रजापति है । यहाँ यज्ञ कौन है ? उत्तर में उपनिषद्कार कहते हैं – "यज्ञ पशवः" इति । अर्थात् पशुगण यज्ञ है । कारण पशु यज्ञ के साधन हैं, यज्ञ रूपरहित है, और पशुरूप साधन के अधीन है । अतः पशु ही यज्ञ है – ऐसा कहा जाता है । यहाँ प्रश्नकर्ता शाकल्य ऋषि थे एवं उत्तर देने वाले ऋषि याज्ञवल्क्य थे ।

प्रजापति एवं (विविध) सृष्टि :

"सृष्टि करना प्रजापति देवता का प्रमुख कार्य है । आज जो भी (सृष्टिगत) पदार्थ दृश्यमान हो रहा है यह सब इस दिव्य देवता का विशेष गुण का द्योतक मात्र है । यह चतुर्दश भुवन तथा उसमें स्थित समस्त दृश्यमान एवं अदृश्यमान स्थावर एवं जंगम आदि समस्त जात पदार्थों का स्रष्टा प्रजापति ही है । देवता, मनुष्य, गन्धर्व, राक्षस, विभिन्न प्राणी वर्ग, नदी, समुद्र, पर्वत, वृक्ष वनस्पति, पंचमहाभूत, पंचवायु, समस्त इन्द्रिय, समस्त विद्या, कला, कर्म एवं अन्य समस्त भोग्य वस्तुएँ--यह सब प्रजापति की ही देन है । अर्थात् प्रजापति ही सचमुच हमारे परमपिता (स्रष्टा) है । अब उनकी सृष्टि रचना के विषय में विशेष वर्णन प्रस्तुत है ।

प्रश्न उपनिषद् में कहा गया है – "प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत

स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते । रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति ।''[११]

अर्थात् प्रजापति को सृष्टि के आदि में जब प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा हुई, तब उन्होंने संकल्परूप तप किया । तप से उन्होंने सर्वप्रथम रयि और प्राण - इन दोनों का युग्म (जोडा) उत्पन्न किया । उसे उत्पन्न करने का उद्देश्य यह था कि ये दोनों मिल कर नाना प्रकार की सृष्टि उत्पन्न करेंगे । यहाँ रयि से तात्पर्य अभिव्यक्त, स्फुरित, उत्पादन क्षेत्र, विकासक्रमगत प्रकृति से है । रयि ही विश्व-वृक्ष के उत्पन्न होने की भूमि है । रयि वह धन है, वह माया है जिससे गुणत्रयी का सर्वव्यापार चलता रहता है । और प्राण जीवन को, शक्ति को, बीज को, उत्पादन बल को और चेतन को समझना चाहिए । रयि तथा प्राणरूप युग्म से ही सृष्टि की रचना हुई और हो रही है । अत: प्राण और रयि के संयोग से ही सृष्टि का समस्त कार्य संपन्न होता है । इन्हीं को अन्यत्र अग्नि और सोम के नाम से भी कहा गया है (अग्निसोमात्मकं जगत्) ।

इस सृष्टि के सन्दर्भ में मैत्रायणी उपनिषद्[१२] में कहा गया है कि सृष्टि के प्रारम्भ में प्रजापति ने तप किया । उनके तप के प्रभाव से भू (पृथिवी), भुव (अन्तरिक्ष) एवं स्व (स्वर्गलोक), इन तीन लोक का सृजन हुआ । इस उपनिषद् में प्रजापति को एक पुरुष मान कर उनके सिर को स्वर्गलोक, नाभि को अन्तरिक्ष लोक एवं पाद को पृथिवी लोक से चित्रित (अलंकृत) किया गया है । इस उपनिषद् में अन्यत्र कहा गया है कि सर्वप्रथम प्रजापति ही विद्यमान थे । उन्होंने तप किया । तत्पश्चात् उनके तपस्या के प्रभाव से प्रजा उत्पन्न हुए । उनसे पंच प्राण (प्राण, अपान, समान, उदान एवं व्यान) भी उत्पन्न हुए । उन्होंने सब प्राणियों में प्रवेश होकर उनमें प्राण का संचार किया, जिससे सब प्राणवान् एवं सजीव बन गये । अतः प्राण का संचारकर्ता एवं प्राणियों का सृष्टिकर्ता स्वयं प्रजापति ही हैं ।

बृहदारण्यक उपनिषद्[१३] के अनुसार सृष्टि के प्रारम्भ में सर्वत्र आप (जल) ही था । फिर उस आपने सत्य की रचना की । स्थूल जगत् में ही सत्य अभिव्यक्त हुआ । सत्य ने ब्रह्म - अव्यक्त को दर्शाया । अत: सत्य ब्रह्म है । ब्रह्म - अव्यक्त सत्ता ने प्रजापति (विराट्, हिरण्यगर्भ) को प्रकट किया । तत्पश्चात् विराट् प्रजापति ने देवताओं को जन्म दिया । अत: वे देवजन (सत्य की) सत्यस्वरूप परमेश्वर की उपासना करते हैं । वह यह सत्य (शब्द) तीन अक्षर वाला है ।

"स" एक अक्षर है, "ति" यह एक अक्षर है, और "य" यह एक अक्षर है। इनमें "स"कार और "य"कार - अर्थात् प्रथम और अन्तिम अक्षर सत्य है और मध्य अक्षर अनृत है। अनृत मृत्यु है; क्योंकि मृत्यु और अनृत इनकी "त" कार में समानता है। अगर स्वर की दृष्टि से विचार करें तो भी "स" और अन्तिम अक्षर "य" सस्वर है, स्वर अविनाशी सत्य है। मध्य में "त" व्यंजन अनृत है--असत्य है, नाशवान है। वह यह अनृत "त" दोनों ओर से सत्य से - स्वर से अच्छी प्रकार पकडा हुआ सत्यरूप ही हो जाता है। अर्थात् व्यंजन अक्षर दोनों ओर के स्वरों से ही बोला जाता है: ऐसे ही सत्यस्वरूप आत्मा परमात्मा दोनों से कार्य जगत् पकडा हुआ है, इनसे स्पष्टतया अभिव्यक्त हो रहा है। इस प्रकार इस संपूर्ण अक्षर के सत्यबाहुल्य और मृत्यु रूप अनृत के अकिंचित्करत्व को जो पूर्ण रूप से जानता है, उसे अनृत नहीं मारता, अर्थात् सत्य एवं असत्य - ऐसा भेद जानने वाले उपासक को काल नहीं मार कर सकता, कारण यह प्रजापति का अखण्ड एवं दिव्य उपदेश है, इस सत्य तत्त्व को मनन करने वाले साधु, सन्त एवं उपासक गण परम प्रजापति लोक को ही प्राप्त करते हैं, यमलोक को नहीं।

बृहदारण्यक उपनिषद्[१४] में सृष्टि से सम्बन्धित अन्य एक प्रसंग में प्रजापति देवता ने मानव सृष्टि-विस्तार (करने) के लिए--पुरुष वीर्य की स्थापना के लिए शक्ति स्वरूप स्त्री की सृष्टि की। तत्पश्चात् उनमें सन्तान उत्पत्ति हेतु (मैथुन कर्म संपादन हेतु) अधो भाग में जननेन्द्रिय (योनि) का भी निर्माण किया। प्रजापति ने इस प्रकृष्ट गतिशील प्रस्तर खण्ड सदृश कठोर जननेन्द्रिय को उत्पन्न करके स्त्री योनि की ओर प्रेरित किया एवं उस जननेन्द्रिय से इस स्त्री का सृष्टि कार्य के लिए संसर्ग किया। अत: प्रजापति ने विश्व कल्याण के लिए सृष्टि विस्तार के लिए स्त्री-पुरुष का पवित्र मैथुन कर्म से धम्मसम्मत उत्तम संतानोत्पादन के लिए तथा गृहस्थ आश्रम को परिपृष्ट एवं चरितार्थ करने के लिए इस प्रकार नानाविध रम्य सृष्टियाँ की। इससे यह भाव स्पष्ट होता है कि प्रजापति ही हमारे आदि स्रष्टा तथा विश्वनियन्ता है।

प्रजापति ने प्रजा की रचना करके कर्मों की अर्थात् कर्म के साधनभूत वागादि करणों की रचना की - "प्रजापतिर्ह कर्माणि ससृजे"[१५] इस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों का सृजन हुआ। सृष्टि के नियमानुसार आज भी यह इन्द्रियाँ अपने अपने कार्य कर रही हैं।

व्यक्त तथा अव्यक्त समस्त कला एवं विद्या का मूल स्रोत प्रजापति ही है।

अर्थात् नानाविध कलाएँ एवं विद्याएँ उस प्रजापति से ही उत्पत्ति हुई हैं। प्रजापति सोलह कलाओं वाला है (प्रजापतिः षोडशकलः)[१६]। यह संवत्सर काल स्वरूप प्रजापति की रात्रियाँ - अहोरात्र अर्थात् तिथियाँ ही पन्द्रह कलाएँ हैं। इसकी सोलहवीं कला ध्रुवा नित्य (अपरिवर्तनीय) ही है। वह रात्रियों के द्वारा ही शुक्ल पक्ष में वृद्धि को प्राप्त होता है तथा कृष्ण पक्ष में क्षीण होता है। वह काल स्वरूप प्रजापति अमावस्या की रात को इसी ध्रुवरूपा सोलहवीं कला से इस सारे प्राणधारी जगत में प्रवेश करके उससे प्रातः उत्पन्न होता है। सोलहवीं कला ही वास्तविक प्राण है और काल की स्थिति है। अतः उपदेश दिया गया है कि इस रात्रि में किसी प्राणी के प्राण का विच्छेद न करें, यहाँ तक कि इसी देवता की पूजा के लिए विशेषतः इस रात्रि में गिरगिट का भी बलिदान न करें, अर्थात् प्राणियों का बलिदान करना देवता पूजन न माने यह तात्पर्य है। यहाँ अमावस्या रात्रि में प्राणी (जीव) का वध न करने के लिए कहा गया है। भाष्यकार शंकराचार्य के अनुसार श्रुति का यह विशेष वचन[१७] सोमदेवता की पूजा करने के लिए है, अर्थात् अमावस्या की रात्रि में सभी प्राणियों में सोम देवता व्याप्त रहते हैं, अतः उस दिन किसी भी जीव को कष्ट न दे, यह कहकर यहाँ सोम देवता का सम्मान किया गया है, इससे हिंसा का विशेष विधान समझना भ्रम है। इस कथन से यह स्पष्ट हो रहा है कि समस्त कलाओं को सृजन करने वाले प्रजापति देवता ने पूजा के लिए (विशेष तिथियों में) प्राणी हिंसा न करने के लिए उपदेश दिया है। वास्तविक कला से सम्बन्धित यह विषय अत्यन्त ज्ञानप्रद एवं सर्वग्राह्य है।

उस परमेश्वर प्रजापति से वेदादि त्रयी विद्या और व्याहृतियों की उत्पत्ति हुई। इस रहस्य को छान्दोग्य उपनिषद् में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है -

"प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्, तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी विद्या संप्रास्रवत्।
तामभ्यतपत्, तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि संप्रास्रवन्त, भूर्भुवः स्वरिति"।[१८]

उपर्युक्त वचनों का यह भाव है कि प्रजापति ने लोकों के उद्देश्य से ध्यान रूप तप किया। उन अभितप्त लोगों से (ऋक्, यजु, साम रूपक) त्रयी वेद विद्या की उत्पत्ति हुई। उसको प्रजापति ने मंथन किया। उस मंथन की गई विद्या से ये भूर्भुवः स्वः तीन अक्षर प्रकट हुए। ये तीन अक्षर समस्त विद्या का साररूप हैं। ये व्याहृतियाँ ही बीजवाक्य हैं।

अब "ओऽम्"कार की उत्पत्ति कैसे हुई इस सम्बन्ध में छान्दोग्य उपनिषद्

कहता है –

"तान्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्य ऊँकार: संप्रास्त्रावत्तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णान्येवमोङ्कारेणसर्वा वाक्संतृण्णोङ्कार एवेदंसर्वमोङ्कार एवेदं सर्वम्।"[१९]

अर्थात् प्रजापति ने पुन: उन अक्षरों को मथन किया। उन मथन किए हुए अक्षरों से "ओंकार" प्रकट हुआ। जिस प्रकार शंकुओं द्वारा सारे पत्ते व्याप्त रहते हैं उसी प्रकार ओंकार से संपूर्ण वाक् व्याप्त हैं। अत: ओंकार ही यह सब कुछ है। श्री शंकराचार्य ने ओंकार के विषय में अपने भाष्य में लिखा है –

"एवमोङ्कारेण ब्रह्मणा परमात्मन: प्रतीक भूतेन सर्वा वाक् शब्दजातं संतृण्णा। अकारो वै सर्वा वाक्" इत्यादिश्रुते: ।"[२०]

उपर्युक्त शांकरभाष्य का अर्थ प्रसंग की दृष्टि से युक्तियुक्त तथा ग्रहणीय है। ऊपर जो उदाहरण प्रस्तुत किया गया, यथा – "जिस प्रकार शंकुओं द्वारा संपूर्ण पत्ते व्याप्त रहते हैं", ठीक उसी प्रकार परमात्मा के प्रतीक भूत ओंकार ब्रह्म द्वारा संपूर्ण वाक् – शब्द समूह व्याप्त है, जैसा कि "अकार ही संपूर्ण वाक् है", इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता है, यह इस भाष्य का अर्थ है।

अत: प्रजापति से विविध कला, त्रयी वेद विद्या, ओंकार एवं समस्त वर्ण (अक्षर) समूह, सृष्टि के नियमानुसार प्रकट हुए। वस्तुत: हिरण्यगर्भ प्रजापति ही हमारे सृष्टिकर्ता एवं परम पिता हैं। वे ही इस संपूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड का आदि कारण तथा समस्त प्राणियों का भाग्य नियन्ता एवं शुभ फलदाता है। विश्व कल्याण के लिए, समस्त श्रेष्ठ प्राणियों को सृष्टि नियमानुसार धर्मानुमोदित सुखद मार्ग में चलकर चतुर्वर्ग फल प्राप्त करने के लिए परमपिता प्रजापति ने देव, मनुष्य और असुर तीनों को एक ही अक्षर "द" से पृथक् दम, दान एवं दया का उपदेश दिया।

देव, मनुष्य एवं असुर – "त्रया: प्राजापत्या:[२१]" तीनों प्रजापति के पुत्र थे। तीनों पुत्रों ने प्रजापति पिता के समीप जाकर ब्रह्मचर्य पूर्वक वास किया। ब्रह्मचर्यवास पूर्वक निवास करने के पश्चात् सर्वप्रथम देवताओं ने प्रजापति से कहा, "आप हमें उपदेश दीजिए। तब प्रजापति ने उनसे "द" यह अक्षर कहा और पूछा, "समझ गये क्या" इस पर देवताओं ने कहा, हम आपके अभिप्राय को समझ गये। तब प्रजापति बोले "यदि ऐसी बात है तो बताओ, मैंने क्या कहा है देवताओं ने निर्भय होकर कहा, "आप हमसे कहते हैं, दमन (इन्द्रिय निग्रह)

करो, दमनशील बनो ।'' अन्ततः प्रजापति ने कहा, ''ठीक है, तुम सम्यक् समझ गये ।''[२२]

तदनंतर मनुष्य ने कहा, ''भगवन् आप हमें उपदेश दीजिए ।'' उनसे भी प्रजापति ने ''द'' अक्षर ही कहा और पूछा समझ गये क्या तब मनुष्यों ने कहा, हम समझ गये । आपने हमसे ''दान करो'' ऐसा कहा है । अन्ततः प्रजापति ने कहा, ठीक है । मेरा अभिप्राय (उपदेश) तुमने जान लिया है ।[२३]

अन्त में प्रजापति से असुरों ने कहा, ''आप हमें उपदेश दीजिए ।'' उनसे भी प्रजापति ने ''द'' यह अक्षर ही कहा और पूछा, ''समझ गये क्या?'' असुरों ने कहा, हम आपका अभिप्राय समझ गये । आपने हमसे ''दया करो'' ऐसा कहा है । अन्ततः प्रजापति ने कहा ठीक है, तुमने भी हमारा उपदेश ग्रहण कर लिया है ।[२४]

प्रजापति का यह (द-द-द) महनीय उपदेश सभी के लिए ग्रहणीय एवं पालनीय है, क्योंकि प्रजापति का पुत्रों (देव, मानव, राक्षस) को दिया हुआ यह गूढ उपदेश उनके लिए परम हितकारक है । आज भी समाज में अजितेन्द्रिय, लोभी, और क्रूर प्रकृति के मनुष्य निवास करते हैं, अतः इन दिव्य उपदेशों को शब्दशः ग्रहण करके नानाविध दुर्गुणों से मुक्त समाज के निर्माण में सबका योगदान (सहयोग) मिलना चाहिये ।

श्वेताश्वतर उपनिषद के अनुसार प्रजापति ही परब्रह्म है । परमात्मा की सर्वरूपता निम्न मन्त्र में स्पष्टतया वर्णन किया गया है -

''तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तद् चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः ।।''[२५]

अर्थात् वही अग्नि (देव) है, वही सूर्य है, वही वायु है, वही चन्द्रमा है, वही शुक्र है, वही ब्रह्म है, वही जल है और वही प्रजापति है । क्योंकि इस जगत् का रचयिता वही प्रजापति है और उसी में उसका लय होता है, अतः वही सर्वरूप है, उससे भिन्न कुछ नहीं है । भाष्यकार श्री शंकराचार्य के अनुसार ''तद्ब्रह्म हिरण्यगर्भात्मा तदापः स प्रजापतिविराडात्मा''[२६] -- अर्थात् वही ब्रह्म-हिरण्यगर्भरूप है, वही जल है और वही विराट् रूप प्रजापति है ।

मैत्रायणी उपनिषद् में भी प्रजापति को श्रेष्ठ देव माना गया है - ''त्वं ब्रह्मात्वं च वै विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वं प्रजापतिः ।''[२७] अर्थात् आप ही ब्रह्मा है, आप ही विष्णु है, आप ही रुद्र हैं एवं आप ही प्रजापति हैं ।

इससे यह स्पष्ट हो रहा है कि प्रजापति ही ब्रह्म हैं एवं अन्य देवगण भिन्न भिन्न होते हुए भी वही एक नाम - "ब्रह्म" को ही द्योतित करते हैं। "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" - वह एक होते हुए भी अनेक हैं एवं अनेक रूप में प्रतिष्ठित एवं पूजित होते हुए भी एक ही ब्रह्म-प्रजापति है। प्रजापति को उपासना करने वाले अवश्य ही उस आनन्दमय प्रजापति लोक को प्राप्त करते हैं। प्रजापति देवता आनन्द से परिपूर्ण हैं। उस आनन्द को प्राप्त करना सब मनुष्यों का परम लक्ष्य है। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा भी है कि "समस्त प्राणी इसी परमात्मा सम्बन्धी आनन्द के किसी एक अंश को लेकर ही जीते हैं।"[२८] तैत्तिरीय उपनिषद् में प्रजापति एवं ब्रह्म का आनन्द मनुष्य, गन्धर्व, इन्द्र, बृहस्पति आदि के आनन्द से उत्कृष्ट होता है, ऐसा कहा गया है।[२९] ब्रह्म का आनन्द एवं प्रजापति का आनन्द में तत्त्वत: अन्तर नहीं है। परमार्थत: प्रजापति ही ब्रह्म है एवं वह सर्वत्र परिव्याप्त है (सर्वं खलु इदं ब्रह्म)।

इस लेख के अन्तिम चरण में हृदय-ब्रह्म की उपासना के विषय में (संक्षेप में) चर्चा अपेक्षित है। बृहदारण्यक उपनिषद् में "हृदय" को प्रजापति कहा गया है, कारण जो प्रजापति है वह हृदय है, वह ब्रह्म है, वह सब कुछ है। अर्थात् वह यह संपूर्ण भूतों में प्रतिष्ठित तथा सबका आत्मस्वरूप हृदय प्रजापति प्रजाओं का रचयिता है। यह ब्रह्म है - बृहत् तथा सबका आत्मा होने के कारण यह ब्रह्म है। यह सर्व है, अत: वह हृदय रूप ब्रह्म उपास्य है। यह "हृदयम्" तीन अक्षर वाला नाम है। "हृ" यह एक अक्षर है, जिसका अर्थ अभिहरण करना, लाना है। जो चित्तोपासक ऐसा जानता है उसके लिए अपने बन्धुजन और दूसरे जन भेंटें लाते हैं। दूसरा "द" एक अक्षर है, जिसका अर्थ देना है। जो हृदयोपासक ऐसा जानता है उसके लिए अपने बन्धुजन और दूसरे लोग धनादि देते रहते हैं। तीसरा "यम्" यह एक अक्षर है, यह "इण्" धातु से बना है; इसका अर्थ प्राप्त होना, जाना है, जो हृदयोपासक ऐसा जानता है वह स्वर्गलोक को प्राप्त होता है,[३०] वह मर कर सुखमय लोक को जाता है। अत: हृदय का अर्थ, आकर्षण करना-प्रेम करना, (ज्ञानादि गुण) दान करना और श्रद्धा, भक्ति उपासना से परमेश्वर को प्राप्त करना है।

वह हृदय ब्रह्म सत्य ही है।[३१] जो भी उपासक इस महान पूजनीय, सबसे प्रथम सत्य ब्रह्म को जानता है, परमेश्वर प्रजापति को भी महान पूज्य सनातन और सत्यस्वरूप समझता है वह इन लोकों को जीतता है। इसी प्रकार जो ऐसे महान्

यक्ष, सनातन को जानता है उसने यह असत्-नाश या मृत्यु जीत लिया। श्रुति कहती है -

"यह एवमेतन्महद् यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति, अतो विद्यानुरूपं फलं युक्तं सत्यं ह्येव यस्माद् ब्रह्म"[३२]

उपर्युक्त श्रुति वचन का अर्थ है - जो इस प्रकार इस महत् पूज्य प्रथमज को "सत्य ब्रह्म" ऐसा जानता है, उसको उपासना के अनुरूप फल मिलना उचित ही है, क्योंकि ब्रह्म सत्य ही है।

निष्कर्ष यह कि प्रजापति ही आदि स्रष्टा, प्रजापालक एवं परब्रह्म है। विश्व कल्याण के लिए उनके द्वारा प्रदत्त महनीय उपदेश समस्त मानव जाति के लिए सदा पालनीय और ग्रहणीय है। उनके उपदेश को शब्दशः ग्रहण करके उनके श्रेष्ठ नाम ओंकार को हृदय में निरन्तर मनन करते हुए उनकी उपासना करना चाहिये। फलतः मनुष्य अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है।

शोध अधिकारी **डा. नरसिंह चरण पण्डा**
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र
बी १/३, ई७, लेन नं. २
रवीन्द्रपुरी एक्स्टेन्शन
वाराणसी (उ. प्र.) २२१००५

टिप्पणियाँ

१. निरुक्त, दैवतकाण्ड, X.42.
२. छान्दोग्य उपनिषद्, I.12.5 शांकर भाष्य
३. अमरकोश, I.1.17; तुलनीय, मेदिनीकोश, तान्तवर्ग, षोडश अध्याय, 210; तुलनीय, वैजयन्तीकोश, I.1.6-7.
४. बृहदारण्यक उपनिषद्, III.9.17, शांकर भाष्य।
५. संवत्सरो वै प्रजापतिः, प्रश्न उपनिषद्, I.9 तुलनीय, बृहदारण्यक उपनिषद्, I.5.14; तुलनीय, मैत्रायणी उपनिषद्, VI.15; तुलनीय, महानारायण उपनिषद्, XII.3, आदि।
६. (मासो वै प्रजापति :), प्रश्न उपनिषद्, I.13
७. प्रश्न उपनिषद्, I.13

८. प्रश्न उपनिषद्, I.14
९. प्रश्न उपनिषद्, I.15
१०. बृहदारण्यक उपनिषद्, III.9.6
११. प्रश्नोपनिषद्, I.4; तुलनीय, सोऽकामयत् बहुस्यां प्रजायेयेति । स ... प्राविशत् - तैत्तिरीय उपनिषद्, VI.2.1; तुलनीय, तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति .... छान्दोग्योपनिषद्, VI.2 आदि ।
१२. ... प्रजापतिस्तपस्तप्त्वाऽनुन्याहरद्भूर्भव: स्वरित्यैवास्य प्रजापते: स्थविष्ठा तनूर्या लोकवतीति स्वरित्यस्या: शिरो नाभिर्भुवो भू: पादा आदित्य चक्षु: ... । मैत्रायणी उपनिषद्, VI.6.
१३. आप एवेदमग्र आसुस्ता आप: सत्यमसृजन्त । सत्यं ब्रह्म । ब्रह्म प्रजापतिं, प्रजापतिर्देवांस्तेदेवा: सत्यमेवोपांसते .... नैवं विद्वांसमनृतं हिनस्ति । बृहदारण्यक उपनिषद्, V.5.1
१४. स ह प्रजापतिरीक्षांचक्रे-हन्तास्मै प्रतिष्ठां कल्पयानीति, स स्त्रियँ ससृजे, तां सृष्टवाऽध उपास्त .... समुदपारयत्तेनैनामभ्यसृजत् । बृहदारण्यक उपनिषद्, VI.4.2.
१५. बृहदारण्यक उपनिषद्, I.5.21.
१६. बृहदारण्यक उपनिषद्, I.5.14
१७. अहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्य: (छान्दोग्य उपनिषद्, VIII.15.1)इति । बाढं प्रतिसिद्धा, तथापि नामावास्याया अन्यत्र प्रतिप्रसवार्थं वचनं हिंसाया: कृकलासविषये वा, किं तर्हि? एतस्या: सोमदेवताया: अपचित्यै पूजार्थम्। शांकरभाष्य - बृहदारण्यक उपनिषद्, I.5.14
१८. छान्दोग्य उपनिषद्, II.23.2.
१९. छान्दोग्य उपनिषद्, II.23.3.
२०. द्रष्टव्य, छान्दोग्य उपनिषद्, II.23.3 का शांकर भाष्य
२१. बृहदारण्यक उपनिषद्, V.2.1
२२. देवा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति । तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच "द" इति । व्याज्ञासिष्टा ३ इति । व्यज्ञासिष्मेति .... होवाच व्याज्ञासिष्टेति । बृहदारण्यक उपनिषद्, V.2.1
२३. अथ हैनं मनुष्या ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति । तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच "द" इति। व्याज्ञासिष्टा ३ इति । व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दत्तेति न आस्थेत्योमिति

होवाच व्यज्ञसिष्टेति । बृहदारण्यक उपनिषद्, V.2.2.

२४. अथ हैनमसुरा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति । तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच "द" इति। व्याज्ञसिष्टा .... "द" इति दाम्यत दत्त दयध्वमिति । तदेतत् त्रयैशिक्षेद्दमं दानदयामिति। बृहदारण्यक उपनिषद्, V.2.3.

२५. श्वेताश्वतर उपनिषद्, IV.2.

२६. द्रष्टव्य, श्वेताश्वतर उपनिषद्, IV.2. शांकर भाष्य ।

२७. मैत्रायणी उपनिषद्, V.1.

२८. एष ब्रह्मलोक.... अस्य परमगतिरेषास्य परमा सम्पदोषोऽस्य परमलोकः। एषोऽस्य परम आनन्दः । एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानिमात्रामुपजीवन्ति। बृहदारण्यक उपनिषद्, IV.3.32.

२९. द्रष्टव्य, तैत्तिरीय उपनिषद्, II.8.4.; तुलनीय, बृहदारण्यक उपनिषद्, IV.3.33

३०. एष प्रजापतिर्यद् हृदयमेतद् ब्रह्मैतत् सर्वं तदेतत् त्रक्षरं हृदयमिति ... स्वर्गलोकं य एवं वेद । बृहदारण्यक उपनिषद्, V.3.1.

३१. तद् (हृदयं) वै ... सत्यमेव ... सत्यं ब्रह्मेति । बृहदारण्यक उपनिषद्, V.4.1.

३२. विशेष द्रष्टव्य, बृहदारण्यक उपनिषद्, V.4.1. शांकर भाष्य ।

भासर्वज्ञ : प्राचीन या "नव्य" नैयायिक?

न्याय-दर्शन-परम्परा का प्रारम्भ महर्षि गौतम के "न्याय-सूत्र" (२०० ई.पू.) से माना जाता है। "न्याय-सूत्र" के बाद इस पर भाष्य, टीका, वार्तिक आदि के द्वारा न्याय-दर्शन परम्परा पुष्ट हुई। १३५० ई. में "तत्त्वचिंतामणि" से गंगेश ने इस परम्परा के नवीन अध्याय का प्रारम्भ किया। उन्होंने "न्यायसूत्र" के चार प्रमाणों को लेकर चार प्रकरण वाले ग्रंथ "तत्त्वचिंतामणि" की रचना कर "प्रमाणमीमांसा" को न्याय दर्शन का केन्द्रबिन्दु बना दिया और 'नव्य-न्याय' का प्रारम्भ किया। किन्तु प्रश्न उठता है कि क्या 'नव्य-न्याय' का प्रारम्भ "तत्त्वचिन्तामणि" से ही होता है या इसकी भूमिका किन्हीं "प्राचीन" न्याय आचार्यों द्वारा तैयार की गई थी? इस प्रश्न का उत्तर न्याय परम्परा के ग्रंथ-साहित्य में निहित है। किन्तु वास्तविकता यह है कि वर्तमान में उपलब्ध ग्रंथ वास्तविक ग्रंथ-सम्पत्ति का आधा भाग भी नहीं है।

"न्यायसूत्र" व "तत्त्वचिन्तामणि" के मध्य लगभग ५० नैयायिक विचारकों का उल्लेख मिलता है जिन्होंने विभिन्न ग्रंथों की रचना कर न्याय दर्शन को विकसित किया किन्तु इनमें से अधिकांश आचार्यों व उनके ग्रंथों का केवल उल्लेख मात्र ही मिलता है। 'प्राचीन न्याय' के जिन ८२ ग्रंथों के नाम हमें ज्ञात हैं उनमें से केवल ५१ ही उपलब्ध हैं, शेष ग्रंथों का परिचय अन्य ग्रंथों से मिलता है जिनमें दार्शनिक वाद विवाद के सन्दर्भ में प्रतिपक्षी के रूप में उन ग्रंथों व उनमें प्रतिपादित विचारों की चर्चा की गई है। इन ५१ उपलब्ध ग्रंथों में से ३३ ग्रंथों का सम्पादन हो चुका है तथा ११ अंग्रेजी में अनुदित हो चुके हैं।[१] अन्वेषी दार्शनिकों द्वारा शेष 'लुप्त' ग्रंथों को प्रकाश में लाने के प्रयास किए जाते रहते हैं, तब तक अन्यत्र किए गए उल्लेखों द्वारा ही उन ग्रंथों की विषयवस्तु का मूल्यांकन किया जाता है।

१९५९ ई. में प्रो. अनन्तलाल ठाकुर द्वारा अपने लेख "न्याय भूषण : ए लॉस्ट वर्क ऑफ मिडिवियल इण्डियन लॉजिक"[२] में ऐसे ही 'लुप्त' ग्रंथ की चर्चा की गई जिसका मूल्यांकन न्याय-दर्शन-परम्परा पर पुनर्विचार करने के लिए बाध्य करता है। "न्याय-भूषण" ग्रंथकार भासर्वज्ञ (९२० ई.)[३] द्वारा स्वयं के अन्य ग्रंथ 'न्यायसार' पर

की गई टीका है । प्रो. ठाकुर ने जब यह लेख लिखा तब तक वह ग्रंथ अप्रकाशित था, अतः उनका विश्लेषण अन्य दार्शनिकों द्वारा किए गए उल्लेखों पर आश्रित था । किन्तु इन उल्लेखों से यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि यह ग्रंथ महत्त्वपूर्ण था । तात्कालिक दार्शनिकों द्वारा ही नहीं वरन् परवर्ती दार्शनिकों द्वारा भी निरन्तर इस ग्रंथ के विचारों का उल्लेख किया जाता रहा जिनमें केवल नैयायिक ही नहीं वरन् वादिराज सूरि (१०२५ ई.) तथा ज्ञानश्री मिश्र (१०२५ ई.) जैसे क्रमशः जैन व बौद्ध दार्शनिक भी आते हैं।[४]

१९६८ ई. में स्वामी योगेन्द्रानन्द के प्रयासों से प्रकाशित होने के बाद इसका सारांश प्रस्तुत करते हुए प्रो. मतिलाल इस ग्रंथ के सन्दर्भ में लिखते हैं – "इस ग्रंथ का प्रकाश में आना भारतीय दर्शन के इतिहास की एक सुखद घटना है ।"[५] वास्तव में "न्याय-भूषण" एक विशिष्ट न्याय ग्रंथ है तथा लेखक भासर्वज्ञ के मौलिक व नवीन विचारों का परिचायक है ।

भासर्वज्ञ का वास्तविक नाम कदाचित भावसर्वज्ञ[६] था किन्तु दर्शन जगत् में वे 'भासर्वज्ञ' के नाम से ही प्रसिद्ध हुए । अनेक स्रोतों से अब यह निश्चित हो चुका है कि वे काश्मीर प्रदेश के निवासी थे ।[७] इनका काल ९५० ई. के लगभग निश्चित किया गया है[८] । अर्थात् ये प्रसिद्ध नैयायिक जयन्त (८७० ई.) के परवर्ती तथा उदयनाचार्य (९८४ ई.) के पूर्ववर्ती थे । जयन्त व उदयन के मध्य अन्य प्रसिद्ध न्यायदार्शनिक वाचस्पति मिश्र (९६० ई. लगभग) हुए किन्तु वाचस्पति मिश्र व भासर्वज्ञ के पौर्वापर्य के सम्बन्ध में दार्शनिकों में मतभेद है ।[९]

भासर्वज्ञ द्वारा रचित तीन ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं–

(१) गण कारिका

(२) न्याय-सार

(३) न्याय-भूषण

भासर्वज्ञ द्वारा रचित एक अन्य ग्रंथ **'नित्य ज्ञान विनिश्चय'** का भी उल्लेख उनके 'न्याय-भूषण' (पृष्ठ ४६६) में मिलता है किन्तु यह अभी तक अनुपलब्ध है ।

"गण-कारिका" पाशुपत मत का संक्षिप्त ग्रंथ है । भासर्वज्ञ के समय काश्मीर में शैव मत का प्रचलन था । इस ग्रंथ से ज्ञात होता है कि भासर्वज्ञ पर भी शैव मत का प्रभाव रहा ।

"न्याय-सार" न्याय दर्शन के मुख्य सिद्धान्तों का सरल व संक्षिप्त प्रस्तुतिकरण है किन्तु साथ ही कुछ अर्थों में विशिष्ट भी है । इस ग्रंथ में तीन परिच्छेद हैं– प्रत्यक्ष परिच्छेद, अनुमान परिच्छेद तथा शब्द परिच्छेद, जो अपने आप में एक विशिष्टता है

क्योंकि न्याय सार से पूर्व न्याय ग्रंथों में सूत्रानुसारी व्याख्या पद्धति अपनायी गई और न्याय–भाष्य, वार्तिक, तात्पर्य टीका आदि सभी ग्रंथ इसी पद्धति के अनुसार लिखे गये हैं। इस दृष्टि से 'न्याय-सार' न्याय दर्शन का प्रथम स्वतन्त्र रूप से लिखा गया प्रकरण ग्रंथ है, अत: भासर्वज्ञ को न्याय-दर्शन-परम्परा में इस शैली का प्रवर्तक कहा जा सकता है ।

न्यायं-सार की शैली के अतिरिक्त इस ग्रंथ में ऐसे अनेक दार्शनिक विचार भी हैं जो 'न्याय-सार' को एक 'स्वतंत्र' ग्रंथ तथा भासर्वज्ञ को एक 'स्वतन्त्र विचारक' सिद्ध करते हैं। 'नैयायिक' होते हुए भी भासर्वज्ञ तीन प्रमाण स्वीकार करते हैं जबकि न्याय परम्परा में चार प्रमाण स्वीकार किए गए हैं । यही नहीं, परम्परा से सामंजस्य बिठाते हुए वे कहते हैं कि उनका तीन प्रमाणों का सिद्धान्त गौतम की न्याय-परम्परा के विरुद्ध नहीं अपितु अनुकूल ही है । गौतम स्वयं पहले पाँच इन्द्रियों की बात करते हैं (न्या. सू.१.१.१२) और बाद में एक अन्य स्थान पर अन्तर्मन को छटी इन्द्रिय बताते हैं । भासर्वज्ञ के अनुसार गौतम की पदार्थ गणना का तात्पर्य पदार्थों की कोई 'अंतिम', 'सुनिश्चित' संख्या देना नहीं है जिससे एक स्थान पर दी गई संख्या तथा दूसरे स्थान पर दी गई संख्या में कोई अन्तर्विरोध देखा जाए । अत: जब गौतम चार प्रमाणों की बात करते हैं तो वे इस सम्भावना का विरोध नहीं करते यदि तीन प्रमाण मानते हुए चतुर्थ प्रमाण 'उपमान' को 'शब्द' में ही निहित मान लिया जाए ।[१०]

यहाँ पर यद्यपि अनेक दार्शनिक समस्याओं को स्थान मिलता हैं जिन्हें उनके पश्चात् अनेक दार्शनिकों ने उठाया भी है, किन्तु भासर्वज्ञ की तर्कविधि की मौलिकता व नवीनता दर्शनीय है ।

इसी प्रकार मोक्षावस्था की अवधारणा में भासर्वज्ञ की दृष्टि अत्यन्त विलक्षण है क्योंकि मोक्षावस्था को वे मात्र दु:ख की निवृत्ति न मानकर सकारात्मक आनन्द की अनुभूतियुक्त मानते हैं जो पूर्ण रूप से ''अपारम्परिक'' है । भासर्वज्ञ का तर्क यह है कि मोक्ष में दु:ख की तरह सुख की भी निवृत्ति मानने पर दु:ख-सुख दोनों का ज्ञान न होने से वह स्थिति मूर्च्छावस्था के समान होगी । ऐसी स्थिति में विवेकीजन की प्रवृत्ति नहीं होगी । अनेक तर्कों से अपने मत को पुष्ट करने के साथ-साथ भासर्वज्ञ गौतम के मत को भी अपने पक्ष में सिद्ध करते हैं । इनके अनुसार ''बाधना लक्षणं दु:खम्'' ''तदत्यन्त विमोक्षोऽपवर्ग:'' आदि सूत्रों के द्वारा गौतम ने जो बाधना स्वरूप दु:ख की अत्यन्त निवृत्ति को ही मोक्ष बताया है वह इसलिए क्योंकि तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान तथा तज्जन्य दु:ख की निवृत्ति होती है, वह नित्य सुख की अभिव्यक्ति में कारण नहीं होता।

प्रतिबन्धात्मक रूप दु:ख की निवृत्ति हो जाने पर नित्य सुख स्वत: अभिव्यक्त हो जाता है । यदि गौतम को तत्त्वज्ञान से सुख दु:ख दोनों की निवृत्ति अभिप्रेत होती तो इनके द्वारा इसका कथन किया जाता किन्तु वे कहीं भी नित्य सुखाभिव्यक्ति का मोक्ष में निषेध नहीं करते और न ही स्वयं गौतम के द्वारा कहीं भी मोक्षदशा में आत्मा के सकल विशेष गुणों के उच्छेद की बात कही गई है । 'उपवर्ग' शब्द द्वारा वे केवल तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान निवृत्ति द्वारा किसी 'अपवर्जनीय' वस्तु का निर्देश कर रहे हैं और वह 'दु:ख' है । दु:ख की निवृत्ति होते ही नित्य सुख स्वयं अभिव्यक्त हो जाता है ।

'न्याय-सार' का महत्त्व इस बात से भी सिद्ध होता है कि इस पर अठारह टीकाएँ लिखी गईं जिनमें से पाँच मुद्रित हो चुकी हैं—

(१) न्यायसार-पद-पञ्जिका (पुण्यपत्तन मुद्रिता)—वासुदेव सूरि
(२) न्याय-तात्पर्य-दीपिका (कलिकाता मुद्रिता)—जयसिंह सूरि
(३) न्याय-मुक्तावली (भद्रपुर मुद्रिता)—महाराजा परार्कदेव
(४) न्याय-कलानिधि (भद्रपुर मुद्रिता)—आनन्दानुभव
(५) न्यायभूषण (वाराणसी)—भासर्वज्ञ

''न्यायभूषण'' जैसा कि उल्लिखित है, भासर्वज्ञ द्वारा स्वयं के ग्रंथ ''न्याय सार'' पर लिखी गई टीका है । अपने ही ग्रन्थपर टीका लिखने की परम्परा कदाचित् उमास्वाति (तृतीय या चतुर्थ शती) से प्रारम्भ होती है जिन्होंने अपने ग्रंथ ''तत्वार्थाधिगम सूत्र'' पर टीका लिखी । उसके पश्चात् अन्य परम्पराओं में भी इस प्रकार की टीकाएँ लिखी गई किन्तु न्याय वैशेषिक परम्परा के उपलब्ध ग्रंथों में भासर्वज्ञ का ''न्याय भूषण'' स्वयं के ग्रंथ पर लिखी गई प्रथम टीका है । उनके पश्चात् वरदराज(१२ वीं शती) की ''तार्किक रक्षा'' पर ''सार-संग्रह'', विश्वनाथ पंचानन (१७ वीं शती) की ''भाषा-परिच्छेद'' पर ''न्यायसिद्धान्तमुक्तावली'' तथा अन्नं भट्ट (१७ वीं शती) की ''तर्क संग्रह'' पर ''दीपिका'' आदि टीकाएँ मिलती हैं ।

''न्याय-सार'' पर की गई अन्य टीकाओं में ''न्यायभूषण'' सर्वोत्तम टीका है जैसा कि प्रो. अनन्त लाल ठाकुर अपने लेख ''न्याय भूषण : ए लॉस्ट वर्क ऑफ मिडिवियल इण्डियन लॉजिक'' में लिखते हैं, ''भासर्वज्ञ की टीका अन्य सब टीकाओं से बढकर तो है ही परन्तु मूल ग्रंथ से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई ।''[११] वास्तव में देखा जाए तो ''न्यायभूषण'' केवल टीका ही नहीं है वरन् स्वयं इस ग्रंथ में अनेक नवीन विचारों की उद्भावना मिलती है । अपने मौलिक व नवीन विचारों के कारण ही यह ग्रंथ ''न्याय-सार'' से भी अधिक महत्त्वपूर्ण बन गया । इसका स्पष्ट प्रमाण है कि

"न्यायभूषण" लिखे जाने के बाद जहाँ कहीं भी भासर्वज्ञ व उनके विचारों का अन्य दर्शन ग्रंथों में उल्लेख किया गया वह "भूषणकार" के रूप में ही अधिक मिलता है।[१२]

"न्यायभूषण" में भासर्वज्ञ का मौलिक चिन्तन सर्वत्र दर्शनीय है। "न्याय-सार" में जिन नवीन तत्त्वों का समावेश किया गया, "न्यायभूषण" में उनका स्पष्टीकरण देकर औचित्य सिद्ध किया गया है।

भासर्वज्ञ का तीन प्रमाणों का सिद्धान्त तो विचारणीय है ही, "न्यायभूषण" के प्रथम अध्याय में ही ग्रंथकार अपनी "न्याय-सार" की प्रत्यक्ष की परिभाषा की व्याख्या करते हैं।[१३] और फिर "न्यायसूत्र" में दी ही गई प्रत्यक्ष की परिभाषा की व्याख्या व स्पष्टीकरण देते हुए इस सम्बन्ध में दिग्नाग की आलोचनाओं का खण्डन करते हैं। यहाँ पर भासर्वज्ञ लिखते हैं कि गौतम के 'अव्यपदेश्य' शब्द का प्रयोग वास्तव में इस बात का संकेत है कि गौतम निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को परिभाषित कर रहे हैं। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही अन्य संज्ञानात्मक स्थितियों जैसे सविकल्प प्रत्यक्ष तथा अनुमान आदि के मूल में स्थित होता है। किन्तु सविकल्प प्रत्यक्षात्मक निर्णय भी न्याय-दर्शन द्वारा स्वीकार किए गए हैं और यद्यपि न्याय सूत्र I १.१४ में ऐसा स्पष्ट नहीं होता किन्तु अन्य सूचें जैसे II २.६५ में यह स्पष्ट है। भासर्वज्ञ की न्याय सूत्र I १.१४ की यह व्याख्या इस सूत्र की अन्य पारम्परिक व्याख्याओं से पूर्णतया भिन्न है।

प्रथम अध्याय में ही भूषणकार 'अष्टख्याति' का विवेचन करते हैं। यह भी अत्यन्त रुचिकर है क्योंकि इस प्रकार के प्रसंग में वाचस्पति मिश्र अपनी "न्याय-वार्तिक तात्पर्य-टीका" में केवल पाँच प्रकार की ख्यातियों की ही चर्चा करते हैं। भासर्वज्ञ ने मिथ्या ज्ञान की परिभाषा अन्य नैयायिकों के समान "विपरीत अर्थ का निश्चय" अर्थात् "भिन्न वस्तु में भिन्न वस्तु का ज्ञान" बताई है। (मिथ्याऽध्यवसायो विपर्ययः। न्याय-सार पृ २) मिथ्या ज्ञान को सभी दार्शनिकों ने स्वीकार किया है किन्तु उसके स्वरूप के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद हैं। इन्ही मतभेदों को लेकर भासर्वज्ञ न्यायभूषण के 'विपर्यय प्रकरण' में आठ प्रकार की ख्यातियों का विवेचन करते हैं। प्रथम माध्यमिकों का **अख्यातिवाद** है जो यह मानता है कि शुक्ति रजतादि भ्रमज्ञान का कोई भी आलम्बन नहीं होता। इस मत का खण्डन भासर्वज्ञ द्वारा इस तर्क से किया गया है कि यदि भ्रम का कोई वस्तुनिष्ठ आलम्बन नहीं होता तो रजत ज्ञान, जल ज्ञान इस प्रकार 'विशेषता' की प्रतीति संभव ही नहीं होती और एक भ्रम को दूसरे भ्रम से पृथक् करने का कोई आधार ही नहीं होगा। यदि इसे 'विज्ञानों की भिन्नता' से समझाया जाए तब भी वह दोषपूर्ण ही होगा, क्योंकि तब 'भ्रम' व 'सुषुप्तिदशा' में कोई

भेद नहीं रहेगा ।

इस प्रकार अन्य ख्यातिवादों की भी चर्चा कर विभिन्न तर्कों द्वारा उनका खण्डन किया गया है । द्वितीय सिद्धान्त '**असत्ख्यातिवाद**' है जो यह मानता है कि भ्रम में जिस वस्तु की प्रतीति होती है वह वास्तव में वहाँ 'असत्' होती है अत: भ्रम का आधार 'असत्' है । तृतीय सिद्धान्त **प्रसिद्धार्थख्यातिवाद** है जो यह मानता है कि भ्रम में प्रतीत वस्तु भ्रम काल तक तो 'प्रतीत' होती ही है अत: उस काल विशेष में तो उसकी सत्ता माननी ही चाहिए, क्योंकि किसी भी वस्तु की सत्ता मानने का आधार उसकी 'प्रतीति' ही होती है । प्रकृष्ट रूप से 'सिद्ध' होने के कारण भ्रम काल में वस्तु के अस्तित्व को मानने के कारण उपर्युक्त सिद्धान्त प्रसिद्धार्थ ख्याति कहलाता है । वास्तविक या लौकिक रजत तथा भ्रमात्मक रजत में अन्तर न करने के कारण भट्ट उन्बेक इसे दोषपूर्ण मानते हैं और इसके लिए यह सुझाव देते है कि चूँकि प्रतीयमान रजत उन अर्थों की सिद्धि नहीं कर सकता जिनकी सिद्धि वास्तविक रजत से सम्भव है अत: दोनों की सत्ता में भेद है, इसलिए भ्रमात्मक रजत को 'अलौकिक रजत' कहना उचित होगा क्योंकि उसकी प्रतीति तो होती ही है । यह मत **अलौकिकार्थ ख्याति** कहलाता है । पञ्चम मत प्रभाकर का है जो यह मानता है कि 'यह सर्प है' इस प्रकार के भ्रमात्मक ज्ञान का कारण **स्मृतिप्रमोष** है अर्थात सर्प का ज्ञान स्मरणात्मक है, उसे 'यह' के साथ मिला देने से भ्रम होता है । योगाचार के **आत्मख्यातिवाद** में विज्ञान या आत्म स्वयं बाह्य वस्तु विशेष के रूप में भासता है । वेदान्तियों के अनिर्वचनीय ख्यातिवाद के अनुसार रजत ज्ञान का शुक्तिज्ञान से बाध हो जाने से शुक्ति में 'रजत' की सत्ता 'सत्' नहीं कही जा सकती, किन्तु, प्रतीति' होने से पूर्णतया असत् भी नहीं कही जा सकती अत: वह 'अनिर्वचनीय' है । वेदान्तियों का यह मत **अनिर्वचनीयवाद** कहलाता है ।

इन सभी मतों में दोष दिखाकर भासर्वज्ञ विपरीत ख्यातिवाद का समर्थन करते हैं जिसका तात्पर्य यह है कि भ्रम स्थल में पुरोविद्यमान अर्थ की विपरीत रूप से प्रतीति होती है । ज्ञाता के समक्ष शुक्ति विद्यमान है किन्तु वह उसके 'शुक्तित्व' का ज्ञान न कर उससे विपरीत 'रजतत्व' का ग्रहण करता है, यही विपरीत ख्याति है । इसमें रजत का आलम्बन शुक्ति सत् है किन्तु उसकी प्रतीति अन्यथा रूप में या विपरीत रूप में होती है ।

एक अन्य स्थान पर[१४] भासर्वज्ञ वैशेषिकों के कई पदार्थों जैसे परत्व, अपरत्व, वेग आदि का खण्डन करते हैं । वे इन पदार्थों को 'स्वतन्त्र' पदार्थ मानने का विरोध करते हैं तथा उनके पदार्थ सिद्धान्त में संशोधन के कई मौलिक सुझाव देते हैं। अपने

समान तंत्र वैशेषिकों से मतभेद सर्वथा नवीन था। बाद में अन्य परवर्ती नैयायिकों ने भी वैशेषिकों के पदार्थ सिद्धान्त में संशोधन के सुझाव दिए। इसी प्रकार छ: प्रकार के हेत्वाभास तथा उनमें भी कई उप-वर्ग जैसे बारह प्रकार के प्रसिद्ध, आठ प्रकार के विरुद्ध आदि का विश्लेषण इतना मौलिक व परम्परा से हटकर है कि बाद के दार्शनिक भूषणकार के विचारों को कई बार 'एकदेशी' अर्थात् न्याय दर्शन की एक धारा के रूप में उदधृत करते हैं।

भासर्वज्ञ के नवीन विचारों के कारण नव्य-नैयायिकों का ध्यान भी इस ग्रंथ की ओर आकर्षित हुआ। वासुदेव सूरि (१४९० ई.) जो वासुदेव सार्वभौम के नाम से भी जाने जाते हैं, बंगाल की नवद्वीप शाखा के अग्रणी नैयायिक हैं। उन्होंने "तत्व चिन्तामणि" पर "परीक्षा" या "सारावली" नामक टीका लिखी तथा "न्याय-सार"पर पदपञ्जिका" व "न्याय-भूषण" पर "न्याय-भूषण-भूषण" नामक टीकाएँ लिखीं। वे "न्याय-भूषण" को एक महासागर बताते हैं और अपनी "पद-पञ्जिका" को उन व्यक्तियों की सहायतार्थ लिखा ग्रंथ कहते हैं जो "न्याय-भूषण" को समझने में असमर्थ है।

यदि भासर्वज्ञ के विचारों का सूक्ष्म व तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि भासर्वज्ञ के 'परम्परा से हट कर' 'नवीन' विचारों में ही 'नव्य न्याय' के बीज दिखाए देने लगते हैं। जैसे "न्याय-सार" में प्रमाणों की चर्चा मुख्य तथा प्रमेय चर्चा गौण रूप में की गई है। प्रमाण चर्चा का मुख्य होना व प्रमेयों का गौण होना नव्य न्याय का विशिष्ट लक्षण है। भासर्वज्ञ ने यद्यपि 'प्रमाणों'पर अपना ध्यान केन्द्रित किया किन्तु साथ ही पारम्परिक न्याय के सभी पदार्थों अर्थात् प्रमेयों आदि को भी समेटने का प्रयास किया है अत: यह कहा जा सकता है कि भासर्वज्ञ का दर्शन प्राचीन व नव्य न्याय के मध्य की वह कडी है जिसमें पारम्परिक व नव्य न्याय के संक्रान्ति काल का आभास होता है।

शोध छात्रा

रचना शर्मा

६/७६ एस.एफ.एस, अग्रवाल फॉर्म, मान सरोवर, जयपुर
राजस्थान ३०२ ०२०

टिप्पणियाँ

1. .Historical resume, Encyclopaedia of Indian philosophies, Karl H.Potter.
2. JBRS Vol. xxxxv, March December, 1959.
3. P. 399, Encyclopaedia of Indian philosophies, Karl H.Potter.

4. p 3, "Nyāya Bhūṣaṇa : A Lost Work of mediaval Indian Logic" by Prof. Anant Lal Thakur.
5. "But the recent publications of the entire text come as pleasant surprise to the word of scholars" p.410 Encyclopaedia of Indian philosophies, Karl H.Potter.
6. परिचय, "भासर्वज्ञ के न्यायसार का आलोचनात्मक अध्ययन" गणेशीलाल सुथार ।
7. Ibid
8. Ibid
9. Ibid
10. See p. 411, 'Summary by B.K. Mbtilal', Encyclopaedia of Indian philosophies, Potter.
11. "Bhāsarvjña's own commentary the Nyāyabhūṣaṇa surpassed the rest and even the original in importance." p. 1
12. Ibid
13. p. 84-100, "न्याय भूषण षड्दर्शन प्रकाशन प्रतिष्ठानम् वाराणसी 1968.
14. p. 154-165, Ibid

सांख्य दर्शन पर वेद-वेदान्त का प्रभाव : एक अवलोकन

सांख्य दर्शन भारतवर्ष के प्राचीन मत्त्वपूर्ण दर्शनों में अन्यतम है। अत्यन्त प्राचीन काल से ही इस दर्शन ने प्रबुद्ध चिन्तकों को प्रभावित किया है और भारतीय वाङ्मय पर अपनी अमिट छाप लगा दी है। "भारतीय संस्कृति में किसी समय सांख्य दर्शन का अत्यन्त ऊँचा स्थान था।"[१] महाभारत में सांख्य शास्त्र को सनातन कहा गया है।"[२] ईश्वर कृष्ण इसे पवित्र और अग्र्य ज्ञान कहते हैं।[३] महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज के शब्दों में सांख्य दर्शन को प्राचीन भारत में सुसम्बद्ध और व्यवस्थित दर्शन का निर्माता करने का सर्वप्रथम प्रयास माना जाता है। जॉन डेवीज की धारणा है कि सांख्य दर्शन प्रत्येक विचारशील मनुष्य के मन में उठने वाले जगत् की सृष्टि, मनुष्य के स्वरूप एवं सम्बन्धों तथा उसकी नियति से सम्बद्ध रहस्यात्मक प्रश्नों का केवल चिन्तन के ही आधार पर समाधान करने या उत्तर देने का प्राचीनतम प्रयत्न है।"[५] रिचर्ड गार्वे ने ठीक ही कहा है कि "दुनिया के इतिहास में पहली बार हमें मानवीय मस्तिष्क की पूर्ण स्वतंत्रता और अपनी शक्ति पर पूरी निर्भरता की मिसाल कहीं मिलती है तो वह कपिल के सिद्धान्त में।"[६]

सांख्य दर्शन के महत्त्व के प्रख्यापक अनेक औपनिषद साहित्य एवं महाभारत आदि में उपलब्ध होते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् में सांख्य के ज्ञान को अग्र्य-ज्ञान कहा गया है और परमात्मा को सांख्य योगाधिगम्य कहकर इसी ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त करने की बात स्वीकार की गयी है।[७] महर्षि याज्ञवल्क्य की दृष्टि में सांख्य के सदृश कोई ज्ञान नहीं है।[८] स्मृतियों, पुराणों, काव्यों और ज्योतिष तथा आयुर्वेद आदि के ग्रन्थों में परिलक्षित होने वाले सांख्य दर्शन का प्रबल प्रभाव इस बात का द्योतक है कि इस दर्शन ने भारतीय चिन्तन परम्परा में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

सांख्य शब्द की निष्पत्ति संख्या शब्द में अण् प्रत्यय लगाने से होती है और सांख्य का अर्थ सम्यक् ख्याति है। सांख्य दर्शन समस्त ख्याति चेतन पुरुष को व्यक्त और अव्यक्त रूप अचेतन प्रकृति से विविभक्त करके जान लेना है। इसी विवेक ज्ञान को सांख्य दर्शन में "सत्त्वपुरुषान्यता ख्याति," "विवेक ख्याति" आदि संज्ञाओं से अभिहित किया गया है। इसी "सत्त्वपुरुशान्यता ख्याति" को सांख्य दार्शनिक जीवन के परम

पुरुषार्थ रूप मोक्ष की प्राप्ति का साधन मानते हैं। सांख्य दार्शनिकों की सांख्य संज्ञा का स्वारस्य बताते हुए महाभारत के वसिष्ठ के वचन को उध्दृत करते हैं --

"संख्या प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते।"

तत्त्वानि च चतुर्विंशं तेन सांख्या: प्रकीर्तिता:।"

(महाभारत १२/३०६/४२-४३)

तात्पर्य यह है कि संख्या अर्थात प्रकृति और पुरुष के विवेक ज्ञान का उपदेश देने, प्रवृत्ति का प्रतिपादन करने तथा तत्त्वों की संख्या चौबीस निर्धारित करने के कारण सांख्य दार्शनिक सांख्य कहे जाते हैं। इस श्लोक में सांख्य के वर्णनार्थक तथा ज्ञानार्थक दोनों अर्थ स्वीकार किये गये हैं।

संख्या एक पारिमाणिक शब्द है जिसका अर्थ ज्ञान, विवेक, चिन्तन, विचार चर्चा आदि है। भारतीय दार्शनिक परम्परा में सांख्य पद का घटक संख्या इसी अर्थ का द्योतक माना गया है। महाभारत में संख्या शब्द के इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए सुलभा कहती है —

दोषाणां च गुणानांच प्रमाणं प्रविभागत:।

कंचिदर्थमभिप्रेत्य सा संख्येत्युपधार्यताम्॥

(महाभारत १२/३२०/८२)।

अर्थात गुण-दोष मीमांसापूर्वक किसी विषय पर प्रमाण पुरस्कृत सरणि से विचार करने को संख्या कहते हैं। सांख्य दार्शनिक विचार, चिन्तन और तर्क पर बहुत अधिक बल देते हैं तथा तत्त्व विनिश्चय में चिन्तन और अनुमान का ही आश्रय लेते हैं, श्रुति का नहीं। यद्यपि वे अपने तर्क सिद्ध सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए कभी-कभी श्रुति वाक्य भी उद्धृत करते हैं। सांख्य का मूल आधार बौद्धिक चिन्तन है, यह बात केवल सांख्य दार्शनिक ही नहीं आचार्य शंकर के समान सांख्य के प्रबल प्रतिपक्षी भी स्वीकार करते हैं। गीता (३/३) के ज्ञान योगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् इत्यादि वाक्यों में जिसे सांख्य योग कहा है वह भी ज्ञान या चिन्तन का मार्ग ही है।

ब्रह्मसूत्र, उसके शांकर भाष्य एवं अनेक ग्रन्थों में यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि सांख्य वैदिक नहीं है। इसके अनीश्वरवाद, प्रकृति-पुरुष-द्वैतवाद, प्रकृति परिणामवाद आदि तथाकथित वेद विरुद्ध सिद्धान्तों के कारण इसे वेदबाह्य कहकर इसका खण्डन करने वाले शंकराचार्य ने लिखा है कि आत्म विषयक अनेक स्मृतियों के होने पर भी सांख्य योग स्मृतियों के खण्डन का यत्न किया गया है क्योंकि ये दोनों संसार में परम पुरुषार्थ के साधन के रूप में विख्यात हैं, शिष्ट पुरुषों द्वारा ग्राह्य हैं तथा

"तत्कारण सांख्य योगाधिगम्य ज्ञात्वा देवमुच्यते सर्वपाशै" इत्यादि श्रौत्र लिंगों से युक्त हैं।[१०] इस वाक्य से भी संकेत मिलता है कि भले ही शंकराचार्य न मानें किन्तु उनसे पूर्व तथा उनके समय में भी सांख्य दर्शन वैदिक माना जाता था और परम पुरुषार्थ का साधन मानकर लोग उसका अनुसरण करते थे।

सांख्य दर्शन की गणना आस्तिक दर्शनों में की जाती है। आस्तिक दर्शन वह है जो वेद निन्दक न हो। सांख्य में केवल वैदिक हिंसा की निन्दा की गयी है इसलिए उसे वैदिक दर्शन के अन्तर्गत स्वीकार किया जाता है। स्वयं शंकराचार्य यह मानते हैं कि सांख्य दार्शनिक अपने मत की पुष्टि के लिए उपनिषद् वाक्यों को उद्धृत करते हैं तथा सिद्धान्तों की उपनिषद् सम्मत वेदान्तानुकूल व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।[११] वे यह भी स्वीकार करते हैं कि सांख्य दर्शन वेदान्त सिद्धान्त के समीप है।[१२] इस सांख्य सिद्धान्त का केवल आदि धर्मसूत्रकारों तथा मनु इत्यादि स्मृतिकारों ने आश्रय लिया है। महर्षि कपिल का श्वेताश्वतरोपनिषद (४/२) तथा गीता (१०/२६) में प्रशंसा की गयी है और जन साधारण की सांख्य शास्त्र में श्रद्धा है।

डॉ. कीथ का मत है कि उपनिषदों में सांख्य दर्शन के सिद्धान्तों को ज्यों का त्यों पाना असंभव है तथापि उनमें यत्र-तत्र ऐसे बीज मिलते हैं जिनसे उन विचारों का विकास लक्षित होता है जो बाद में सांख्य दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित हुए। बादरायण तथा शंकराचार्य के दर्शनों की ही भाँति सांख्य दर्शन भी उपनिषदों से ही उद्भूत हुआ है, किन्तु इन दोनों से ही यह इस अर्थ में भिन्न है कि यह मूलतः और तत्त्वतः भी उपनिषदों की शिक्षा से आगे चला जाता है।[१३] प्रो. गार्वे का मत है कि सांख्य दर्शन उपनिषदों के प्रज्ञानाद्वैतवाद के विरोध में अर्थात् उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न हुई है।[१४] प्रो. सूर्यनारायण शास्त्री ने गार्वे के मत का खण्डन करते हुए लिखा है कि "ऐसा मानना उपनिषदों की बहुविधता तथा सांख्य दर्शन के विकास के इतिहास, दोनों के ही विरुद्ध है। न तो उपनिषदों में प्रज्ञानाद्वैतवाद (Idealistic Monism) ही प्रतिपादित है जिनके विरुद्ध सांख्य दर्शन का प्रकृति-पुरुष-द्वैतवाद उत्पन्न हुआ कहा जा सके और न सांख्य दर्शन अपने विकास क्रम में आदि से अन्त तक एक सा ही है जिससे इसे औपनिषदिक या वैदिक सिद्धान्त से सर्वथा विरुद्ध कहा जाय, क्योंकि कारिकाओं से पूर्व का सांख्य दर्शन औपनिषदिक मत से पर्याप्त सादृश्य रखता है।[१५] इसका बादरायण तथा शंकर के दर्शनों से केवल इतना ही भेद प्रतीत होता है कि यह उपनिषदों की शिक्षाओं से आगे बढकर अपने स्वतंत्र चिन्तन को अग्रसर करता है।

चिन्तन के इतिहास में कोई भी विचारधारा एकदम नवीन नहीं होती, विचार किसी

भी एक मस्तिष्क में उत्पन्न नहीं हो जाते। डॉ.ई.एच.जॉनसन ने ठीक ही लिखा है कि विभिन्न पारस्परिक दर्शन-सम्प्रदायों के उपलब्ध प्रामाणिक ग्रन्थों से किसी भी कृति की रचना होने के समय से पूर्व हिन्दु दर्शन कई शताब्दियों तक निर्माणावस्था में था।[१६] अतः निश्चित रूप से वेदों तथा उपनिषदों में कुछ ऐसे विचार थे जिनसे कालान्तर में सांख्य दर्शन का विकास हुआ। विभिन्न ऋषियों ने विभिन्न रूपों में तत्त्व-साक्षात्कार किया और उनमें से कुछ ऋषियों ने ऐसे दार्शनिक तथ्य अवश्य बिखेरे जिससे सांख्य दर्शन का विकास किया जा सकता था।

उपनिषदों में सांख्य दर्शन की उपलब्धि के पक्ष में कोई दृढ प्रमाण खोज पाना असंभव है। वस्तुतः उपनिषद् परमात्मा की खोज में परायण है। परमात्मा द्वारा विविध रूप धारण करना संभव होने के कारण उपनिषद् न ही इस खोज को त्याग सकते हैं और न ही इस घोषणा की अनुमति देते हैं कि परमात्मा है ही नहीं। परन्तु उपनिषदों में जहाँ वहाँ ऐसे तत्त्व हैं जो उन विचारों का उद्गम हैं जिन्हें कालान्तर में सांख्य दर्शन में एक निशिचत पद्धति में बद्ध कर दिया गया। किन्तु इन अपूर्ण संकेतों में ऐसा कोई निर्देश नहीं जिनके आधार पर यह कहा जा सके कि सांख्य दर्शन उस समय अपनी रचना प्रक्रिया में था। एक शुष्क तर्क के रूप में ऐसा हठ करना भी संभव है कि परवर्ती सांख्य सिद्धान्तों का निर्देश करने वाले उपनिषदों के तत्त्व सांख्य साहित्य में ऐसे दर्शन की उपस्थिति के पक्ष में अत्यन्त अल्प प्रमाण भी न होने के कारण इस कल्पना को जरा भी महत्त्व देना एक निर्धारित क्रम की दृष्टि में अनुचित है। जबकि इसके विपरीत हम एक सहज निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उपनिषदों में यत्र तत्र ऐसे संकेत हैं जो कालान्तर में एक दर्शन के रूप में संग्रहित कर लिये गये। शंकर अथवा बादरायण के वेदान्त की भाँति सांख्य दर्शन भी उपनिषदों पर आधारित है। सांख्य दर्शन उपर्युक्त दोनों दर्शनों से भिन्न है क्योंकि भौतिक सिद्धान्तों की दृष्टि से सांख्य दर्शन ने वास्तव में उपनिषदों के उपदेशों का अतिक्रमण किया है।

आत्मा के जगत् सम्बन्धी स्वरूप की स्वीकृति के कारण जीवात्मा का परमात्मा के साथ विरोध उपस्थित होता है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसी के परिणाम स्वरूप परमात्मा का महत्त्व कम हो गया है क्योंकि परमात्मा का कार्य सृष्टि रचना मात्र प्रतीत होता है। साथ ही साथ जीवात्मा तथा भौतिक जगत् का विरोध अत्यन्त उग्र रूप धारण कर लेता है क्योंकि सेश्वर दर्शनों में आधिभौतिक सृष्टि का उद्भव परमात्मा से होता है परन्तु यह भौतिक सृष्टि जीवात्मा के अस्तित्व में आने के पहले ही विद्यमान रहती है। इस प्रकार भौतिक सृष्टि का आत्मा के साथ सम्बन्ध विरोधपूर्ण हो जाता है। यह परमात्मा

की उस स्थिति की रक्षा के परिणाम स्वरूप होता है जो क्षीणता की ओर अग्रसर है। अतः चिन्तनधारा अधिकांश रूप में आत्मा एवं भौतिक सृष्टि के वास्तविक स्वभाव पर केन्द्रित थी जिसका उल्लेख बृहदारण्यक उपनिषद् (१.४.६) के उन वाक्यों में है जहाँ यह स्पष्ट रूप में कहा गया है कि इस समग्र विश्व में केवल अन्न एवं भोक्ता ही है। मैत्रायणी उपनिषद् में ऐसे वाक्य की व्याख्या निम्न प्रकार से की गई है। यह वाक्य कर्ता रूप आत्मा एवं विषय रूप सारी भौतिक सृष्टि की भिन्नता का निर्देश करता है जिसमें भूतप्रकृति से उत्पन्न आध्यात्मिक उपकरण या अन्तःकरण भी सम्मिलित है। उत्तरवर्ती इस रचना के सम्भ्रान्त स्वरूप की विशेषता यह है कि इसके आगामी अध्याय (११-१३) में ऐसी भूतसृष्टि का वर्णन है जो परम ब्रह्म से उत्पन्न है। इस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् में किसी ऐसे सिद्धान्त का बुद्धिपूर्वक प्रतिपादन नहीं किया गया है जिसके अनुसार ब्रह्म ही लुप्त हो जाए। परन्तु यह बिल्कुल स्पष्ट है कि इस तत्त्व को लुप्त करने का मार्ग खुला था।

सांख्य शास्त्र में परमात्मा के निषेध के विलक्षण परिणाम हैं। इसकी विज्ञप्ति हमें तब होती है जबकि इसका सम्बन्ध उस सिद्धान्त के अत्यन्त विकसित रूप से जोडा जाता है जिसके अनुसार केवल आत्मा ही कर्ता है। प्रकृति का प्रथम विकार बुद्धि है जिसे महत् भी कहते हैं और जो मूल रूप में प्रकृति से उत्पन्न एवं पुरुष द्वारा प्रकाशित समस्त सृष्टि का क्रियारूप है। वास्तव में इस विचार का उद्भव उपनिषद के उस सिद्धान्त से माना जाना चाहिये जिसके अनुसार मूलप्रकृति के सृजन के पश्चात् परमात्मा सृष्टि के प्रथम तत्त्व के रूप में पुनः प्रस्तुत होता है। इस सिद्धान्त का मूलभूत उद्भव उपनिषदों से पहले ऋग्वेद (X, 2) में खोजा जा सकता है जहाँ पर हिरण्यगर्भ को आदि जल से उत्पन्न कहा गया है। उपनिषदों में ब्रह्म से घटित द्रष्टा कठ (ii । 10. 13.iv, 7) में महत् श्वेतश्वतर (ii, 19) में प्रथम महान् आत्मा iii 4 में हिरण्यगर्भ, vi, 18 में ब्रह्म और vi, 17 में ज्ञाता, सर्वव्यापक इसे ही कहा गया है। इससे यह भी स्पष्ट है कि श्वेताश्वतर V, 2, में हमें सर्वप्रथम उत्पन्न कपिल ऋषि सम्बन्धी विचार हो मानना चाहिए। इस विचार का दृढता से प्रतिपादन करना कि सांख्य के प्रवर्तन का एक व्यक्ति के रूप में उल्लेख सर्वप्रथम इसी मन्त्र में आया है जो बहुत विचित्र है यद्यपि यह बिल्कुल अस्वाभाविक नहीं है कि कपिल को सांख्य का प्रवर्तक मानने के सिद्धान्त का उद्भव इसी मंत्र से हुआ।[१७]

सृष्टि प्रक्रियाविषयक अन्य तत्त्वों के उद्भव सम्बन्धी और अधिक सामग्री भी उपनिषदों में उपलब्ध है। कठोपनिषद् सर्वथा एक प्राचीन रचना मानी जा सकती है।

इसकी प्राचीनता बृहदारण्यक, छान्दोग्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय और कौषीतकी जैसे गद्य उपनिषदों जितनी नहीं है। फिर भी यह द्वितीय चरण के पद्य उपनिषदों में प्रमुख है और इनमें इन रचनाओं के दर्शन का पूर्ण विकास हुआ है। इस उपनिषद् में इन्द्रियरूपी दुर्निग्रह अश्वों के निग्रह के उपदेश के पश्चात योग या समाधि का वर्णन है। यहाँ पर स्पष्ट रूप से कहा गया है कि विषय इन्द्रियों से परे हैं, मन विषयों से, बुद्धि मन से, महान् आत्मा बुद्धि से, अव्यक्त महान् आत्मा से और परमात्मा अव्यक्त से परे है। परमात्मा सभी प्राणियों में अदृश्य रूप में विद्यमान और सर्वोपरि है। अत: समाधि में वाणी और मन का ज्ञाता या बुद्धि द्वारा और बुद्धि का भी महान् आत्मा द्वारा और महान् आत्मा का प्रशान्त आत्मा अव्यक्त द्वारा नियंत्रण किया जाता है। उत्तरवर्ती एक स्थल पर इस प्रकार का वर्णन है। यहाँ मन को इन्द्रियों के परे, सत्त्व को मन के परे, महान् आत्मा को सत्त्व के परे, अव्यक्त को महान् आत्मा के परे बताया गया है। परमात्मा को अव्यक्त से भी परे बताया गया है जिसका वर्णन सांख्यदर्शन में उपलब्ध "सर्वव्यापक और "विशेषणरहित" इत्यादि शब्दावलि में किया गया है। योग की चरम अवस्था वह है जबकि इन्द्रिय, मन और बुद्धि की वृत्ति रुक जाती है। अग्रिम पंक्तियों में कहा गया है कि परमात्मा का वर्णन सत्ता को उद्घोषित करने वाले उपनिषद् वाक्यों के माध्यम से ही किया जा सकता है। इस क्रम की तुलना छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित उस तथ्य के साथ की जा सकती है जिसके अनुसार मृत्युकाल में वाणी का मन में, मन का प्राणों में, प्राणों का तैजस् में और तैजस् का परमेश्वर में विलय हो जाता है।

वास्तव में कठ उपनिषद् द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त का लौकिक सांख्य से मूलभूत भेद है क्योंकि यहाँ पर परमात्मा का सृष्टि से सम्बन्ध है और महान् आत्मा व्याकृत और भौतिक जगत् से सम्बन्धित अवस्था को ही प्रस्तुत करता है और अहंकार को भी स्वीकार नहीं किया गया है। जबकि लौकिक सांख्य में परमात्मा तत्त्व को स्वीकार किया गया है और बुद्धि, जिसे महत् भी कहते हैं, प्रकृति का विकार है, परमात्मा का नहीं।

प्रश्न उपनिषद् में इस स्थिति पर अधिक प्रकाश डाला गया है। यह उपनिषद् कठोपनिषद् के समकालीन नहीं है तथापि संभवत: उत्तरवर्ती गद्य उपनिषदों में सबसे प्राचीन है। चतुर्थ प्रश्न में विस्तारपूर्वक कहा गया है कि स्वप्नावस्था में इन्द्रियों का विलय मन में हो जाता है। और सुषुप्ति में मन ही तैजस् में विलीन हो जाता है। इसके पश्चात् वर्णित है कि किस प्रकार सभी पदार्थ प्रतिबिम्बरहित, रुधिररहित और शरीररहित अविनाशी तत्त्व में विलीन हो जाते हैं। विलय का क्रम है — भूतों के सूक्ष्म स्वरूप के वाचक सम्बन्धित तन्मात्रा सहित प्रत्येक महाभूत स्वक्रिया सहित ज्ञानेन्द्रियाँ, स्वक्रिया

सहित कर्मेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, तैजस् और प्राण एवं उनकी क्रिया। यहाँ परमात्मा को इन्द्रिय आदि द्वारा प्रदान किये गये अनुभवों के भोक्ता जीवात्मा या विज्ञानात्मा से भिन्न कहा गया है। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि प्रश्न उपनिषद् सांख्यदर्शन का विवरण नहीं है। परन्तु इसमें सक्रिय के मूलभूत तत्त्व विद्यमान हैं। तन्मात्राओं के सिद्धान्त का उद्गम छान्दोग्य उपनिषद् में प्रकट किये गए उस विचार से प्रतीत होता है जिसके अनुसार अग्नि, जल और पृथ्वी के अनुरूप महाभूत स्वतः विशुद्ध नहीं है परन्तु प्रत्येक दूसरों के कुछ भाग से मिश्रित है। उत्तरवर्ती ग्रन्थों में प्रचलित तन्मात्र संज्ञा सर्वप्रथम स्पष्ट रूप से मैत्रायणी उपनिषद् में दी गई है।

सांख्य सदृश सिद्धान्तों का और अधिक विस्तृत विवरण श्वेताश्वतर उपनिषद् में उपलब्ध है : निस्सन्देह यह उपनिषद् प्रश्न उपनिषद् के पूर्ववर्ती एवं कठ उपनिषद् के उत्तरवर्ती काल की रचना है। निश्चित रूप से यह उपनिषद् ईश्वरवादी है क्योंकि इसमें रुद्र के प्रति भक्ति और श्रद्धा का प्रतिपादन किया गया है। रुद्र को शिव का नाम नहीं दिया गया है परन्तु शिव के विशेषणों का रुद्र के विशेषणों के रूप में उल्लेख है। रुद्र को परमात्मा से उत्पन्न नहीं अपितु स्वयंभू और परमात्मा माना गया है। दूसरी ओर, तत्त्वों की संख्या के ऐसे क्रम का उल्लेख है जिसकी उचित व्याख्या सांख्य द्वारा स्वीकृत तत्त्वों की गणना के परिप्रेक्ष्य में की जा सकती है। इस प्रकार 1.4 में जीवात्मा की तुलना एक चक्र से की गई है जिसके तीन पहिए, सोलह उच्चतम बिन्दु (सिरे), पचास आरे, बीस विपरीत दशा में निहित सहायक आरे आठ के छः समूह हैं। इनकी व्याख्या तीन गुण, दस इन्द्रियाँ, मनस और पंच भूतों से घटित सोलह के समूह, लौकिक सांख्य में उपलब्ध पचास भाव, दस इन्द्रियाँ और उनके विषय और निम्न छः समूह, पाँच भूत, मनस्, अहंकार और बुद्धि, शरीर के आठ तत्त्व, आठ सिद्धियाँ, पचास भावों के पर्यायभूत आठ भाव, आठ देव और आठ बुद्धि के धर्म के रूप में की गई है। इस ऐक्य का महत्त्व अनिश्चित मानना चाहिए और उन्होंने कोई निर्णायक युक्ति भी नहीं दी है क्योंकि संख्या के साथ यह खिलवाड आस्तिक दर्शनों द्वारा बहुत प्रभावित है। परन्तु सांख्य सिद्धान्तों की सत्ता का उपर्युक्त प्रमाण से अधिक निर्णायक एक अन्य प्रमाण उपलब्ध है। जीवात्मा, विज्ञानात्मा या पुरुष का वर्णन इस प्रकार किया गया है। यह अपने गुणों से आच्छादित ईश्वर की शक्ति है। इसमें स्पष्ट रूप से यह दिखाया गया है कि परमात्मा सभी का कारण है तथा गुणों के सिद्धान्त में एक अन्य तत्त्व को जोडा गया है। इसी के माध्यम से परमात्मा जीवात्मा बन जाता है। सांख्य के सदृश सिद्धान्तों की सत्ता का इससे भी अधिक स्पष्ट प्रमाण है जिसमें कहा गया है कि एक लोहित,

शुक्ल और कृष्ण रंगों वाली ऊर्जा अपने सदृश बहुत से बच्चे पैदा करती है। उससे आसक्त एक ऊर्जा उसका भोग करता है और दूसरा उसे भोग कर छोड देता है।

इस संदर्भांश का विवेचन शंकराचार्य ने किया है जिससे उन्होंने इन रंगों का सम्बन्ध छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित सभी भूतों में विद्यमान तथा स्वयंभू से उत्पन्न तीन पदार्थों -- अग्नि, जल एवं पृथ्वी -- के रंगों से जोडने की चेष्टा की है। यह मत निस्संदेह ठीक प्रतीत होता है। तीन रंगों सम्बन्धी समानता का प्राचीन होना आश्चर्यजनक है। परन्तु इस अंश में उत्तरवर्ती सांख्य सिद्धान्त में विकसित चिह्नों का स्पष्ट उल्लेख सहज स्वीकार्य है। बहुत बकरों एवं मुक्ति से पहले भोग के सम्बन्ध की कल्पना वास्तव में लौकिक सांख्य में पुरुष और प्रकृति के सम्बन्ध के लिए दिये गये उदाहरणों के सदृश है और बकरी को "ऊर्जा" की संख्या दी गई है इसका अर्थ अजन्मा है। अत: यह प्रकृति नामक प्रथम तत्त्व को अजन्मा मानने वाले सांख्य सिद्धान्त के अनुरूप है। प्रकृति से उद्भूत सभी पदार्थों में विभिन्न मात्रा में पाये जाने वाले गुणों के सर्वव्यापक का सांख्य सिद्धान्त छान्दोग्य उपनिषद् में आए सिद्धान्त की तरह बकरी की सन्तानों के विवरण के अनुरूप है। अत: यह मानना ही तर्कसंगत है कि छान्दोग्य उपनिषद् के त्रिविध भूतों में गुणों के सिद्धान्त के उद्भव के स्पष्ट चिह्न हैं और गुणों की चर्चा करने वाले इस या अन्य अंशों में इसका कोई संकेत नहीं है कि गुण भूतों से भिन्न वस्तु है। छान्दोग्य उपनिषद् का वर्णन भी इसी प्रकार का है। सत्त्व, रजस्, तमस् संज्ञाएँ मैत्रायणी उपनिषद् से पूर्व उपलब्ध नहीं होतीं। यह भी असंभव नहीं कि इन संज्ञाओं से लक्षित एवं लौकिक सांख्य में बहुधा प्रचलित गुणों को कर्ता मानने के सिद्धान्त का विकार, उस सिद्धान्त से हुआ जिसके अनुसार जीव स्वयंभू पर तीनों गुणों द्वारा आचरण का ही परिणाम है यद्यपि मूलत: वे गुण भौतिक विकार का ही निर्देश करते हैं परन्तु इन्हें मानसिक अवस्था (भाव) के रूप में मानने की प्रवृत्ति भी थी।

यह सर्वाधिक संभव है कि सांख्य सिद्धान्त विषयक इन निर्देशों में सांख्य सिद्धान्तों के वेदान्त दर्शन से मिश्रण का कोई परिणाम नहीं है। यह अत्यन्त स्पष्ट है कि इस में स्वयंभू का निर्देश न करने वाले सिद्धान्त का बुद्धिपूर्वक कथन नहीं है। इसके विपरीत १० में प्रकृति को माया, परमात्मा को माया का स्रष्टा मानने और सांख्य सम्मत प्रकृति की भिन्न वास्तविक सत्ता की संभावना के निराकरण का विचारपूर्वक विवरण है। सांख्य सिद्धान्तों को ठीक मानने के विरोधी व्यक्ति के लिए वाक्यों का निर्देश जिनमें सांख्य सिद्धान्त को सत्ता की प्रतीति होती है एक सहज (व्याख्या) नहीं है परन्तु यह मानने पर यह उपनिषद् पूर्ववर्ती उपनिषदों पर आधारित स्वयंभू सम्बन्धी सिद्धान्त के

उपक्रमबद्ध विकसित रूप को प्रस्तुत करता है जिससे कालान्तर में सांख्य का विकास हुआ। यह सम्पूर्ण व्याख्या स्वाभाविक प्रतीत होती है। ऐसा मानने पर vi, 5 में कुछ भी असंगत नहीं रह जाता। यहाँ पर प्रयुक्त रूपक दो जीवात्माओं की विभिन्न अवस्थाओं पर पूर्णतया उचित रूप से घटित होते हैं। इसमें से एक की त्रिगुणों द्वारा आवृत्त स्वयंभूरूपी वास्तविक स्वरूप का मान नहीं जबकि दूसरे को अपने वास्तविक स्वरूप की पहचान हो गई है और परिणामत: उसने प्रकृति से सम्बन्धविच्छेद कर लिया है।

श्वेताश्वतर में निरीश्वरवादी संख्य सम्बन्धी कोई निर्देश नहीं है किन्तु यह ऐसे विचारों का संग्रह मात्र है जो कालान्तर में संख्य में विकसित हुए। श्वेताश्वतर उपनिषद् की भाँति इसमें भी कहा गया है कि ब्रह्म गुणों द्वारा आवृत्त है परन्तु इसमें गुणों को प्रकृति के गुण कहा गया है जबकि श्वेताश्वतर के अनुसार गुण ब्रह्म के ही हैं। इन्हीं गुणों के माध्यम से ब्रह्म में अहंकार की भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है और वह अपने द्वारा स्वयं को ही बन्धन में डालता है। यह रूपक सांख्यकारिका (६०) में प्रकृति के संदर्भ में कहा गया है। इस प्रकार तन्मात्र एवं महाभूतों से बने शरीर में निवास करने वाले भूतात्मा की उत्पत्ती होती है। तन्मात्र एवं महाभूत भूत शब्द के वाच्य हैं। परमात्मा जीवात्मा एवं गुणों की तुलना क्रमश: तावे लोहा और लुहार से की गई है जिसमें लुहार लोटे को ही कूटती है, इसको व्याप्त करने वाले तत्त्व को नहीं। यहाँ पर भी गुणों का वर्णन मानसिक अवस्थाओं (भावों) के रूप में किया गया है और शारीरिक एवं मानसिक विकार रजस् (इच्छा) एवं तमस् (मोह) के कार्य के रूप में निर्दिष्ट है। पंचम परिच्छेद में एक सृष्टि विषयक आख्यान दिया गया है जिसके अनुसार परमात्मा तमस्, रजस् और सत्त्व नामक तीन गुणों की सृष्टि करता है और सत्त्व आत्मा का सृजन करता है जिसका मानसिक शरीर प्रस्तुतीकरण, निश्चय और अहंकार की शक्ति से सम्पन्न विशुद्ध बुद्धि है। साहित्य में पहली बार यहीं पर यह भी कहा गया है कि मुक्ति आत्मा और प्रकृति दोनों की होती है। इसी सिद्धान्त को दूसरा रूप देकर सांख्य में इस प्रकार कहा गया है कि प्रकृति दूसरे (पुरुष) को मुक्ति के लिए अपनी मुक्ति की भाँति प्रयत्न करती है, यद्यपि दूसरे स्थान पर यह भी कहा गया है कि मुक्ति पुरुष की नहीं होती अपितु वास्तव में प्रकृति की ही होती है। इस विरोध का उदय इस तथ्य के कारण होता है कि अचेतन होने के कारण प्रकृति को दु:ख नहीं हो सकता। दु:ख का उदय प्रकृति पुरुष संयोग से होता है जिस के कारण प्रकृति में चेतना आ जाती है। इस उपनिषद् में मुक्ति को पुरुष और प्रकृति दोनों के विषय में कहा गया है। पुरुष और विषयभूत संसार के भेद के सिद्धान्त का स्पष्ट उल्लेख है। मानस शरीर मूल प्रकृति से उत्पन्न होता है और इसे

महत् से महाभूतों तक के तत्त्वों से घटित कहा गया है, यद्यपि यहाँ पर थोडी पाठ भेद की उपेक्षा की गई है और तत्त्वों की गणना का घनिष्ट सम्बन्ध तन्मात्राओं से जोडा गया है। लौकक सांख्य में स्पष्टतया महाभूतों को सूक्ष्म शरीर में सम्मिलित किया गया है। यह स्थिति प्रस्तुत प्रकरण में भी संभव है।

उपनिषदों में परमात्मा की सत्ता सदैव स्वीकृत की गई है क्योंकि परमात्मा की सत्ता केवल जीवात्मा के ही रूप में स्वीकृत नहीं की गई है। अत: व्यक्ति को सतत जन्म की प्रक्रिया से मुक्ति दिलाने वाले ज्ञान का स्वरूप परमात्मा एवं जीवात्मा के वास्तविक तादात्म्य का ज्ञान है। ज्ञान को मुक्ति का कारण मानने के सिद्धान्त का प्रतिपादन सांख्य के यौगिक (विकसनशील) स्वरूप को स्पष्ट रूप से उद्घोषित करता है। सांख्य दर्शन में पुरुष का प्रकृति के साथ कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है। अत: यह समझना पूर्णतया असंभव है कि इस प्रकार के सम्बन्ध के विषय में मिथ्याभावना किस प्रकार उदित होती है। वास्तव में पुरुष विशुद्ध भोक्ता है और प्रकृति विशुद्ध भोग्य और इनके परस्पर सम्बन्ध के विषय में कोई क्रिया भी नहीं है जो अज्ञान या ज्ञान का अस्तित्व सिद्ध कर सके। दूसरी ओर, उपनिषदों में चाहे जितना सत्यांश जीवात्मा या संसार का हो, अज्ञान का उद्भव भी अवश्यमेव माना गया है। स्वयंभू माया के कारण या वास्तविक स्वरूप से अपने में से ही आत्मा एवं भूतरूपी जगत् को उत्पन्न करता है। प्रातिभासिक विभिन्नताओं के होते हुए भी परमार्थ रूप में जीवात्मा एवं परमात्मा को विभिन्नता के निषेध के ज्ञान से मुक्ति होती है। सांख्य में अज्ञान को वास्तविक माना गया है किन्तु इस वास्तविकता की अन्यथा कोई आपत्ति नहीं है। अत: अज्ञान की स्थिति का उद्भव दर्शन के रूप से जोडना चाहिए जिसमें इसका अस्तित्व अधिक प्रामाणिक हो।

पुनर्जन्म और इससे जुडे निराशावाद के सिद्धान्त की किसी समालोचना के बिना स्वीकृति सांख्य के यौगिक (विकसनशील) स्वरूप का अन्य प्रमाण है। उपनिषदों में पुनर्जन्म के सिद्धान्त के पूर्ण विकसित रूप का कोई संकेत नहीं है। परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों में पुनर्जन्म सिद्धान्त की अनुपलब्धि से इस तथ्य का अनुमान किया जा सकता है कि उपनिषद् काल में सांख्यदर्शन का केवल उद्भव ही हुआ था। दूसरे जन्म के द्वारा कर्मों के क्षयरूपी नैतिक सत्य के रूप में इस सिद्धान्त की सर्वप्रथम उद्घोषणा का श्रेय याज्ञवल्क्य को है जिन्होंने बृहदारण्यक उपनिषद में इस सिद्धान्त का सूत्रपात किया यद्यपि यह विचार विवादास्पद रहा है। इस विचार का समग्र रूप विस्तृत एवं विभ्रान्त बन पडा जिसमें पुनर्जन्म द्वारा कर्मों के क्षय के सिद्धान्त एवं नरक में पीडा और स्वर्ग में भाग मिलने के पुराने सिद्धान्त का समन्वय है। यह समन्वित रूप बृहदारण्यक

उपनिषद् के उत्तरवर्ती अंशों एवं छान्दोग्य में उपलब्ध है । यह सिद्धान्त सभी प्राचीन उपनिषदों द्वारा आवश्यक रूप में स्वीकृत नहीं है । ऐतरेय आरण्यक के पूर्वरचित भागों में इस सिद्धान्त की उपलब्धि के विषय में सन्देह है । दूसरी ओर, कौषीतकि और कठ में इस सिद्धान्त की स्पष्ट स्वीकृति है और बाद में यह सिद्धान्त सामान्य मान्यता हो गया। इसका विकास और प्रसार बौद्ध धर्म के उदय से पहले हुआ यह भी सुचारू रूप में कहा जा सकता है कि सिद्धान्त ईसा पूर्व ५५० में या शायद इससे आधी शताब्दी पूर्व उत्तर भारत में विस्तृत रूप में प्रचलित था । इस सिद्धान्त को ऋग्वेद में ढूँढने का भी असफल प्रयास किया गया है ।

इसी प्रकार सांख्य द्वारा स्वीकृत निराशावाद भी व्युत्पन्न (विकसनशील) ही माना जाना चाहिये । उपनिषदों में पूर्ववर्ती इस सिद्धान्त सम्बन्धी विवरणों में निराशावाद सामान्यत: दृष्टिगोचर नहीं होता । मैत्रायणी उपनिषद् में उपलब्ध विशेष निराशावाद में बौद्ध प्रभाव के उत्तरवर्ती होने के स्पष्ट निर्देश है । यह भी स्पष्ट है कि दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रसार में इस प्रभाव का बहुत बडा योगदान है । उपनिषदों का सूत्रभूत सिद्धान्त है कि आत्मा स्वयं में पूर्ण है और इसी कारण अन्य सभी कुछ दु:ख से भरा है । बृहदारण्यक में इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति है । इसी विचार की अभिव्यक्ति के साथ आत्मवित् सभी दुखों को जीत लेता है इत्यादि उल्लेखों का समन्वय हो जाता है । वृद्धावस्था और वेदनाओं सम्बन्धी संदर्भों की भी कमी नहीं है । परन्तु इसकी स्वीकृति एक बात है और यह प्रतिपादन करना कि उपनिषदों में निराशावाद की भावना प्रचलित है इससे पृथक् बात है । किन्तु, आत्मा को आनन्द स्वरूप मान कर नवीन ज्ञान की खोज में आनन्द लेना उपदेशकों की विशेषता है । प्राचीन उपनिषद् निराशावादी नहीं है और न ही निराशावादी रह सके क्योंकि आत्मविषयक ज्ञान का द्वार सबके लिए खुला है और इसके द्वारा आनन्द की प्राप्ति होती है । परन्तु सांख्य में उपनिषदों की भाँति यह माना गया है कि जीवनकाल में ही मुक्ति पाना संभव है अत: इसमें निराशावाद कम है। साथ ही साथ सांख्य में यह भी माना है कि आत्मा को मुक्त अवस्था में आनन्द नहीं होता और बौद्ध दर्शन की भाँति मानव-दु:ख को वास्तविक माना है ।

छान्दोग्य और बृहदारण्यक जैसे प्राचीन उपनिषदों में भी विशेष सांख्य सिद्धान्तों को खोजने का प्रयास किया गया है । बृहदारण्यक उपनिषद् vi, 4, 8 में मन के साथ लिंग शब्द आया है । इसी लिए इसका अर्थ लिंग शरीर करने का सुझाव दिया गया है। परन्तु यह अधिक संभव है कि इसका अर्थ विशेष चिह्नों से युक्त है । एक दूसरे मंत्र (vi, 4.13) में असम्भूति शब्द का अर्थ प्रकृति करके शंकराचार्य इसमें सांख्य सिद्धान्त

का सन्दर्भ समझते हैं। यह मंत्र ईश उपनिषद् (१२) में भी आया है। परन्तु यह विचार स्प ा: असंभव है। एक दूसरे व्याख्याकार उवट ने कहा है कि असम्भूति अर्थात विनाश के विरुद्ध इस विवाद में लोकायत का खण्डन किया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् (१.४.१५) में आया वाक्य कि प्रारंभ में संसार अव्यक्तावस्था में था जिसमें वाद में नाम और रूप सम्बन्धी भेद हुआ बहुत ही प्राचीन सिद्धान्त की पुनरावृत्ति है। इसका सांख्य के प्रकृति सिद्धान्त को रूप देने में योगदान रहा है परन्तु यह विशेष रूप सांख्य सिद्धान्त नहीं है। छान्दोग्य उपनिषद् में अहंकार शब्द आया है परन्तु उसका प्रयोग आत्मा के पर्यायवाची शब्द के रूप में हुआ है। और vii 23.3.2 में सत्त्व का प्रकृति के अवयव के रूप में सांख्य में प्रयुक्त पारिभाषिक अर्थ भी नहीं है। iii 19 में भी कुछ भी विशेषत: सांख्य सिद्धान्त नहीं है। वह परिच्छेद एक आख्यान है जिसके अनुसार असत् से सत् की उत्पत्ति हुई फिर एक अण्डे की उत्पत्ति हुई जिसके दो अर्धांश आकाश एवं पृथ्वी है और जिनमें सूर्य का उदय होता है। इस प्रकार के सृष्टि विषयक आख्यान मनु और पुराणों के सृष्टि-आख्यानों के लिए महत्त्वपूर्ण है। यह कहना संदिग्ध है कि ये सृष्टि के क्रम का वर्णन है और सांख्य से सम्बन्धित है क्योंकि सत् से पहले असत् होने का विचार विकसित सांख्य के विपरीत है। सांख्य में अव्यक्त प्रकृति को निश्चितात्मकता न होने के कारण असत् नहीं माना है। औपनिषिदिक वर्णन का ऋग्वैदिक सृष्टि विषयक सूक्त x, 129 से सम्बन्ध स्पष्ट है। परन्तु इसमें भी केवल एक विचार है जो वाद में सांख्य द्वारा अव्याकृत प्रकृति सम्बन्धी सिद्धान्त से अंशत: स्वीकृत है। अथर्ववेद (x,8,43) का यह अंश अधिक महत्त्वपूर्ण है -

"नौ मार्गों वाला कमल का फूल,
तीन गुणों द्वारा आवृत,
इसमें क्या विलक्षणता है,
जिसे ब्रह्मवेत्ता जानते हैं।"

नौ मार्गों के कमल के फूल का स्पष्ट अर्थ नौ छिद्रों से युक्त मानव शरीर है। किन्तु तीन गुणों की व्याख्या में कठिनाई उपस्थित होती है। प्राचीन वैदिक साहित्य में इनका अर्थ (सांख्य अर्थ में) गुण करने के लिए कोई प्रमाण नहीं है। उपरोक्त अर्थ में यह शब्द सर्वप्रथम सूत्रों में आया है। अत: इसका अर्थ अवयव या इसके सदृश लेना चाहिए। संभवत: यहाँ केश, त्वक् और नखों का निर्देश है। यदि इसका अर्थ सांख्यदर्शन के गुणों के रूप में "अवयव" किया जाए तो उपर्युक्त कथन को अनुचित मानना पडेगा क्योंकि सांख्य दर्शन में तीन अवयव प्रकृति के घटक हैं और प्रस्तुत अंश के इस अर्थ में शरीर

प्रकृति से निर्मित न होकर प्रकृति से आवृत होगा । इसी सूत्र (x, 8,39-40) में संसार के सामयिक विनाश एवं उत्पत्ति के विषय में सन्दर्भ खोजने का प्रयास किया गया है । परन्तु यह भी प्रामाणिक नहीं है । इसको मानना या न मानना सांख्य के अस्तित्व के विषय में कुछ भी महत्त्व नहीं रखता क्योंकि यह सिद्धान्त सभी दर्शनों में सामान्य है ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि सांख्य दर्शन पर्याप्त समृद्ध रहा होगा । प्राचीन भारतीय वाङ्मय पर इसका प्रभाव इसकी श्रेष्ठता घोषित करता है । किन्तु आज इस दर्शन का एक बडा अंश नष्ट हो गया है और केवल कुछ अंश ही उपलब्ध हैं । यह अविशिष्ट अंश ही सांख्य की गणना भारत के श्रेष्ठ दर्शनों में कराने का औचित्य सिद्ध कराने के लिए पर्याप्त है । सांख्य में अन्य दर्शनों की अपेक्षा तत्वों का सूक्ष्मतर विवेचन हुआ है । यह अत्यन्त प्राचीन दर्शन है और इसका अविर्भाव काल लगभग उपनिषदों के समीप ही अनुमान किया जाता है । अत्यन्त प्राचीन काल में सर्वप्रथम सांख्य दार्शनिकों ने ही मनुष्य के मस्तिष्क में उठने वाले रहस्यपूर्ण प्रश्नों का केवल युक्ति से उत्तर देने का प्रयास किया है और स्वतंत्र चिन्तन को प्रोत्साहित किया । अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण सांख्य दर्शन का प्राचीन काल से ही भारतीय दर्शनों के मध्य अन्यतम स्थान है ।

द्वारा (कै) एस. के. तुरीअर
निवृत्त सहसचिव
यारपुर, पटना ८००००१
(बिहार)

किरण कुमारी

टिप्पणियाँ

१. सां. द. ई. वासुदेव शरण अग्रवाल भूमिका पृ.१
२. साङ्ख्य योगचं सनातने द्वै । महाभारत १२/३४९/७३/१
३. सांख्य कारिका ७०
४. सांख्य तत्त्व, भूमिका पृ. १
५. The Sankhyakarika of Ishwarkrishna, preface
६. हिन्दुस्तान की कहानी, पृ.१२७
७. श्वेता. उपनिषद् ५/२ तथा ६/१३

८. नास्ति सांख्य समं ज्ञानम् (महाभारत १३/३१६/२)।

९. गीता, १३/२४

१०. श्वेता. उप. ६/३, ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य २११/३

११. वही २/१/१

१२. वही, १/४/२८

१३. सां. सि, पृ. ७-८

१४. ई. आर. ई. भौलूम-२, पी-१८९

१५. सांख्य कारिका भूमिका पृ. १-२

१६. ई. एस, पृ-१

१७. गार्वे का यह सिद्धान्त कि कपिल वास्तव में एक व्यक्ति थे (सांख्य फिलौसोफी, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ४६ और आगे) याकोबी द्वारा निर्णीत रूप से गलत सिद्ध कर दिया गया है (गर्टिंगिष्प गेलेर्ट अन्त्सैगन १९१९, पृ. २६)

१८. देखिए, एच. ऑल्डनवर्ग, जेड. डी. एम. जी. xxxi/ii, 57 और आगे बुद्ध, पृ.६०, नाखरिष्टन् फॉन डेन क्यूमिग गंजेलपाफूट डेर विस्सनषाफ्टन त्सु ग्येटिगन् ,१८१७, पृ. २२२, सन्दर्भ १, पी. डायसन, फिलौसोफी आफ दि उपनिषद्स्, पृ. २४

१९. ए. ई. गॉफ (फिलॉसोफी आफ दि उपनिषद्स् पृष्ठ २००, २१२) के विचार में यही सत्यांश है कि सांख्य मूलत: वेदान्त के तत्त्वों की ही गणना है। इस प्रकार के सांख्य दर्शन का कोई लिखित विवरण उपलब्ध नहीं है किन्तु दर्शन के रूप में सांख्य निरीश्वरवादी है।

ऑल्डनवर्ग (नाख़रिष्टन फॉन डेन क्युमिग गजेलषाफ्ट देर विस्सनषाल्टनत्सु गर्गिगन, १९१७, पृ. २३१ और आगे) की मान्यता है कि महाभारत को वास्तव में एक ऐसा सांख्यदर्शन ज्ञात था जिसमें परमात्मा और जीवात्मा दोनों मान्य है, किन्तु, जैसा कि तृतीय अध्याय में दिखाया जाएगा, यह विचार बिल्कुल संदिग्ध है और यदि हम इस प्रकार के प्राचीन सांख्य सिद्धान्त का जिक्र करें तो यह अवश्य मानना चाहिये कि यह शब्दावली भारतीय नहीं है और भ्रान्तिपूर्ण है।

२०. डायसन, सैक्सिष उपनिषदस् पृ. ३३७ संख्या-२

२१. देखिए, एफ. ओ. थेडर, जेड. डी. एम. जी. ixvi, 333-35

२२. यह सिद्धान्त मैत्रायणी (i/i-10) से पूर्ववर्ती किसी भी उपनिषद् को स्पष्टतया ज्ञात न था। कठ (vi,8) और श्वेताश्वतर (iv,9) में इसका संदर्भ हो सकता है।

२३. देखिए लैनमान के सुधार सहित विटने का संकेत। पी. ऑल्तमास लिस्ततार डेष इदे थिओसोफीख १,२४०/४।

२४. देखिए, एच. याकोबी गाटिग गेलेर्ट अन्त्र्सगन् , १८९५, पृ. ३१०, ऐतरेय ब्रह्मण में दृढतापूर्वक कथन के लिए देखिए मैकडानल और कीथ, वैदिक इन्डैक्स iii,193 तुलना कीजिए, गार्वे सांख्य फिलासोफी, पृ. २८६.

निवेदन

पत्रिका के सदस्यता-शुल्क में खण्ड २२, अंक १ से वृद्धि कर दी गयी है। परिवर्द्धित सदस्यता-शुल्क :

आजीवन	:	संस्थाओं के लिए	रु.	२०००/-
		व्यक्तियों के लिए	रु.	८००/-
वार्षिक	:	संस्थाओं के लिए	रु.	१००/-
		व्यक्तियों के लिए	रु.	८०/-
एक प्रति का मूल्य			रु.	२५/-

सदस्य पाठकों से नम्र आवाहन है कि पत्रिका की आर्थिक स्थिति को संकट से बचाने के लिए हार्दिक सहयोग दें।

प्रधान संपादक
(परामर्श (हिंदी)

भारतीय संगीत, संस्कृति और दर्शन का अन्तःसंबंध : एक अध्ययन

भारतीय शास्त्रीय संगीत भारत की श्रेष्ठ सांस्कृतिक सम्पदा है। हमारी मान्यता है कि हर तरह की अस्थिरता या अतिवाद से त्रस्त भारतीय समाज को जरुरी कल्याणकारी शक्ति केवल सांस्कृतिक आन्दोलन से ही मिल सकती है। मनुष्य की प्रकृति एवं व्यवहार को समझने के लिए हम उसकी संस्कृति का अध्ययन करते हैं। अभ्यास को मानव चरित्र समझते है। संस्कार करना या परिमार्जन संस्कृति कहलाता है। संस्कृति का संबंध आत्मा, मन तथा अन्तःकरण तीनों के पवित्र एकीकरण से होता है। इस पवित्र एकीकरण के भाव संगीत में प्रस्फुटित होते हैं। विभिन्न सांगीतिक आयोजनों से हमारी संस्कृति को एकसूत्र में बँधने का अवसर मिलता है। इसे हम संगीत की संस्कृति कह सकते हैं जो एक तरफ हमें एक सूत्र में बाँधती है तो दूसरी तरफ हमारे जीवन में कोमल भावनाओं का संचार भी करती है।

परम्परागत गाथा गायन या लौकिक संगीत में अन्तर्निहित स्वर-ताल हमारे आध्यात्मिक उन्नयन के मार्ग खोलते हैं। इसी प्रकार, हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत की विविध शैलियों में सर्वाधिक प्रचलित खयाल एवं गंभीर शैली ध्रुपद को ज्ञान-चक्षु खोलने का मार्ग समझा जाता है। संस्कृति का अलौकिक पक्ष धर्म है और लौकिक पक्ष कर्म है। वेदों को हमारे यहाँ धर्म का मूल कहा गया है। धर्म-विहित कर्तव्यों पर ही राजधर्म तथा राष्ट्रधर्म निर्भर रहता आया है और जीवन में उनका आचरण ही संस्कृति है। संगीत आचरण बरतने की शिक्षा देता है। अतः संस्कृति का अनिवार्य अंग है।

अति भौतिकता, कृत्रिमता और अपसंस्कृति से परिपूर्ण (विदा लेती हुई) २० वीं शताब्दी १८ वीं शताब्दी से पनपी औद्योगिक क्रांति के परिणाम रूप में हमारे समक्ष आयी। औद्योगिक क्रांति ने मानव शक्ति को पीछे ढकेल कर यंत्र शक्ति का विकास किया। विज्ञान के विकास ने प्रकृति के कुछ रहस्यों को सुलझाया जरूर लेकिन तकनीकी चकाचौंध में विवेचन, चिंतन, साहित्य और कला की घोर उपेक्षा हुई है। आनेवाली २१ वी शताब्दी के पूर्व हमें विचारकों, कलाकारों, संगीत विदों, नीतिनिर्माणकों, साहित्यकारों को उनकी अपनी गरिमा देनी होगी। भारतीय संगीत की अधुनातन प्रस्तुति

में हजारों वर्षों का समय लगा है । बदलती सभ्यता-संस्कृति के अनुरूप इसका विकास और ऱ्हास भी चलता रहा है । इसी परिप्रेक्ष्य में विचारणीय है कि आज हमारा संगीत भारतीय सीमाओं को लाँघकर विश्व स्तर पर ख्याति प्राप्त कर रहा है । विभिन्न देशों में आयोजित भारतीय महोत्सव, म्युजिकल नाइट्स ने चतुर्दिक संक्रमणग्रस्त अतिभौतिक वर्तमान युग में भी भारत की सांस्कृतिक पहचान में कई विशिष्ट और नूतन आयाम जोडे हैं ।

३८४ वर्ष ईसा पूर्व यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू कह गए हैं कि किसी समाज की राजनीतिक स्थिति का वर्णन वहाँ की सांगीतिक स्थिति को देखकर किया जा सकता है ।

हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने भी संगीत के राष्ट्रीयकरण का स्वप्न देखा था। उन्होंने कहा है - "संगीत अर्थात् लय, तारतम्य । इसका प्रभाव विद्युत्कारी है । यह तत्काल सांत्वना प्रदान करता है । दुर्भाग्यवश हमारे शास्त्रों की तरह हमारा संगीत भी कुछ मुट्ठी भर लोगों के विशेषाधिकार की वस्तु बन गयी है । इसका आधुनिक अर्थ में राष्ट्रीयकरण नहीं हो पाया है ।"[१]

संगीत शिक्षा के रूप में और शिक्षा के सांस्कृतिक आधार के रूप में अति प्राचीन समय से हमारे बौद्धिक तथा आध्यात्मिक विकास का द्वार खोलती आयी है । भारतीय संगीत का सांगोपांग अध्ययन स्पष्ट कर देता है कि हमारी सांगीतिक परम्परा हमारी सांस्कृतिक विरासत है । अस्तु विद्या रूप में संगीत एक स्वतंत्र विद्या है, स्वतंत्र कला है, लेकिन विशिष्ट रूप में शिक्षा का सांस्कृतिक आधार है । एक मौलिक समस्या यहाँ पुनः उठ सकती है - आज के लिखित, अतिविकसित तकनीकी युग में संगीत की भूमिका क्या समाप्त नहीं हो जाती? जवाब है कि आज भी संगीत-नृत्य-वादन भाषा की संवेगात्मक अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक है । कैसे? किसी भी भाषा के व्याकरण में संप्रेषण के लिए भाव अथवा संवेग का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है । भारतीय संगीत चाहे उसका रूप शास्त्रीय संगीत का हो, उपशास्त्रीय अथवा लोक संगीत का सम्प्रेषण और भाव सम्प्रेषण का एक महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है ।

भारतीय संगीत के इतिहास को भारतीय सांस्कृतिक विकास की कहानी कहा जा सकता है । संगीत एक गति है और हमारी क्रियाएँ गति के बिना संपादित नहीं हो सकतीं । ऐसा कहा जा सकता है कि संगीत एक गत्यात्मक कला है जो अपने विषय से सम्बन्धित विकास की सामग्री सामाजिक जीवन से लेता है । संगीत की गति और हमारी क्रियाओं में जो सादृश्य है उन्हीं की वजह से सुमधुर ध्वनियुक्त राग-रागनियाँ हमारी आत्मा को प्रभावित करती हैं ।

मानव जीवन से उतना ही पुराना संगीत का संबंध है जितना कि मानव का प्रकृति से है । संगीत को मानव के लिए उतना ही स्वाभाविक माना गया है जितना उसका बोलना । इस संबंध में हम हिन्दी विश्वकोश का उद्धरण देना चाहते हैं- " कब से मनुष्य ने गाना प्रारम्भ किया, यह बतलाना उतना ही कठिन है जितना कि कब से उसने बोलना प्रारंभ किया । परन्तु बहुत काल बीत जाने के बाद उसके गान ने व्यवस्थित रूप धारण किया ।"[२]

जहाँ तक संगीत के विकास की बात है, हम नारदीय शिक्षा में वर्णित एक स्वर से सात स्वर के विकास को देखें, नारदीय शिक्षा में वैदिक गीत श्रेणी को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि आर्चिक गायन एक स्वर, गाथिक गायन-दो स्वर, सामिक गायन-तीन स्वर, स्वरान्तर गायन-चार स्वर, औडव गायन-पाँच स्वर, षाड्व गायन-छ: स्वर एवं सम्पूर्ण गायन-सात स्वर वाला था । यथा-

एक स्वर प्रयोगोहि आर्चिक: सोहभिधीयते ।
गाथिको द्विस्वररोज्ञेय स्त्रिस्वरश्चैव सामिक: ।।
चतु:स्वर प्रयोगाहि कथितस्तु स्वरान्तर: ।
औडुव: पंचमिश्चैव षाडव: षट् स्वरोभवेत ।।
सम्पूर्ण: सप्तमिश्चैव विज्ञेयो गीतयोक्तृतिभ: ।।[३]

संगीत का आदर्श है ज्ञान के सुनहरे रत्नों को अपने स्वर में एकत्रित कर हर तरह के भेद-भाव को मिटाना । आज भेद-भाव से हम त्रस्त हैं सामाजिक मूल्यों के ह्रास को महसूस कर कभी उबल पडते हैं कभी मौन साध लेते हैं । लोक प्रचलित संगीत में मूल्यों को वहन करने की शिक्षा सदा ही निहित रही है । इसके पीछे कारण यह है कि अपने संगीतात्मक अभिव्यक्ति में संगीतज्ञ समाज की प्रतिकृति अंकित करते हैं । सांगीतिक प्रस्तुति में हमें फिर विविध राष्ट्रीय समस्याओं के अनुकूल राष्ट्र के निर्माणशील और स्वस्थ प्रभावों को अभिव्यक्त करना होगा । गाना और रोना मानव का प्राकृतिक स्वभाव है । विभिन्न समारोह चाहे वह पारिवारिक हो या सामाजिक, गीत और नृत्य से परिपूर्ण होते हैं । मानव ही केवल गायन के माध्यम से अपनी अनुभूतियों को व्यक्त नहीं करते बल्कि वर्षा ऋतु में हम सुंदर पक्षी मयूर को नाचते देखते हैं, रिमझिम बरसते नन्हें फुहारों पर पपीहे गा उठते हैं । घनघोर बारिश में झिंगुर और दादुर अपना राग आलापते हैं, वसंतऋतु में पेडों पर मंजर लगते ही चारों तरफ कोयल कूकने लगती है । प्राचीन युग से आज तक हर देश की सेना में युद्ध के मोर्चों पर उत्साह वृद्धि के लिए संगीत का प्रयोग किया जाता है । संगीत के प्रकार भिन्न-भिन्न हो जाते हैं लेकिन उससे होने वाले प्रभाव और उसमें निहित सृजनात्मक तत्त्व नहीं बदलते । चारित्रिक

उत्थान एवं वासनाओं पर विजय प्राप्त करने के लिए बुद्धकाल[४] से ही संगीत को सर्वोत्तम साधन माना गया है । यदि हमें राष्ट्र के सांस्कृतिक स्तर को उन्नत करना है तो संगीत इसका सरल और सर्वोत्तम माध्यम बन सकता है ।

संगीत व्यक्ति को मानसिक पूर्णता देकर उसमें प्रसन्नता, सहृदयंता और सद्भावना का संचार करता है । संगीत की मधुर ध्वनियाँ प्राणीमात्र के स्वरूप को भावात्मता देती हैं । जोडने की शक्ति संगीत की मधुर ध्वनियों में है । सामाजिक अनुशासन, सामाजिक एकता तथा सामाजिक व्यवहार संगीत के माध्यम से सम्वर्धित होते हैं । मानव व्यक्तित्व में मन की भूमिका अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण मानी गयी है । यह मानव की समस्त क्रिया-कलापों को प्रभावित करता है । ये क्रिया-कलाप मानव के सामाजिक जीवन से सम्बन्धित होते हैं । संगीत का सम्बन्ध मानव मन से ही है । राष्ट्र रूप में भारत जब तक प्रमादी, उग्रवादी, अतिवादी तत्त्वों की वासनामयी तृष्णा से अपनी मर्यादा को बचाता रहा है, तब तक संगीतमय समस्वरता से हमारा जीवन शांतिपूर्ण सर्वांगीण विकास हेतु प्रयत्नशील रहा है क्योंकि लय-ताल युक्त स्वर अर्थात् सांगीतिक समस्वरता के लिए सतत् अभ्यास एवं अनुशासन आवश्यक शर्त है । जिनके हृदय में दया, प्रेम, स्नेह और करुणा के भाव होते हैं उनके शारीरी वीणा (कंठ) से नि:सृत संगीत की सुरीली धारा अपनी अभिव्यक्ति में श्रोता के हृदय के घृणा, द्वेष, आक्रोश, कलह और हिंसा के भावों को पिघलाकर अच्छे भावों में परिणत कर देती है । जब हृदय के कोमल भाव पिघलते हैं तभी कंठ से सुर-सरिता बहती है । इसलिए संगीत की प्रथम शर्त प्रेम है । अपनी घातक सभ्यता से दु:खी तथाकथित सुसभ्य पाश्चात्य जगत् पुन: उत्कट अभिलाषा लिए भारत की ओर देख रहा है । ऐसे समय में राष्ट्र चिंतक, वैज्ञानिक, साहित्यकार और संगीतकार सबों को मिलकर संस्कृति, अनुशासन पर विचार करना है, नई दिशाएँ खोलनी हैं । अपने प्रयोग में संगीत प्रेम की भाषा सिखलाता है और इसकी दार्शनिक आधारशिला व्यक्ति को पूर्णता की ओर ले जाती है ।

भारतीय शास्त्रीय संगीत के तीन पक्षों में प्रयोग-सिद्धांत पक्ष (Applied Theory) दर्शन के बहुत ही समीप है क्योंकि दर्शन से संगीत अपना आधार लेता रहा है । संगीत की विशिष्टता वहाँ बढ जाती है जहाँ यह दर्शन को लयात्मक धरातल देती है । यह कहना भी सत्य है कि अपने सिद्धांतों के निर्माण में संगीत का शास्त्र पक्ष दर्शन की नींव लेता है । संगीत की महत्ता दर्शन की तुलना में वहाँ दीखती है जहाँ दार्शनिक वाद-विवाद के बदले तत्त्व-चिंतन मुखर होता है । सांगीतिक काव्यों में निहित जीवनादर्श की मीमांसा दर्शन क्षेत्र में की जाती है । इन विवेचनों में कोई दार्शनिक सम्प्रदाय नहीं खडा होता । किसी मत का खंडन और किसी अन्य मत का मंडन नहीं होता बल्कि

साकार ईश्वर की ओर हमारा ध्यान केन्द्रित होता है। संगीत के प्रति हमारा यह अध्ययन भारतीय संगीत के क्षेत्र में तथा भारतीय दर्शन के क्षेत्र में कला-दर्शन की अपनी संस्थापना के निमित्त प्रेरित करता है। हमारे यहाँ कला-दर्शन की बात करना कोई नई बात नहीं है और न हम इसे प्लेटो, क्रोचे, हीगेल, लैंगर जैसे पाश्चात्य दार्शनिकों की परिकल्पना मात्र ही कह सकते हैं। The Religion of India में मैक्स बेवर स्पष्ट कहते हैं कि कुमारिल भट्ट तथा शंकराचार्य के साथ ही लिंग सम्प्रदाय, भक्ति आंदोलन, सिद्ध एवं संत सभी ने गायन के माध्यम से जन साधारण के जीवन को एक दिशा दी है। चर्चित कश्मीरी शैव योगिनी लाल दीदी या लल्ला योगीश्वरी[5] १४ वीं शताब्दी की दार्शनिक हैं। आपके द्वारा रचित कश्मीरी पदों में ऐसी शक्ति देखी गई कि इन गीतों ने राष्ट्रीय स्तर पर मन को मोडकर एक राष्ट्रीय आदर्श दिया तथा अपने पश्चात् १५ वीं शताब्दी के संतों और भक्तों (रामानन्द, कबीर) पर अपने गीतों के माध्यम से अपना प्रभाव छोडा। राष्ट्रीय चेतना को इन्होंने अपने समय में एक नई दिशा दी थी। इस वजह इन्हें देव-दूती भी कहा जाता है। उनकी दार्शनिक कविताएँ जन मानस तथा दर्शन जगत् दोनों को उद्वेलित करती हैं।

वे मूर्तिपूजा की प्रखर आलोचक और यौगिक ध्यान परम्परा की जबरदस्त समर्थक थीं। विष्णु गुप्त, सोमानंद तथा अभिनव गुप्त की तरह कश्मीरी लोगों को साक्षात् रूप से प्रभावित करने वाले विचारों की उँचाई लिए हुए लाल दीदी का सम्पूर्ण जीवन ही दार्शनिक गीतों से परिपूर्ण रहा है। उपनिषदों एवं गीता के विचारों को गीतों में गढकर जीवन पर्यन्त वे ढालती रहीं। ऐसा लगता है कि वे दर्शन को गीतों में व्यक्त कर रहीं थीं। उनके हृदय के भाव काव्यमय थे और मस्तिष्क दार्शनिक। जैसा कि के. सच्चिदानंद मूर्ति की निम्न पंक्तियों से स्पष्ट होता है-

"It is interesting how an inspired and brilliant brahmana woman transformed the Trika thought under diverse influences reconstructed it in her way and disseminated it among common people. Her efforts to bring about religious hormony, synthesize different spiritual nations and disciplines and promote equality and brotherhood of race and castes, to some extent paved the way for the North Indian reformers who come after her."[6]

यद्यपि सम्पूर्ण विश्व में संगीत धर्म, उपासना और विभिन्न धर्मानुष्ठान से जुडा रहा है फिर भी भारतीय संगीत तथा अन्य देशों के संगीत में पर्याप्त अंतर है। अन्य देश के संगीत लोकरुचि, समाज तथा जलवायु के अनुरूप रूपांतरित होते रहे हैं जब कि भारतीय संगीत संस्कृति के अनुरूप परिवर्तित होती हुई भी मौलिक रही है। इसका मूल रूप आध्यात्मिक और धर्मानुकूल है। सम्भवत: इस वजह से संगीत को अन्य विषयों

से अधिक प्रशंसा मिली है । हालाँकि वर्तमान समय में प्रचलित गायन की विविध शैलियाँ प्राचीन शैली से नितांत भिन्न हैं; फिर भी उनका मूल रूप वही है । मूल रूप इसलिए वही है क्योंकि हमारा जो आरम्भिक स्वर होता है वही उनका अंतिम स्वर होता है । हमारी दार्शनिक मान्यता सृष्टि और प्रलय की प्रक्रिया को चक्रिक प्रक्रिया स्वीकारती है, अर्थात् सृष्टि का सम्पूर्ण विनाश नहीं होता । सृजन और प्रलय साथ-साथ चलते हैं । हमारे इस सिद्धांत का प्रभाव भारतीय संगीत पर स्पष्ट पडता है । क्योंकि एक सप्तक के पश्चात् पुन: उन्हीं स्वरों की पुनरावृत्ति मात्र अन्य सप्तक में मानी गयी है । हमारे संगीत शास्त्र की हर पद्धति के अनुशरणकर्ताओं ने इसे माना है । प्रमाण रूप में हम भरत, मतंग, शारङ्ग देव, नान्यदेव, अभिनवगुप्त के उदाहरण दे सकते हैं । मुनि भरत सात स्वरों की व्याप्ति का आधार मूर्च्छना को कहते हैं लेकिन अलंकार प्रकरण में मन्द्र, तार, प्रसन्न आदि अलंकारों में ''आठ स्वरों का प्रस्तार होना चाहिए'' ऐसा कहते हैं । अर्थात् रागाभिव्यक्ति हेतु ''सा'' से आरंभ करके ''सा'' में समाप्ति की जानी चाहिए । मतंग तथा शारङ्ग देव अपनी-अपनी रचनाओं में इन्हें उदाहरण सहित प्रस्तुत करते हैं । इस सम्बन्ध में नान्यदेव का कथन है–

''तत्र येनैव स्वरेण तूच्छायो गीतानामुद् ग्राह:
प्रवर्त्तते, तेनैव स्वरेण यदाऽपोह समाप्तिरेपि भवति,
तदा ''सा रि ग म प ध नि सा'' इति स्वरसन्निवेशेसति
....एता षड्जग्रामिका: सप्त मूर्च्छना जायते ।।[7]

इसी तरह स्वर निर्देश देते समय सप्तक की उपयोगिता का उल्लेख करते हुए भी प्रयोगात्मक स्वरूप को दिखाते समय ''सा रे ग म'' ''प ध नि सां'' का उल्लेख करते हुए अभिनव गुप्त कहते हैं–

प्रकृतिभूतपूर्व रूप स्पर्शेश्चत्वारे: स रि ग मा:, तथैव
स्थाने ऊर्ध्वस्पर्शे प ध नि सां केवलं
षड्जेन द्वितीयं स्थानं स्पृश्यन्ते एव ।

वस्तुत: यह सही है कि भारत में संगीत का विकास धर्मनिरपेक्ष मनोविनोद के एक साधन रूप में हुआ है । संगीत मानव के स्वगत मनोरंजन का साधन है, यही हमारी संस्कृति के अनुरूप हमारी मान्यता है । हमारा पक्ष स्पष्ट है कि संस्कृति शारीरिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों का संवहन करती है । इस दृष्टिकोण से हमारी संस्कृति का संबंध धर्म, दर्शन, कानून, व्यवस्था, साहित्य, कला, विशेषत: संगीत कला से निश्चितरूपैण हो जाता है । फिर भी संगीत को धर्म की मूल उक्ति माना जाता है । इसका उदाहरण हम विश्व में प्रचलित अधिकांश धर्मों में देख सकते हैं । धर्म रूप में संगीत

स्वयं दर्शनशास्त्र से सम्बद्ध है । कारण यही कहा जा सकता है कि सांगीतिक स्वर नाद अथवा ब्रह्म की वास्तविक अभिव्यक्ति करते हैं । इसके द्वारा धार्मिक आराधना की जाती है। यज्ञरूप में संगीत स्वयं धार्मिक पूजा है । मानव शरीर में ईश्वरीय ज्योति, परम सुख और आनन्द से परिपूर्ण निस्तब्धता का कोष है । योगीजन योगाभ्यास के द्वारा उन दैवी कुण्डलियों के ज्ञान से मोक्ष तथा जीवनोद्धार प्राप्त करते हैं । जब मस्तिष्क और बुद्धि नवीन रचना के लिए एक हो जाते हैं तभी अनाहत नाद की उत्पत्ति होती है। । महर्षि पतंजलि अपने योगशास्त्र में इसकी चर्चा करते हैं । संगीत तथा सांगीतिक आविष्कारों की समस्त रचनाएँ अनाहत नाद पर आधारित हैं । इस तरह संगीत को आधार दर्शनशास्त्र देता है ।

सभी तरह की सांगीतिक रचनाएँ मानव निर्मित हैं । सांगीतिक इतिहास के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि इसकी सभी विधाओं में चाहे वह लोक संगीत की हो या शास्त्रीय, पूर्वी अथवा पश्चिमी, दोनों के संकल्पनागत एवं श्रवणीय तत्त्वों में जितना योगदान संगीतज्ञों का है, उतना ही दार्शनिकों का भी है ।

महान संत कवि तथा बहुमुखी संगीतकार स्वामी रविदास ने संगीत के माध्यम से तत्कालीन भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक दशा सुधारने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी । अमीर खुसरो भारतीय तथा टर्की संगीत के सम्मीलन का पहल करते हैं तो संगीत सम्राट तानसेन इसे पूर्ण करने के लिए हिन्दू तथा मुस्लिम संस्कृति के समन्वय का प्रयास करते हैं । पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर राष्ट्रवादी संगीतज्ञ के रूप में महत्त्वपूर्ण राष्ट्रगीतों की धुन तैयार करते हैं । इन तथ्यों के सहारे हम स्पष्ट करना चाहते हैं कि आज शास्त्रीय संगीत के महत्त्व को नहीं समझने वाले लोग यह शिकायत करते हैं कि शास्त्रीय संगीत भारत में अपना महत्त्व खो रहा है और आम लोग इसकी ओर से उदासीन हैं; तो इसके दोष ढूँढने के बदले प्रभावी उपयोग की खोज हमें करनी है । क्योंकि संगीत ही एक ऐसा विषय है जिसके व्याकरण को न समझने वाला भी इसका आनन्द भरपूर ले पाता है । श्रोता को आनन्द दिलाने के लिए संगीतज्ञ का कठिन अभ्यास करते रहना एक आवश्यक बात है । इस वजह से हम इस प्रदर्शन कला को कर विद्या कहते हैं जिसे कराने के लिए समर्थ गुरू की खोज, सान्निध्य, गुरू का आशीर्वाद बडे महत्त्व की बात है ।

ऋग्वेद में कहा गया है कि वाक् का सर्वोपरि छोर ब्रह्म में है जिससे समुद्रों का निर्माण हुआ । अंतरिक्ष वाक् से ही संसार को चैतन्य करता है । सृष्टि का गूढातिगूढ रहस्य वाक् तत्त्व में निहित है । अग्नि और जल के संयोग से बाष्प बनता है । बाष्प

के निकास की व्यवस्था वाक् तत्त्व से होती है । यही वाक् तत्त्व नाद रूप में प्रतिष्ठित होता है । संगीत का मूल आधार प्राण तत्त्व है जो सृष्टि को स्पंदन देता है । स्पंदन यदि मुखरित नहीं होगा तो व्यर्थ जाएगा । इस तरह प्राण तत्त्व को जीवंतता तथा माधुर्य प्रदान करने का श्रेय वाक् तत्त्व को मिलता है । हमने पूर्व में अध्ययन किया है कि संगीत किस तरह संप्रेषण का सटीक माध्यम है; फिर भी अपनी सांगीतिक प्रस्तुति को अधिक संप्रेषणीय बनाने के लिए कोई गायक गीत का प्रयोग करता है । अर्थात् गायन भाषा की सहायता लेता है । लेकिन संगीत के इतिहास में कई उदाहरण हमें ऐसे भी मिलते हैं जहाँ भाषा रहित स्वर-संगीत वैसे कार्यों को अत्यल्प समय में कर डालता है जिसे भाषा के माध्यम से सम्पन्न करने में कई वर्ष लगने की संभावना थी । जैसे श्रीकृष्ण की बाँसुरी की धुन पर सोलह हजार गोपियाँ मध्यरात्री में जमुना तट पर एकत्र होकर महारास सम्पन्न कर चुकी हैं । इस तरह के अन्य उदाहरणों के अवलोकन से हमारे समक्ष यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए कि पिंगल शास्त्र से व्यवस्थित की गई भाषा से जो काव्य उत्पन्न होता है वह संगीत के बिना वास्तविक उद्देश्य की प्राप्ति नहीं कर पाता।

यहाँ हम आज के विश्वविश्रुत संगीतज्ञों में मूर्धन्य गायक, संगीत मार्तण्ड पं. जसराज का नाम लेना चाहते हैं जिनके श्रीचरणों में संगीत के मधुर रसों का ज्ञान हम कर पाये हैं । प्रदर्शन और शास्त्र की जैसी भी रश्मियाँ हमारे अन्दर आ पायी हैं उनकी कृपा से ही । विद्वत्जन संगीत, दर्शन और साहित्य को हमारी सभ्यता-संस्कृति का दर्पण मानते हैं तो उन्हें जितना ही मँजा जायेगा उतनी ही स्पष्ट हमारे सांस्कृतिक अस्मिता की पहचान होगी । हमारी समझ से इन विवेचनों से स्पष्ट हो जाना चाहिए कि भारतीय संगीत का भारतीय दर्शन से अविभाज्य संबंध रहा है । भारतीय संगीत के लक्षण ग्रंथ मुनि भरत के नाट्य शास्त्र पर दार्शनिक सिद्धांतों के अनुसार कई टीकाएँ लिखी गईं । अभिनव गुप्त की टीका अभिनव-भारती में वर्णित व्याख्याकारों में व्याकरणाचार्य, समाजशास्त्री के साथ ही कई उद्भट दार्शनिक के नाम मिलते हैं । न केवल वैदिक, मध्य तथा आधुनिक काल में संगीत का धर्म और दर्शन से संबंध रहा है; बल्कि वर्तमान समय में भी हमारे समसामयिक चिंतक कला संबंधी समस्याओं का समाधान दार्शनिक दृष्टिकोण से कर रहे हैं । यहाँ का संगीत भक्ति की भावभूति पर आधारित है ।

निष्कर्ष यही है कि हमारे देश में संगीत एवं दर्शन की जब-जब परस्पर अन्योन्य क्रिया-प्रतिक्रिया हुई है, हमारी संस्कृति संवर्धित होकर पर्याप्त प्रसारित हुई है । हमारे संगीत ने हमारे सांस्कृतिक जीवन में अपनी भूमिका प्रारम्भ से आज तक बरकरार रखी है । आज भी संगीत अपने प्रयोग से राष्ट्र के आम सांस्कृतिक स्तर को उन्नत करके

समस्वरता दे सकता है और हमारी धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं से निबटने का मार्ग प्रशस्त कर सकता है।

डॉ. शैल कुमारी
व्याख्याता, दर्शनशास्त्र विभाग
लंगट सिंह महाविद्यालय
मुज्जफरपुर (बिहार) ८४२००१.

अश्विनीकुमार सिंह
विभागाध्यक्ष, संगीत
डॉ. जगन्नाथ मिश्र महाविद्यालय,
मुजफ्फरपुर

टिप्पणियाँ

१. यंग इंडिया, १८.९.१९२०.
२. हिन्दी विश्वकोष, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी (१९२५) खंड – II, पृष्ठ - ३५४.
३. नारद : नारदीय शिक्षा, भट्टशोभाकर रचित, टीकासहित, काशी संस्करण, १८९३.
४. भारतीय संगीत का इतिहास (प्रथम भाग), रामावतार वीर, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, १९९६.
5. The Orthodox Restoration in India, Max Weber, The Religion of India, Ch 9, Glence 1958.
6. Philosophy in India, Traditions, Teaching and Research, p-80-K. Sacchidananda Murty, Indian Council of Philosophical Research, Motilal Banarasidas, 1985.
७. भरत भाष्य, नान्यदेव, चैतन्य देसाई, इंदिरा कला संगीत विद्यालय, खैरागढ म. प्र. १९६१.

धर्म और वैज्ञानिक दृष्टिकोण

क्या धर्म तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण में कोई सम्बंध है ? क्या वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार धर्म को समझा जा सकता है अथवा क्या धर्म के विषय में इस दृष्टिकोण के आधार पर विचार किया जा सकता है ? क्या वैज्ञानिक दृष्टिकोण द्वारा विश्व में प्रचलित धार्मिक संघर्ष का निराकरण करना सम्भव है ? इन प्रश्नों तथा ऐसे ही अन्य प्रश्नों का कोई सुनिश्चित एवं सर्वमान्य उत्तर देना बहुत कठिन है, क्योंकि ये प्रश्न विवादास्पद हैं । इस संक्षिप्त लेख में इन प्रश्नों के सम्बंध में अपने विचार प्रस्तुत करना चाहता हूँ । मैं यह आशा नहीं करता कि सभी प्रबुद्ध विचारक मेरे इन विचारों से सहमत होंगे, किंतु यदि ये विचार कुछ विद्वानों को इस गम्भीर विषय पर स्वतंत्र एवं निष्पक्ष चिंतन के लिए अभिप्रेरित कर सकें तो मैं अपने इस लघु प्रयास को सफल तथा सार्थक समझूँगा ।

परंतु धर्म और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विषय में कुछ कहने से पूर्व यहाँ इन दोनों के अर्थ, स्वरूप तथा उद्देश्य को स्पष्ट कर देना आवश्यक है । यहाँ 'धर्म' शब्द का प्रयोग उस नैतिक अर्थ में नहीं किया जा रहा है जो वेदों, उपनिषदों, 'महाभारत', कुछ भारतीय दर्शनों तथा 'मनुस्मृति' में भारत के प्राचीन मनीषियों ने स्वीकार किया है और जिस के अनुसार इस शब्द को मनुष्य के मूल कर्तव्यों, सदाचार, सत्य एवं जीवन के नियामक तत्त्व के साथ सम्बद्ध किया गया है । मेरे विचार में धर्म का यह व्यापक नैतिक अर्थ सार्वभौम, सार्वकालिक तथा निर्विवाद है । इस अर्थ में धर्म तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण में न तो कोई संघर्ष है और न ही इस की कोई सम्भावना है । यहाँ मैं 'धर्म' शब्द का प्रयोग उस सामान्य प्रचलित अर्थ में कर रहा हूँ जिसे 'मजहब', 'प्रथा', आदि शब्दों द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है और जिस के साथ कुछ अलौकिक सिद्धांत एवं अनेक प्रकार के कर्मकांड अनिवार्यतः सम्बद्ध रहते हैं । यहाँ जनसाधारण में प्रचलित 'धर्म' शब्द के इसी अर्थ को ध्यान में रखते हुए उस के साथ वैज्ञानिक दृष्टिकोण के सम्बध पर विचार किया जाएगा ।

उपर्युक्त सामान्य प्रचलित अर्थ के अनुसार धर्म मनुष्य की एक विशेष अभिवृत्ति, मनोदशा या जीवन-पद्धती है जिस का मूल आधार किसी अलौकिक शक्ति अथवा सत्ता

में आस्था है और अपनी इस आस्था के कारण वह अति पवित्र समझे जाने वाले कुछ विशेष धर्म-स्थलों में इस शक्ति या सत्ता की पूजा अथवा उपासना करता है तथा इस उपासना के परिणामस्वरूप वह वर्तमान जीवन एवं पारलौकिक जीवन में समस्त दु:खों से मुक्ति या अखंड आनंद की प्राप्ति की आशा करता है । इस प्रकार किसी अति-प्राकृतिक शक्ति या सत्ता में आस्था, पवित्र माने जाने वाले धर्म-स्थलों में इसकी पूजा, दु:ख से मुक्ति की आशा तथा इस के लिए विशेष सदाचरण द्वारा प्रयास कर्म के कुछ अनिवार्य मूल तत्त्व हैं जिन के बिना उस के स्वरूप को भली-भाँति नहीं समझा जा सकता और जो उसे विज्ञान, दर्शन, राजनीति, साहित्य, कला, नैतिकता आदि से पृथक् करते हैं । धर्म के इसी अर्थ में उस के साथ कुछ मूल सिद्धांत एवं कर्मकांड अनिवार्यत: सम्बद्ध रहते हैं जिन के माध्यम से उस की अभिव्यक्ति होती है । जब कोई साधारण व्यक्ति 'धर्म' शब्द का प्रयोग करता है तो वह प्राय: उस का यही अर्थ समझता है। इसी अर्थ में हिंदू धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, ईसाई धर्म, इस्लाम धर्म आदि की सार्थक रूप से चर्चा की जाती है जिन के अनुयाइयों में समय-समय पर संघर्ष होता रहता है अथवा कम से कम इस संघर्ष की सम्भावना बनी रहती है ।

'धर्म' के अर्थ की व्याख्या के पश्चात् अब संक्षेप में वैज्ञानिक दृष्टिकोण के स्वरूप और अर्थ पर भी विचार कर लेना आवश्यक है । यह समझना कठिन नहीं है कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विज्ञान के साथ अनिवार्य सम्बंध है, क्योंकि इस का मूल आधार विज्ञान तथा उस की अपनी विशेष विधि है । ऐसी स्थिति में इस दृष्टिकोण के स्वरूप की व्याख्या के लिए 'विज्ञान' और उस की विशेष विधि के स्वरूप को भली-भाँति स्पष्ट कर देना आवश्यक हो जाता है । मेरे विचार में अनुभव, निरीक्षण तथा प्रयोग द्वारा उपलब्ध तथ्यों के आधार पर किसी विषय अथवा समस्या का व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध अध्ययन, विश्लेषण और चिंतन ही 'विज्ञान' है । विज्ञान की इस संक्षिप्त परिभाषा में उस की विशिष्ट विधि का स्वरूप भी अंतर्निहित है जो अनिवार्यत: अुनभव तथा प्रयोग द्वारा प्राप्त तथ्यों के निष्पक्ष निरीक्षण पर आधारित रहती है । दूसरे शब्दों में, जब हम किसी समस्या अथवा विषय से संम्बधित उन तथ्यों के आधार पर उस का क्रमबद्ध तथा व्यवस्थित अध्ययन एवं विश्लेषण करते हैं जो हमें अनुभव, प्रयोग और निष्पक्ष निरीक्षण से प्राप्त होते हैं तो उसे 'विज्ञान' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है ।

विज्ञान की उपर्युक्त विधि का मूल आधार किसी समस्या से सम्बद्ध समस्त तथ्यों का यथा-सम्भव निष्पक्ष निरीक्षण तथा प्रयोग द्वारा उस समस्या से संम्बधित प्राक्कल्पना का कम से कम सैद्धांतिक सत्यापन है जिस का उद्देश्य उस समस्या का संतोषप्रद समाधान प्रस्तुत करना होता है अथवा जिस के द्वारा पूर्वप्रस्तुत समाधानों की पुन: परीक्षा

की जाती है । विज्ञान में निरीक्षण, प्रयोग तथा सत्यापन पर आधारित सदैव इस अनुभवमूलक-विशिष्ट विधि का उपयोग किया जाता है और इसी कारण इसे 'वैज्ञानिक विधि' की संज्ञा दी जाती है । यह स्पष्ट है कि इस वैज्ञानिक विधि में किसी विशेष व्यक्ति के कथन या मत और किसी अलौकिक सत्ता अथवा शक्ति से सम्बंधित विश्वास के लिए कोई स्थान नहीं है । इस विधि में अनुभव, निरीक्षण तथा प्रयोग पर आधारित किसी प्राक्कल्पना अथवा सिद्धांत के व्यावहारिक या सैद्धांतिक सत्यापन को ही प्रमाण के रूप में स्वीकार किया जाता है । जब कोई विज्ञानी इस वैज्ञानिक विधि द्वारा किसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करता है तो वह इस ज्ञान को पूर्णत: निश्चित एवं निरपेक्ष रूप से सत्य न मान कर केवल प्रायिक अथवा सम्भावित ही मानता है जिस का अधिक प्रामाणिक ज्ञान द्वारा कभी भी खंडन किया जा सकता है । इस का तात्पर्य यह है कि विज्ञान के क्षेत्र में कोई भी विश्वास या सिद्धांत इतना निर्विवाद और ऐसा पवित्र नहीं होता कि उस पर कभी संदेह न किया जा सके अथवा उसे कभी कोई चुनौती न दी जा सके । वस्तुत: विज्ञान द्वारा प्राप्त संपूर्ण ज्ञान का मूल आधार मानवीय अनुभव एवं तर्क है, अत: इस ज्ञान में निकट या सुदूर भविष्य में अधिक प्रबल प्रमाणों के आधार पर आवश्यक सुधार, परिवर्तन अथवा संशोधन का स्थान सदैव बना रहता है । इस प्रकार अनुभव, तर्क, निरीक्षण, प्रयोग, सत्यापन, लौकिकता, ज्ञान की प्रायिकता अथवा सम्भाव्यता आदि विज्ञान के कुछ अनिवार्य तत्त्व हैं जो उसे साहित्य, कला, नैतिकता और धर्म से पृथक करते हैं ।

जब कोई व्यक्ति 'विज्ञान' के उपर्युक्त अर्थ में केवल उसी के आधार पर किसी विषय अथवा समस्या के सम्बंध में अपना कोई मत निश्चित करता है तो उस की इस अनुभवमूलक एवं तर्कपूर्ण मनोवृत्ति को 'वैज्ञानिक दृष्टिकोण' की संज्ञा दी जाती है । यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण मनुष्य की वह तर्कयुक्त अभिवृत्ति है जिस के परिणामस्वरूप वह प्रत्येक प्राकृतिक तथा सामाजिक घटना की व्याख्या कारण-कार्य के नियम के अनुसार किसी अन्य प्राकृतिक एवं सामाजिक घटना के आधार पर वैज्ञानिक विधि द्वारा ही करता है । स्पष्ट है कि इस दृष्टिकोण का मूल आधार विज्ञान तथा उस की विशिष्ट विधि है जिस में किसी प्रकार की अलौकिकता या अति-प्राकृतिक तत्त्व के लिए कोई स्थान नहीं है। उदाहरणार्थ, जब कोई चिकित्सक किसी रोग का उपचार आरम्भ करता है तो वह केवल प्राकृतिक जगत् में उस के मूल कारणों को खोजता है और इस के पश्चात् कुछ विशेष औषधियों द्वारा उन कारणों का निराकरण करने का प्रयास करता है । केवल वैज्ञानिक विधि को स्वीकार करने के कारण वह उस रोग के संम्बध में किसी तथाकथित दैवी सत्ता के प्रकोप और इस प्रकोप को शांत करने के लिए जप-तप एवं प्रार्थना पर विचार नहीं करता । यही बात व्यापक अर्थ में अन्य समस्त प्राकृतिक घटनाओं के विषय में भी

कही जा सकती है जिन में ऐसी सभी लौकिक घटनाएँ सम्मिलित हैं जो केवल प्राकृतिक कारणों के परिणामस्वरूप घटित होती है और इसी कारण जिन के संदर्भ में किसी अलौकिक या दैवी सत्ता पर विचार करना अप्रासंगिक तथा निरर्थक है। जब कोई व्यक्ति केवल इसी अनुभवमूलक एवं तर्कपूर्ण अभिवृत्ति के आधार पर किसी विषय, घटना अथवा समस्या की व्याख्या करता है और उस का समाधान खोजता है तो उस की इस मानसिक अभिवृत्ति को ही 'वैज्ञानिक दृषिटकोण' की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार 'वैज्ञानिक दृष्टिकोण' का अर्थ है जगत् विषयक प्रत्येक घटना अथवा समस्या को केवल अनुभवमूलक वैज्ञानिक विधि द्वारा समझने का प्रयत्न करना और फिर इसी विधि के आधार पर उस की व्याख्या तथा उस के समाधान का प्रयास करना। वैज्ञानिक दृष्टिकोण की इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि इस दृष्टिकोण में विज्ञान तथा उस की विशिष्ट विधि है पूर्वोल्लिखित सभी तत्त्व अनिवार्यत: समाविष्ट रहते हैं जिन के आधार पर ही इस की ठीक-ठीक व्याख्या की जा सकती है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि मनुष्य का सम्पूर्ण इंद्रिय-ज्ञान, उस से प्राप्त व्यापक अनुभव, तर्क एवं विवेक इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण के कुछ आवश्यक मूल तत्त्व हैं जो इसे किसी अलौकिक शक्ति या सत्ता पर अनिवार्यत: आधारित धार्मिक दृष्टिकोण से पृथक् करते हैं।

धर्म तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विषय में ऊपर जो कुछ कहा गया है उस से यह स्पष्ट है कि इन दोनों में न तो कोई संम्बध है और न हो सकता है। यह सत्य है कि धर्म और वैज्ञानिक दृष्टिकोण को स्वयं मनुष्य ने ही जन्म दिया है, किंतु फिर भी इन दोनों में इतनी अधिक भिन्नता है कि इन में कोई अनिवार्य संम्बध स्थापित कर पाना सम्भव प्रतीत नहीं होता। हम पहले ही यह बता चुके हैं कि वे कौन-से आधारभूत तत्त्व हैं जो धर्म तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण को एक-दूसरे से पूर्णत: पृथक् करते हैं। इन दोनों के भिन्न-भिन्न स्वरूप को निर्धारित करने वाले उपर्युक्त मूल तत्त्वों के अतिरिक्त इन के उद्यम, उद्देश्य, क्षेत्र तथा विधि के आधार पर भी इन की पूर्ण भिन्नता को भली-भाँति स्पष्ट किया जा सकता है। अधिकतर विद्वानों का मत है कि धर्म का उद्गम आदिकाल में मानव को भयत्रस्त कर देने वाली अत्यंत प्रतिकूल प्राकृतिक परिस्थितियों तथा जगत् और प्रकृति से सम्बंधित नियमों के विषय में उस की अनभिज्ञता के परिणामस्वरूप ही हुआ था। उस समय मनुष्य वन में अनेक प्रकार के भयानक पशुओं तथा आंधी, तूफान, बाढ, अकाल आदि प्राकृतिक आपदाओं से घिरा रहता था जिनके कारण वह अपने जीवन को सदैव संकटग्रस्त और असुरक्षित अनुभव करता था। इन्हीं प्रतिकूल प्राकृतिक परिस्थियों में उस ने अपने जीवन की सुरक्षा, सुख-समृद्धि तथा शांति के लिए विभिन्न देवी-देवताओं की कल्पना की थी जिन्हें प्रसन्न रखने के उद्देश्य से वह उन की पूजा करता

था। यद्यपि मनुष्य इन देवी-देवताओं को देख न सकने के कारण अदृश्य मानता था, फिर भी उस ने स्वयं अपने स्वभाव तथा स्वरूप के अनुसार ही उन की कल्पना की थी और इसी कारण उन्हें प्रसन्न करने के लिए वह अनेक प्रकार के पदार्थ भेंटस्वरूप उन्हें अर्पित किया करता था। इन सब काल्पनिक एवं अति-प्राकृतिक देवी-देवताओं तथा इन की पूजा या उपासना के परिणामस्वरूप ही प्राचीन काल में धर्म की उत्पत्ति हुई थी और उस का यह अलौकिक आधार आज भी पूर्ववत बना हुआ है, क्योंकि इस के बिना उस का अस्तित्त्व सम्भव नहीं है।

धर्म के विपरीत वैज्ञानिक दृष्टिकोण के पूर्वोल्लिखित मूल आधार, विज्ञान का उद्गम मनुष्य की उस नैसर्गिक तीव्र जिज्ञासा के फलस्वरूप हुआ है जिस के कारण वह इस जगत् और इस से सम्बंधित प्राकृतिक नियमों के विषय में अधिकाधिक जानने का प्रयास करता है। मानव के मन में अपने चारों ओर फैली सभी वस्तुओं तथा अपने समक्ष घटित होने वाली समस्त घटनाओं को जानने की प्रबल इच्छा उत्पन्न होती है और उस की यही स्वाभाविक इच्छा विज्ञान की उत्पत्ति का मूल स्रोत है। इस नैसर्गिक प्रबल इच्छा अथवा जिज्ञासा से अभिप्रेरित हो कर जब कोई विज्ञानी जगत् विषयक ज्ञान प्राप्त करता है तो वह इस ज्ञान को उपयोगिता या किसी अन्य प्रकार के लाभ का साधन न मान कर इसे स्वतःसाध्य ही मानता है। उस का एकमात्र उद्देश्य जगत् की वस्तुओं और उस की कार्य प्रणाली के मूल में निहित प्राकृतिक नियमों को समझना ही होता है, उन में कोई लाभ प्राप्त करना नहीं। वस्तुतः संपूर्ण विशुद्ध सैद्धांतिक विज्ञान का विकास ऐसे स्वतःसाध्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए हुआ है। बाद में इसी विशुद्ध सैद्धांतिक विज्ञान के परिणामस्वरूप औद्योगिकी का जन्म तथा विकास होता है जिस का उद्देश्य अनेक प्रकार के आविष्कारों द्वारा मनुष्य के जीवन को सुखमय, समृद्ध और सुरक्षित बनाना है। परंतु जगत् को जानने और समझने के लिए उत्सुक विज्ञानी केवल सत्य की खोज के उद्देश्य से ही ज्ञान प्राप्त करता है, किसी अन्य लक्ष्य से प्रेरित हो कर नहीं। इस के विपरीत धर्म के माध्यम से जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है वह स्वतःसाध्य न हो कर मनुष्य की दुःख-निवृत्ति अथवा मुक्ति का साधन मात्र होता है। लगभग सभी धर्माचार्यों ने किसी-न-किसी रूप में इस दुःख-निवृत्ति या मुक्ति को ही धार्मिक ज्ञान का अंतिम लक्ष्य माना है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ज्ञान-प्राप्ति के मूल उद्देश्य के विषय में वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा धार्मिक दृष्टिकोण में आधारभूत अंतर है जो इन दोनों को पूर्णतः पृथक् करता है।

धर्म तथा विज्ञान में दूसरा महत्त्वपूर्ण अंतर है जीवन और जगत् के प्रति इन दोनों का पूर्ण रूप से भिन्न दृष्टिकोण। धर्म का दृष्टिकोण अनिवार्यतः आस्थापरक होता है जिस के कारण वह किसी विशेष अलौकिक सत्ता की पूजा या उपासना को सर्वाधिक महत्त्व

देता है जिस की अभिव्यक्ति प्राय: बाह्य कर्मकांड के माध्यम से होती है। किसी विशेष आराध्य अलौकिक सत्ता में अखंड आस्था और उस की पूजा धर्म का अनिवार्य तत्त्व है जिस के बिना उस का अस्तित्व ही सम्भव नहीं है। संसार में 'धर्म' शब्द के सामान्य प्रचलित अर्थ ऐसा कोई धर्म नहीं है जिस में ऐसी आस्था और पूजा को अनिवार्य न माना जाता हो। इसी कारण धर्म से संम्बधित सभी उपासना-स्थलों, कर्मों, व्यक्तियों तथा ग्रंथों को अत्यंत पवित्र माना जाता है और उन के विषय में कोई अनादरसूचक बात कहना 'पाप' समझा जाता है। धर्म-ग्रंथों में उपलब्ध संपूर्ण ज्ञान को ईश्वर या किसी अन्य दैवी सत्ता की वाणी मान कर उस के सम्बंध में यह दावा किया जाता है कि वह पूर्णत: निश्चित एवं निरपेक्ष रूप से सत्य है और उसी कारण उस में किसी प्रकार के सुधार, परिवर्तन अथवा संशोधन के लिए कोई स्थान नहीं है। परंतु धर्म के इस आस्थापरक दृष्टिकोण के विपरीत विज्ञान का दृष्टिकोण तर्कपूर्ण, शोधपरक तथा आलोचनात्मक होता है। विज्ञान के माध्यम से जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है उसे केवल अनुभव, तर्क, निरीक्षण, प्रयोग तथा सत्यापन की कसौटियों द्वारा ही परखा जाता है। ऐसे ज्ञान के लिए किसी अलौकिक सत्ता में आस्था और उस की पूजा पूर्णत: अप्रासंगिक तथा निरर्थक है। यही कारण है कि ऐसा ज्ञान पूर्णत: निश्चित एवं सर्वदा सत्य न हो कर सदैव केवल प्रायिक अथवा सम्भावित होता है। इस का तात्पर्य यह है कि भविष्य में अधिक प्रबल एवं विश्वसनीय प्रमाणों द्वारा ऐसे ज्ञान में कभी भी आवश्यक सुधार, परिवर्तन या संशोधन किया जा सकता है। इस प्रकार हम निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि जीवन, जगत् और ज्ञान के स्वरूप के विषय में धर्म तथा विज्ञान का दृष्टिकोण एक-दूसरे से पूर्णत: भिन्न है, अत: इन दोनों में किसी प्रकार की समानता खोजना व्यर्थ ही प्रतीत होता है।

दृष्टिकोण के अतिरिक्त विषयवस्तु अथवा अध्ययन-क्षेत्र की दृष्टि से भी धर्म और विज्ञान में आधारभूत अंतर है। इन दोनों के अध्ययन-क्षेत्र एक-दूसरे से बिल्कुल अलग-अलग हैं। धर्म का सम्बध अनिवार्यत: मूल्यों से है जबकि विज्ञान मूल्यों के स्थान पर केवल तथ्यों को ही महत्त्व देता है। धर्म मनुष्य के आचरण से संम्बधित कुछ विशेष विधि-निषेधों द्वारा मूल्यात्मक दृष्टि से उस के जीवन का मार्गदर्शन करता है। सभी विकसित धर्मों के मूल ग्रंथों में मानव को कुछ विशेष कर्म करने या न करने के आदेश दिए जाते हैं जिन से उस का कल्याण हो और उसे इस संसार में अथवा परलोक में दु:ख से मुक्ति प्राप्त हो सकें। वेदों, भगवद्गीता, कुरान, बाइबल आदि धर्म-ग्रंथों में ऐसे आदेशात्मक विधि-निषेध स्पष्टत: देखे जा सकते हैं। मानव-जीवन के परम लक्ष्य के रूप में विभिन्न धर्म-ग्रंथों में वर्णित स्वर्ग, मोक्ष, निर्वाण, कैवल्य आदि धार्मिक अवधारणाएँ निश्चित रूप से मूल्यात्मक अवधारणाएँ हैं। इन अवधारणाओं से यह स्पष्ट

है कि धर्म के लिए इस विश्व में मनुष्य का ही विशेष और सर्वाधिक महत्त्व है । इसी कारण धर्म मानव को केंद्र मान कर केवल उसी के कल्याण की दृष्टि से इस संपूर्ण जगत् और इस में घटित होने वाली समस्त घटनाओं का अध्ययन तथा मूल्यांकन करता है ।

परंतु धर्म के विपरीत विज्ञान का दृष्टिकोण मूल्यात्मक न हो कर तथ्यपरक ही होता है। वह प्रत्येक वस्तु या घटना का उस से सम्बोधित कुछ तथ्यों के आधार पर ही उस के स्वरूप तथा कारणों को समझने का प्रयास करता है । वह इस वस्तु अथवा घटना को 'अच्छी' या 'बुरी', 'उचित' या 'अनुचित' कह कर इस के विषय में कोई मूल्यात्मक निर्णय नहीं देता । यही कारण है कि इस दृष्टि से सभी प्राकृतिक विज्ञानों तथा अधिकतर सामाजिक विज्ञानों को वर्णनात्मक अथवा तथ्यपरक ही माना जाता है । इस के अतिरिक्त विज्ञान मनुष्य को केंद्र मान कर इस जगत् और इस में होने वाली घटनाओं का अध्ययन नहीं करता । विज्ञान की दृष्टि से अन्य प्राणियों की भाँति मनुष्य भी एक सामान्य प्राणी है जो उन्हीं प्राकृतिक नियमों द्वारा शासित होता है जो अन्य सभी प्राणियों पर लागू होते हैं। इस का तात्पर्य यह है कि विज्ञान के लिए इस जगत् में मनुष्य का विशेष महत्त्व अथवा सर्वोच्च स्थान नहीं है । धर्म के विपरीत विज्ञान किसी विशेष उद्देश्य या लक्ष्य की दृष्टि से भी इस जगत् और मनुष्य का अध्ययन नहीं करता । विज्ञान के अनुसार, समस्त प्राकृतिक नियम मनुष्य सहित सभी प्राणियों तथा वस्तुओं पर समान रूप से लागू होते हैं और इन्हीं नियमों द्वारा उन का उगम, विकास एवं विनाश होता है । इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि विषयवस्तु अथवा अध्ययन-क्षेत्र की दृष्टि से भी धर्म तथा विज्ञान में मूलभूत अंतर है जो इन्हें एक-दूसरे से पूर्णतः पृथक् करता है ।

धर्म और विज्ञान के अध्ययन-क्षेत्र या विषयवस्तु की भाँति ज्ञान-प्राप्ति के लिए इन दोनों की विधियाँ भी एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं । किसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने के लिए धर्म प्रायः आस्था, शब्द-प्रमाण तथा दैवी प्रकाशना अथवा श्रुति को सर्वाधिक महत्त्व देता है । धर्मपरायण व्यक्ति ऐसे कथनों, विश्वासों और सिद्धांतों को पूर्णतः निश्चित रूप से सत्य मानता है जो किसी महान संत या पैगम्बर द्वारा कहे गए हैं अथवा जो उस के धर्मग्रंथ में उपलब्ध होते हैं । अपनी अखंड आस्था के कारण वह ऐसे कथनों, विश्वासों तथा सिद्धांतों की सत्यता में किसी प्रकार का संदेह नहीं करता और उन के विषय में कभी कोई प्रश्न नहीं उठाता । धर्मपरायण व्यक्ति का यह आस्थापरक दृष्टिकोण ही उस के लिए धार्मिक ज्ञान को ऐसा निश्चित ज्ञान बना देता है जिस में सुधार, परिवर्तन या संशोधन के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता । परंतु जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, विज्ञान द्वारा संसार के विषय में जो ज्ञान प्राप्त किया जाता

है उस की विधि उपर्युक्त धार्मिक विधि से पूर्णत: भिन्न है । इस वैज्ञानिक विधि में आस्था और शब्द-प्रमाण के स्थान पर निरीक्षण, प्रयोग तथा सत्यापन को ही अनिवार्य माना जाता है । यही कारण है कि इस विधि द्वारा जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है वह निरपेक्ष रूप से सत्य न हो कर केवल प्रायिक अथवा सम्भावित ही होता है । वैज्ञानिक विधि के इन मूल तत्त्वों की विवेचना हम पहले ही कर चुके हैं, अत: यहाँ इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि ये सभी तत्त्व इस विधि को आस्था पर आधारित धार्मिक विधि से पूर्णत: पृथक् करते हैं । ऐसी स्थिति में यह कहना बहुत कठिन है कि धर्म और वैज्ञानिक दृष्टिकोण में कोई समानता है अथवा हो सकती है ।

धर्म तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विषय में ऊपर जो कुछ कहा गया है उस के आधार पर इन दोनों के सम्बंध में हम तार्किक दृष्टि से कुछ निष्कर्ष निकाल सकते हैं जो यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत किए जा रहे हैं । हम देख चुके हैं कि धर्म का उद्गम, जीवन और जगत् के प्रति उस का दृष्टिकोण, उस की विषयवस्तु तथा विधि, विज्ञान के उद्गम, जीवन तथा जगत् के प्रति दृष्टिकोण और उस की विषयवस्तु एवं विधि से पूर्णत: भिन्न है जिस पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण अनिवार्यत: आधारित रहता है । भय, असहायता एवं अनभिज्ञता से उत्पन्न धर्म का मूल आधार किसी अलौकिक शक्ति अथवा सत्ता में मनुष्य की अखंड आस्था है जिस की वह पूजा या उपासना करता है और इसी कारण जिस के अस्तित्व में वह कभी संदेह नहीं करता । वह इन सभी कथनों, विश्वासों तथा सिद्धांतों को निरपेक्ष रूप से सत्य मानता है जो उस के धर्म-प्रवर्तक द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं अथवा उस के धर्म-ग्रंथों में उपलब्ध होते हैं । ऐसे धर्मपरायण व्यक्ति का संपूर्ण जीवन उन धार्मिक विश्वासों द्वारा शासित होता है जिन की सत्यता उस के लिए असंदिग्ध है और जिन के ज्ञान का एकमात्र साधन श्रुतिमूलक शब्द-प्रमाण है । वह सदा उन्हीं विश्वासों के अनुरूप आचरण करता है और इन का कभी भी परित्याग नहीं कर सकता। उस के लिए धर्म द्वारा निर्धारित मानव-जीवन के परम लक्ष्य का ही सर्वाधिक महत्त्व होता है । वह अपने इसी धार्मिक लक्ष्य के लिए सदा प्रयत्नशील रहता है । संक्षेप में धर्मपरायण व्यक्ति के समस्त विचार, जीवन तथा जगत् के प्रति उस का दृष्टिकोण और उस का संपूर्ण आचरण उस के धार्मिक विश्वासों द्वारा निर्धारित होता है क्योंकि यही उस के धर्म की अनिवार्य माँग है । यह समझना कठिन नहीं है कि ऐसा व्यक्ति उस वैज्ञानिक दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं कर सकता जिस की चर्चा ऊपर की गई है और जिस में उस के धार्मिक विश्वासों तथा पूजा या उपासना के लिए कोई स्थान नहीं है ।

परंतु जो व्यक्ति धर्म के स्थान पर केवल वैज्ञानिक दृष्टिकोण को महत्त्व देता है उस का जीवन दर्शन तथा आचरण धर्मपरायण व्यक्ति के जीवन-दर्शन और आचरण

से पूर्णत: भिन्न होता है । धार्मिक व्यक्ति के विपरीत वह केवल उन्हीं विचारों, विश्वासों तथा सिद्धांतों को स्वीकार करता है जो विज्ञान द्वारा प्रमाणित हो चुके अथवा जिन की व्याख्या तार्किक या वैज्ञानिक नियमों द्वारा की जा सकती है । वह प्रत्येक वस्तु अथवा घटना को समझने के लिए वैज्ञानिक विधि का ही प्रयोग करता है और उस की व्याख्या भी विज्ञान द्वारा स्वीकृत प्राकृतिक नियमों के आधार पर करता है जिन में कारण-कार्य का नियम सर्वप्रमुख है । केवल वैज्ञानिक दृषिटकोण के अनुरूप विचार और आचरण करने वाले ऐसे व्यक्ति के जीवन में किसी प्रकार की अलौकिक आस्था, अंधविश्वासों तथा परम्परागत धार्मिक कर्मकांड या अनुष्ठानों के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता । वह किसी विचार, विश्वास या सिद्धांत को केवल इसलिए नहीं मान लेता कि उसे किसी महान् धर्म-प्रवर्तक ने प्रस्तुत किया है अथवा कोई विशेष धर्म-ग्रंथ उसे मानने का आदेश होता है । उस का कारण यह है कि जीवन और जगत् के प्रति ऐसे व्यक्ति का दृष्टिकोण विशुद्ध रूप से तार्किक या बौद्धिक होता है । किसी विचार या सिद्धांत के समर्थन में वह केवल ऐसे प्रमाण को ही विश्वसनीय मानता है जिस का मूल आधार अनुभव अथवा तर्क है और जिस की पुष्टि कुछ प्राकृतिक तथ्यों द्वारा की जा सकती है । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि धर्मपरायण व्यक्ति के विपरीत वैज्ञानिक दृष्टिकोण को स्वीकार करने वाले मनुष्य की प्रतिबद्धता केवल अनुभव, तर्क, वैज्ञानिक विधि तथा विज्ञान द्वारा प्रमाणित सिद्धांतों के प्रति ही होती है, किसी विशेष धर्म-प्रवर्तक, संत या अलौकिक सिद्धांत के प्रति नहीं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ऐसे वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकास के लिए कोई विशेष वैज्ञानिक उपाधि प्राप्त करना अथवा विज्ञान के क्षेत्र में कार्यरत होना अनिवार्य नहीं है । यह सम्भव है कि विज्ञान की शिक्षा देने वाला अथवा प्रयोगशाला में कार्य करने वाला कोई विज्ञानी अपने व्यावहारिक जीवन में धर्मपरायण व्यक्ति हो । ऐसी स्थिति में जीवन और जगत् के प्रति उस का दृष्टिकोण वैज्ञानिक न हो कर धार्मिक ही होगा । इस का तात्पर्य यह है कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकास के लिए एक विशेष प्रकार की तर्कपूर्ण अभिवृत्ति की आवश्यकता होती है जिसे समुचित शिक्षा और प्रयास द्वारा कोई भी व्यक्ति प्राप्त कर सकता है । परंतु इतना निश्चित है कि वास्तविक अर्थ में इस दृष्टिकोण को स्वीकार करने वाला व्यक्ति किसी अलौकिक सत्ता में आस्था रखने वाला धर्मपरायण मनुष्य नहीं हो सकता ।

धर्मपरायण व्यक्ति एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण को स्वीकार करने वाले व्यक्ति के विचारों तथा आचरण में उपर्युक्त आधारभूत अंतर से यह स्पष्ट है कि प्रथम प्रकार का व्यक्ति केवल आस्था के आधारपर अपने विशेष धार्मिक विश्वासों तथा सिद्धांतों को पूर्णत: सत्य मान कर संतुष्ट हो जाता है जबकि दूसरे प्रकार का व्यक्ति अनुभव, तर्क

और वैज्ञानिक विधि द्वारा निरंतर सत्य का अनुसंधान करता रहता है। एक का दृष्टिकोण मूलत: आस्थापरक एवं अलौकिक होता है और दूसरे का तार्किक, आलोचनात्मक, इहलौकिक तथा शोधपरक। यही कारण है कि धर्मपरायण व्यक्तियों और वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखनेवाले व्यक्तियों में प्राय: संघर्ष होता रहता है जो अनिवार्य तथा नितांत स्वाभाविक है। विश्व का इतिहास इस बात का साक्षी है कि इसी वैचारिक संघर्ष के परिणामस्वरूप धर्म-विशेषत: पाश्चात्य ईश्वरवादी धर्मों—ने विज्ञान के उदय तथा विकास में निरंतर बाधा डालने का प्रयास किया है और अपने इस निंदनीय उद्देश्य की प्राप्ति के लिए धर्मपरायण प्रशासकों ने सत्य की खोज करने वाले महान विज्ञानियों पर घोर अमानवीय अत्याचार किए हैं। ऐसी स्थिति में धर्मपरायण व्यक्तियों से यह आशा करना अवास्तविक और निरर्थक है कि वे किसी भी मानवीय समस्या पर—चाहे वह धार्मिक हो या धर्मनिरपेक्ष—वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार विचार करेंगे अथवा कर सकते हैं। इस के विपरीत दुखद एवं कटु सत्य यह है कि वे जनसाधारण में सतत धार्मिक प्रचार द्वारा वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विरुद्ध अपना अभियान निरंतर चलाते रहेंगे जैसा कि वे आज भी चला रहे हैं। इन तथ्यों के आधार पर हम निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि धर्म तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण में कोई अनिवार्य सम्बंध नहीं है और न हो सकता है। वस्तुत: धर्म पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार विचार करना और इस दृष्टिकोण के अनुरूप उस की कोई संतोषप्रद वैज्ञानिक व्याख्या करना सम्भव प्रतीत नहीं होता।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या वैज्ञानिक दृष्टिकोण के आधार पर उस व्यापक दु:खद संघर्ष को समाप्त या कम किया जा सकता है जो सम्पूर्ण विश्व में भिन्न-भिन्न धर्मों तथा एक ही धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों में परस्पर प्राय: होता रहता है। आज-कल अनेक प्रबुद्ध विचारक अपने-अपने विशेष दृष्टिकोण के अनुसार इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार कर रहे हैं। इस प्रश्न के सम्बंध में मेरा अपना मत यह है कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण द्वारा विभिन्न धर्मानुयाईयों में धार्मिक सहिष्णुता उत्पन्न कर के इस संघर्ष को कुछ सीमा तक कम किया जा सकता है। इस का एक उपाय यह है कि यदि अलग-अलग धर्मों में विश्वास करने वाले व्यक्तियों को उन के अपने धर्म के अतिरिक्त अन्य सभी धर्मों की भी आवश्यक तथ्यपरक जानकारी प्रदान की जाए तो अन्य धर्मों के विरुद्ध उन के निराधार पूर्वाग्रहों का निराकरण करना शायद सम्भव है। वस्तुत: आज विभिन्न धर्मों के अनुयाईयों में जो धार्मिक संघर्ष दिखाई देता है उस का एक बहुत बडा कारण एक-दूसरे के धर्म के विषय में उन की पूर्ण अनभिज्ञता है जो अनावश्यक निराधार पूर्वाग्रहों को जन्म देती है और अंतत: ये पूर्वाग्रह उन में धार्मिक असहिष्णुता

उत्पन्न करते हैं । यह स्पष्ट है कि यदि विभिन्न धर्मों के सम्बंध में समुचित तथ्यात्मक जानकारी द्वारा धर्मपरायण व्यक्तियों की इस धार्मिक असहिष्णुता को समाप्त अथवा कम किया जा सके तो सम्भवत: वर्तमान धार्मिक संघर्ष भी समाप्त या कम हो सकता है । परंतु मूल प्रश्न यह है कि क्या हम जनसाधारण को यह आवश्यक तथ्यपरक जानकारी देने के लिए तैयार हैं ?

डॉ. वेदप्रकाश शर्मा

३८/८ प्रोबिन रोड
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली ११० ००७

'भारतीय दर्शन की मानववादी दृष्टि'

दर्शन का केन्द्रबिन्दु मनुष्य है और उसे आदिकाल से मनुष्य के सर्वांगीण विकास तथा उसके लक्ष्योपलब्धि की अन्तहीन यात्रा का एक पडाव माना जा सकता है। दर्शन पर आधृत होने के कारण भारतीय संस्कृति का मूल स्वर आध्यात्मिक है जिसमें मनुष्य के लौकिक तथा पारलौकिक स्वरूप को सतत समृद्ध करने की चेष्टा की गयी है। मानवीय जीवन तथा समाज के सर्वतोमुखी विकास के लिए दर्शन में पुरुषार्थ तथा वर्णाश्रम व्यवस्था के आदर्श को मान्यता दी गयी है जो मनुष्य के प्रति उसकी प्रतिबद्धता को ही उजागर करता है। पुरुषार्थ साधन तथा वर्णाश्रम व्यवस्था विभिन्न चरणों में मनुष्य को उसके लक्ष्य तक पहुँचाने के वे सोपान हैं जिनसे होता हुआ मनुष्य जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य परमपुरुषार्थ रूप मोक्ष को प्राप्त कर मानवीय जीवन कृतकृत्य बनाता है।

भारतीय चिन्तन में आदि साहित्य वेद से लेकर समकालीन दर्शन तक मानवीय हित को ही दर्शन का प्रमुख प्रतिपाद्य मानता हुआ मुख्य रूप से मानववादी दृष्टि की स्थापना करता है। मानववादी दृष्टिकोण में मनुष्य की स्वतन्त्रता और सृजनशीलता पर विशेष बल दिया जाता है। मनुष्य मूल्यों का स्रष्टा है। मूल्य शब्द अत्यन्त व्यापक है जिसका प्रयोग दार्शनिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक क्षेत्रों में विभिन्न सन्दर्भों में होता है। मानववाद मनुष्य को सर्वोच्च सत्ता स्वीकार करता है। मानववाद का अंग्रेजी पर्याय Humanism है जो Humanitas से निःसृत है और जिसका अर्थ मनुष्य की ऐसी शिक्षा से है जो पशुओं से भिन्न और उसके व्यवहार को इस प्रकार अनुशासित करती है कि वह पाशविक एवं बर्बर न रहे। मानववाद का प्रमुख आग्रह मनुष्य को बर्बरता से मुक्त कराने और उसे इस प्रकार प्रशिक्षित करने पर है कि पशुओं की अपेक्षा वह अपनी श्रेष्ठता को अभिव्यक्त कर सके। मानववाद प्रकृति और पद्धति दोनों दृष्टियों से बर्बरतावाद के विपरीत है। इस सिद्धान्त के अनुसार असहिष्णुता और साम्प्रदायिकता में बर्बरता अभिव्यक्त होती है। मानववाद स्वभाव से सहिष्णु है और सभी प्रकार साम्प्रदायिकता के विरुद्ध है। मानववादी सहिष्णुता का आधार विभिन्न धार्मिक विश्वासों में मौलिक एकता है जो सर्वव्यापी तथा आवश्यकरूप से नैतिक है। धर्मं की यही सर्वव्यापी नैतिकता मानववादी सहिष्णुता को सम्भव बनाती है।

मानववाद वह नैतिक दृष्टि है जो आवश्यक रूप से मनुष्य के व्यावहारिक पक्ष

से सम्बन्धित है । यह सिद्धान्त मनुष्य के सामाजिक सरोकार को महत्त्वपूर्ण मानता है अत: सदैव विचार प्रधान जीवन की अपेक्षा सक्रिय अथवा गत्यात्मक जीवन का समर्थन करता है । यह जीवन और जगत् से कटना नहीं चाहता और न ही कभी भी अपने को मानवीय परिप्रेक्ष्य से अलग ही करता है ।

मानववाद प्रकृति के प्रति भी सहिष्णु है । वह प्रकृति और मानवीय व्यवहार में बहुत अन्तर नहीं मानता । वह मनुष्य को सृष्टि का श्रेष्ठ प्राणी मानते हुए भी प्रकृति से कटा हुआ नहीं समझता । वह प्रकृति को हेय समझकर उस पर विजय पाने की आकांक्षा नहीं रखता । वह प्राकृतिक व्यापारों में मनुष्य को भागीदार बनाने के लिए प्रेरित करता है । प्रकृति और मनुष्य के बीच उसे सहकार की भावना स्वीकार है । यही सहकार वह मनुष्य और मनुष्य के बीच भी मानता है । मानववाद की सामाजिक और नैतिक दृष्टि मनुष्य मात्र के लिए सेवा भाव की है । इसके अनुसार मनुष्य अपना सर्वोच्च शुभ सभी के कल्याण में ही प्राप्त कर सकता है । इसके अनुसार समस्त मानवीय व्यापार परार्थ की भावना से ओतप्रोत होने चाहिए ।

मानववाद मनुष्य-निरपेक्ष दर्शन के विरुद्ध एक विद्रोह है । बर्बरता, असहिष्णुता, साम्प्रदायिकता, जीवन और जगत् के प्रति विरक्ति तथा क्षुद्र स्वार्थ आदि की भावनाएँ मानववादी विद्रोह के प्रमुख लक्ष्य हैं किन्तु मानववाद की शक्ति केवल विद्रोह में ही नहीं है कदाचित् स्वीकृति में अधिक है । सम्भवत: इसीलिए यह विचारधारा प्राचीन वेदों से लेकर समकालीन चिन्तन तक निर्बाध रूप से चली आ रही है । भारतीय दर्शन मूलत: अध्यात्मवादी है । उपनिषद् इस चिन्तन के मूल स्रोत हैं जिसे अध्यात्म के अतिरिक्त नीति शास्त्र, समाजदर्शन तथा जीवन दर्शन का भी मूल उत्स माना जाता है । अध्यात्मशास्त्र में मुख्यत: तीन बिन्दुओं पर विचार किया जाता है - मनुष्य, जगत् तथा ईश्वर । समाज-दर्शन अध्यात्म पर ही आधारित होता है । जैसा अध्यात्म दर्शन होगा वैसा ही समाज-दर्शन होगा । समाज-दर्शन में भी सर्वप्रथम मनुष्य की प्रकृति और विश्व में उसका सम्बन्ध एवं अन्त में ईश्वर के सम्बन्ध की व्याख्या की जाती है ।

उपनिषदों का चिन्तन आत्मज्ञान से प्रारम्भ होता है ।[१] आध्यात्मिक साधना की प्रक्रिया में ऋषियों ने यह अनुभव किया कि मनुष्य में एक आत्मतत्त्व है जो शरीर, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि से परे है । वही ज्ञाता, कर्ता तथा भोक्ता बनता है । स्वरूपत: वह नित्य चेतन, अजर, अमर, अज तथा अशरीरी है । वह जन्म-मरण से परे तथा भौतिक शरीर के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता । वह संकल्पस्वातन्त्र्य से युक्त है । यह आत्मतत्त्व जीवात्मा तथा परमात्मा के भेद से द्विविध है जो अन्धकार और प्रकाश की भाँति एक ही शरीर में निवास करते हैं । जीवात्मा कर्म के फलों को भोगता है ;

सुख-दुःख का अनुभव करता है जबकि आत्मा तटस्थ भाव से रहता है।[२] जीवात्मा अज्ञानी है और उसके दुःख तथा बन्धन भी अज्ञानजन्य है। अपने अज्ञानजन्य कर्मों के कारण जीव बन्धन-ग्रस्त होता है तथा कर्मानुसार ही उसे संसार में सुख, दुःख, धर्म तथा अधर्म का भोग करना पडता है। आत्मज्ञान होने पर अज्ञान तथा तज्जन्य दुःख और बन्धन भी नष्ट हो जाते हैं। परमात्मा अद्वय तत्त्व है जिसके ज्ञान से समस्त द्वैत प्रपञ्च नष्ट हो जाते हैं। द्वैत दृष्टि ही मनुष्य के समस्त दुःख तथा क्लेशों का कारण है। एकात्मभाव मनुष्य की स्वाभाविक स्थिति है। जब यह एकात्मकता किसी कारण से नहीं रह पाती तब मनुष्य अलगाव, रागद्वेष, द्वन्द्व एवं संघर्ष का विषय बन कष्ट का अनुभव करता है। हमारे मन की रचना ही इस प्रकार की है कि एकात्मकता के बिना उसे शान्ति नहीं मिल सकती। मनुष्य अपनी इसी एकात्मकता की खोज में निरन्तर भटकता रहता है। जब तक उसे एकात्मकता की प्राप्ति नहीं होती तब तक वह असन्तुष्ट बना रहता है। इस एकात्मकता का तात्पर्य है कि तत्त्व समान रूप से सर्वत्र व्याप्त है, व्यापक है इसीलिए वह मनुष्यों में भी है। यही मनुष्य का सार है। मनुष्य केवल अपने अन्दर अथवा मानव समाज में इस एकात्मकता के दर्शन से सन्तुष्ट नहीं हो जाता। प्राकृतिक परिवेश में रहने के कारण प्रकृति से उसकी अन्तर्क्रिया अनिवार्य है। उपनिषदों में प्रकृति में भी वही एकात्म तत्त्व माना गया है[३] जो मनुष्य में है। प्रकृति के प्रति इस दृष्टिकोण से मनुष्य और प्रकृति का भी समन्वय होता है।

मनुष्य परलोक अथवा ईश्वर के विषय में भी चिन्तन करता है। ईश्वर में भी वही तत्त्व है जो मनुष्य तथा प्रकृति में है। उपनिषदों का अध्यात्मशास्त्र पूर्णतः एकात्मवादी है। वह मनुष्य, प्रकृति तथा ईश्वर तीनों में एक ही तत्त्व को विद्यमान मानता है और वही हमारे चिन्तन का आधार होना चाहिए। यही तत्त्व उपनिषद् प्रतिपादित सच्चिदानन्द है।

भारतीय संस्कृति का आदर्श 'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति सःपश्यति' है। यह आत्मतत्त्व ही वह तत्त्व है जो मनुष्य की एकात्मकता बनाये रखने वाला है। मनुष्य सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है।[४] आत्मा चेतना की जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीयावस्था में विद्यमान है। वह स्वभावतः आनन्दमय है।[५] संसार की समस्त अनेकता इस एकता में स्थित है। कठोपनिषद् में आत्मा को परमतत्त्व, अमृत, स्वयं सिद्ध और ज्योतिस्वरूप कहा गया है। वहाँ यम-नचिकेता संवाद में तथा छान्दोग्योपनिषद् के सनत्कुमार तथा इन्द्र और विरोचन संवाद में आत्मा को ही परमतत्त्व कहा गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य आत्मा को परम ज्ञाता कहते हैं जिसका ज्ञेय अर्थात् वस्तु रूप में ज्ञान नहीं हो सकता। तथापि वह शून्य रूप नहीं है क्योंकि ज्ञाता का ज्ञान; द्रष्टा की दृष्टि कभी नष्ट नहीं होती।[६] कठोपनिषद् में कहा गया है कि सूर्य और चन्द्रमा के नष्ट हो जाने पर

अग्नि के बुझ जाने पर भी आत्मा अपने प्रकाश से अकेला चमकता है । उसी के प्रकाश से प्रत्येक वस्तु ज्योतित है ।[७] मुण्डकोपनिषद् के अनुसार अग्नि उसका सिर है, चन्द्रमा और सूर्य उसके नेत्र हैं, आकाश की चारों दिशाएँ उसके कान हैं, वेद उसका वाक्य है, पवन उसकी श्वास है, विश्व उसका हृदय है-वही समस्त जीवों की अन्तर्यामी आत्मा है ।[८] आत्मा साक्षी और ज्ञानस्वरूप है । मनुष्य में भी यही आत्म तत्त्व है जो ईश्वर तथा प्रकृति से उसे जोडता है ।

उपनिषद् प्रतिपाद्य आत्मन् ही परमतत्त्व ब्रह्म है ।[९] वह अनन्त, नित्य, सर्वव्यापी और शुद्ध चैतन्य है । यही सबकी आत्मा है । संसार की समस्त वस्तुओं का आधारभूत सूक्ष्मतत्त्व है । यही जगत् का आदि, अन्त और स्थिति है ।[१०] जगत् का मूलतत्त्व ब्रह्म इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है । मानववादी दृष्टि से उपनिषदों में ब्रह्म को सच्चिदानन्द कहा गया है । यह सत् है, चित् है तथा आनन्द भी है । जहाँ कहीं अस्तित्व है, जहाँ कहीं चैतन्य है तथा जहाँ कहीं आनन्द है वहाँ ब्रह्म है । सत् अध्यात्मशास्त्रीय तत्त्व है, चित् ज्ञानशास्त्रीय तत्त्व है तथा आनन्द मूल्यशास्त्रीय तत्त्व है और ये तीनों ही मनुष्य के परमलक्ष्य हैं । सच्चिदानन्द में अस्तित्व, ज्ञान तथा मूल्य का समन्वय है । ये तीनों भिन्न नहीं अपितु परस्परनिर्भर तत्त्व हैं तथा मूलत: एक हैं । ब्रह्म सभी प्रकार के भेदों से परे हैं क्योंकि सभी भेद व्यावहारिक होते हैं उनमें परस्पर पूरकता होती है । परमार्थत: सभी ब्रह्मरूप हैं । उपनिषदों में आत्मा और ब्रह्म की एकात्मकता 'अयमात्मा ब्रह्म' 'आत्मा च ब्रह्म' जैसे महावाक्यों द्वारा व्यक्त की गयी है । 'तत्त्वमसि' महावाक्य द्वारा इस तथ्य की स्थापना की गयी है कि मनुष्य में भी वही परमतत्त्व है जो विश्व का सञ्चालन करता है । मनुष्य विराट् प्रकृति तथा ईश्वर से सम्बन्धित है क्योंकि तीनों में एक ही परमतत्त्व विद्यमान है।

प्राकृतिक जगत् भी ब्रह्म से उत्पन्न होता है, उसी में पलता है और उसी में समा जाता है । ब्रह्म वस्तु जगत् के नाम-रूप का कारण है । देश, काल, प्रकृति सभी ब्रह्म के आवरण हैं सभी का तत्त्व ब्रह्म है । यह परमतत्त्व ही सारतत्त्व है जो प्रकृति और मनुष्य में समानरूप से उपस्थित है । उपनिषद् प्रतिपादित आत्म-विकास की साधना-पद्धति में मनुष्य के प्रत्येक पहलू की साधना सम्मिलित है । योगाभ्यास में शारीरिक नियन्त्रण के पश्चात् मानसिक नियन्त्रण की साधना की चर्चा की गयी है । बृहदारण्यक उपनिषद् का मत है कि तन तथा मन का संयम और योगाभ्यास चित्त को शुद्ध करके उसे ब्रह्म-ज्ञान के योग्य बनाते हैं । तप से चित्त की शुद्धि होती है । शाण्डिल्योपनिषद् में यम के दस प्रकार बताये गये हैं - अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव, क्षमा, धृति, मिताहार और शौच ।[११] आगे चलकर महात्मा गाँधी ने अपने सर्वोदय अर्थात् मानववादी चिन्तन के लिए किञ्चित् भेद के साथ एकादश व्रत की बात स्वीकार की।

साधना के इन विभिन्न सोपानों का एकमात्र उद्देश्य शरीर, मन तथा आत्मा में एकात्मकता प्राप्त करना था। यह एकात्मकता केवल ज्ञान का ही नहीं साधना का भी विषय है। इससे होने वाला मानव-समाज का लाभ अनुभव और प्रयोग का विषय है।

श्रीमद्भगवद्गीता मूलतः मानवीय समस्या और उसके समाधान से सम्बन्धित ग्रन्थ है। गीता में उपनिषदों के विचारों को व्यावहारिक रूप में प्रस्तुत किया गया है। महाभारत में गीता के उपदेश की स्थिति विशेष रूप से मानववादी है। इस ग्रन्थ में अर्जुन को किंकर्तव्यमूढ दिखाया गया है जिसे श्रीकृष्ण गीता के अठारह अध्यायों में भिन्न-भिन्न तर्क देकर उसको समाज में उसकी स्थिति के अनुरूप कर्तव्य-बोध कराते हुए अनासक्त कार्य करने का उपदेश देते हैं। इस मानववादी आदर्श की प्राप्ति हेतु वे प्रसंङ्गानुसार आत्मा, परमात्मा, मानव तथा प्रकृति का भी विशद विवेचन करते हैं जो मूलतः उपनिषदों के अध्यात्म पर आधारित है। गीता के चिन्तन में भी मनुष्य, प्रकृति तथा ईश्वर के मध्य एकात्मभाव स्वीकार किया गया है। यहाँ मनुष्य का लक्ष्य ईश्वर-साक्षात्कार तथा लोक-संग्रह करना है। लोक-संग्रह मानववादी आदर्श है जिसे गीता में ईश्वर-साक्षात्कार के समकक्ष मानकर सर्वोच्च स्थान दिया है।

भारत की नास्तिक परम्परा में मानववादी दृष्टिकोण पर विशेष बल दिया गया है। इन दर्शनों का प्रारम्भ ही मानवीय समस्याओं के सन्दर्भ में हुआ और इन्होंने परमार्थ चिन्तन के स्थान पर मनुष्य की जागतिक समस्याओं को अपने चिन्तन का केन्द्र-बिन्दु बनाया। जहाँ चार्वाक दर्शन मनुष्य के इहलौकिक जीवन के सुखों की वृद्धि का प्रयास और उपाय अपना लक्ष्य मानता है वही जैन तथा बौद्ध दर्शन भौतिकता से ऊपर उठकर मनुष्य के नैतिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक उत्थान पर भी बल देते हैं। बौद्ध दर्शन में भी आत्म-गवेषणा को दर्शन का लक्ष्य कहा गया है।[१२] भारत की आस्तिक तथा नास्तिक परम्परा के सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, करुणा, मैत्री आदि आदर्श भारत में मानववादी चिन्तन को सदैव प्रोत्साहित करते रहे हैं। सामाजिक नीति के अनुपालन में भी इन्हें आवश्यक माना गया है। ईश उपनिषद् में दूसरे के धन के प्रति लालच न रखने का आदेश दिया गया है।[१३] वैदिक परम्परा से जुडे षड्दर्शन तथा श्रमण परम्परा के प्रतिनिधि जैन तथा बौद्ध दर्शन एकमत से स्वीकार करते हैं कि सांसारिक दुःखों का कारण तत्त्व का अज्ञान है और तत्त्वज्ञान से ही इससे मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। वैदिक काल से निःसृत दर्शन की अविच्छिन्नधारा से प्रभावित समकालीन चिन्तकों राजा राममोहन राय, दयानन्द सरस्वती, रवीन्द्रनाथ टैगोर, विवेकानन्द, श्री अरविन्द, स्वामी रामतीर्थ, महात्मा गाँधी तथा रमण महर्षि आदि ने वेदान्त को अपने विचारों का आधार बनाया तथा एकात्म मानववाद के सन्देश से अपने युग को समृद्ध

बनाया। एकात्म मानववाद मनुष्य, प्रकृति तथा ईश्वर में एक ही आत्मा के दर्शन करता है और उसे परमतत्त्व की तीन अभिव्यक्तियाँ मानता है। इस सिद्धान्त के अनुसार सत् का आधार और पृष्ठभूमि विश्वसनीनता है। इसी परमतत्त्व का साक्षात्कार हमारे जीवन का लक्ष्य है जिसका साधन अपरोक्षानुभूति बताया गया है। यही हमारा आध्यात्मिक बोध है।

मनुष्य प्रकृति से ही विकसित हुआ है और उसी का अङ्ग है। मानववाद यह स्वीकार करता है कि मनुष्य स्वयं स्वतन्त्र और रचनात्मक चिन्तन तथा क्रिया के द्वारा अपनी समस्याओं के समाधान में समर्थ है। उसका लक्ष्य इसी जीवन में व्यक्तिगत, राष्ट्रीय, आन्तर्राष्ट्रीय तथा आध्यात्मिक प्रगति प्राप्त करना है। इस क्रम में व्यक्ति और परिवार, परिवार तथा राष्ट्र, राष्ट्र एवं मानवता और अन्त में मानवता तथा प्रकृति का कल्याण परस्पर पूरक हैं क्योंकि मानववाद सर्वाङ्गीण विकास की अवधारणा है।

एकात्म मानववाद अत्यन्त प्राचीन काल से ही भारतीय संस्कृति की विशेषता रहा है। गीता में इस अवधारणा की चर्चा हम स्वधर्म के रूप में पाते हैं। स्वधर्म का तात्पर्य है कि प्रत्येक मनुष्य को जीवन में विशेष स्थिति के अनुसार विशिष्ट कर्ता के रूप में अपनी भूमिका का निर्वाह करते हुए अपने आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति करनी है। स्वधर्म की इस धारणा में अन्य व्यक्तियों तथा राष्ट्रों के धर्म-पालन का सम्मान भी सम्मिलित है क्योंकि प्रत्येक के लिए उसका स्वधर्म उतना ही पवित्र है जितना दूसरे का।

धर्म के क्षेत्र में भी मानववाद का समन्वयात्मक दृष्टिकोण दिखायी पडता है। भारत में मध्यकाल से ही सन्तो तथा सूफियों ने हिन्दू तथा इस्लाम धर्म की मूल बातों में साम्य देखते हुए परस्पर एक दूसरे के निकट आने का प्रयास किया एवं दोनों धर्मों के सार्वभौम रूप से जन-मानस को परिचित कराने का श्लाघनीय कार्य किया। इस दिशा में, अमीर खुसरो, कबीर, जायसी, गुरुनानक आदि का योगदान विशेष उल्लेखनीय है। समकालीन दार्शनिकों ने भी सभी धर्मों की मौलिक एकता के महत्त्व और योगदान को समझते हुए कर्म के सर्वग्राह्य एवं रूढिमुक्त धर्म की प्रतिष्ठा और प्रचार को अपने जीवन का सर्वप्रमुख लक्ष्य बनाया। आधुनिक काल के प्रारम्भ से ही राजा राममोहन राय ने हिन्दू, तथा इस्लाम धर्म के साथ ईसाई कर्म के समन्वय का प्रयास किया। उनके द्वारा स्थापित ब्रह्मसमाज में सभी धर्मों की मूल अवधारणाओं को लेकर एक प्रार्थना पुस्तक की रचना की गयी जिसका पाठ ब्रह्मसमाज की गोष्ठियों में किया जाता था। ब्रह्मसमाज के ही अन्य शीर्ष नेता केशवचन्द्र सेन ने भी एशिया मूल के होने के कारण तीनों धर्मों में परस्पर साम्य के दर्शन किये। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपने इन्हीं उदात्त विचारों के कारण मानवधर्म की परिकल्पना की। वे ईश्वर को ही सभी मानव-मूल्यों का सर्वोच्च

स्रोत स्वीकार करते थे। रामकृष्ण परमहंस का मत था कि ईश्वर एक ही है विभिन्न धर्मों में उसके अनेक रूप की अभिव्यक्तियों का ही वर्णन है। अपनी इसी मान्यता के आधार पर वे विभिन्न धर्मों में प्रचलित भेद-भाव को दूर करने का उपदेश देते रहे। उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द का सार्वभौम धर्म की प्रतिष्ठा का प्रयास तो विश्व विश्रुत ही है। धार्मिक सहिष्णुता तथा सद्भाव से अनुप्रणित होकर महात्मा गांधी ने कहा था " मैं हिन्दुत्व को सत्य धर्म मानता हूँ परन्तु इस्लाम तथा ईसाइयत भी सत्य के धर्म हैं। आपके दृष्टिकोण से ईसाइयत सत्य है। मेरे दृष्टिकोण से हिन्दुत्व सत्य है। सभी धर्मों का सार एक है केवल उनका दृष्टिकोण ही भिन्न है।

समाज दर्शन के क्षेत्र में भी मानववाद वैदिक काल से समकालीन युग तक व्यक्ति और समाज की सर्वाङ्ग प्रगति को ही अपना सर्वोच्च लक्ष्य स्वीकार करता है। एकात्म मानववाद व्यक्तिगत, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, राष्ट्रीय तथा आन्तर्राष्ट्रीय सभी क्षेत्रों में मनुष्य की सर्वाङ्गीण प्रगति को ही अपना लक्ष्य मानता है। भारत के विश्व-बन्धुत्व तथा वसुधैव कुटुम्बकम के आदर्श उसके इसी सामाजिक लक्ष्य की पुष्टि करते हैं। आर्थिक क्षेत्र में यह आदर्श उत्पादक तथा उपभोक्ता के हितों का समन्वय करता है। राजनैतिक क्षेत्र में यह जनतन्त्र का समर्थक है तथा एक ऐसी समाज-रचना चाहता है जिसमें विभिन्न-वर्गों के हित परस्पर विरुद्ध न होकर पूरक हों। महात्मा गाँधी ने इसी सिद्धान्त के आलोक में अपने सत्याग्रह, सर्वोदय, ट्रस्टीशिप तथा अन्त्योदय जैसे कार्यक्रमों को सञ्चालन करते हुए भविष्य की समस्याओं का सर्वमान्य हल ढूँढने का अभिनव प्रयोग कर एक समग्र जीवन-दृष्टि प्रदान करने का अपूर्व कार्य किया।

समकालीन दार्शनिकों के युग में भारत दासता के यातनापूर्ण जीवन जीने के लिए विवश था। सर्वत्र भूख, निर्धनता, अशिक्षा, कुसंस्कारो का बोलबाला था। तत्कालीन युग के मनीषी चिन्तकों ने अपने देश के कालजयी शाश्वत स्फूर्तिदायक चिन्तन की पृष्ठभूमि को आधार बनाकर राष्ट्रीय और आन्तर्राष्ट्रीय हितों की रक्षा करते हुए समन्वित चिन्तन का अनूठा मार्गदर्शन करते हुए मानववाद की प्रतिष्ठा की। अपनी मानववादी दृष्टि के कारण स्वामी दयानन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ तथा महात्मा गाँधी ने शिक्षा की ऐसी योजनाएँ प्रस्तुत की जिनमें मनुष्य का शारीरिक तथा मानसिक, व्यक्तिगत एवं सामाजिक, नैतिक और धार्मिक बहुमुखी विकास हो सके तथा वह सही अर्थों में अपने को सृष्टि के श्रेष्ठतम प्राणी के रूप में प्रस्तुत कर सके।

मानववाद के इसी आदर्श के अनुरूप हम सभी सनुष्यों के सुखी तथा किसी के दुःखी न होने की प्रार्थना करते हैं --

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु न हि कश्चित् दु:खभाग्भवेत् ।।

भारत में मनुष्य जीवन का लक्ष्य भी मानव-सेवा ही माना गया है-

न तु कामये राज्यं न स्वर्गं न पुनर्भवम् ।

कामये दु:खतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ।।

श्रीमद्भगवद्गीता में यही आदर्श सर्वभूतहितेरता: के शाश्वत सन्देश के रूप में मिलता है ।

बी ३१/१८ डी-२ कलाधरकीर्ति
सत्येन्द्र कुमार, गुप्त नगर
लंका, वाराणसी - २२१ ००५

डॉ. उर्मिला चतुर्वेदी

टिप्पणियाँ

१. आत्मानं... विद्धि (कठोपनिषद् १।३।३)

२. द्वा सुपर्णा सयुजा सखायां समानं वृक्षं परिष्वस्वजाते ।
तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्यो अभिचाकशीति ।। (मुण्डक उपनिषद् ३।३।१)

३. सर्व खलु इदं ब्रह्म (छान्दोग्योपनिषद् ३।१४।१)

४. न हि मनुष्यात् श्रेष्ठतरो कश्चित् । (महाभारत) बडे भाग मानुष तन पावा

५. यो वै भूमा तत्सुखम् नाल्पे सुखं नास्ति ।

६. न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते । (बृहदारण्यक उपनिषद् ४।३।२३)
न हि विद्यातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते । (वहीं ४।३।३०)

७. न तत्र सूर्योभाति व चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्नि: ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।। (कठ. अ. २।३।१५)

८. अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यो दिश: श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदा: ।
वायु: प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्म्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ।। (मुण्डक उपनिषद् २।१।४)

९. अयमात्मा ब्रह्म । (बृहदारण्यक उपनिषद् ४।४।५)

१०. तज्जलान् (छान्दोग्योपनिषद् ३।१४।१)
यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ।। येन जातानि जीवन्ति ।। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।।
(तैत्तिरीय उपनिषद् ३।१।१)

११. अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यदयार्जक्षमाधृतिमिताहार शौचानि.. । (शाण्डिल्योपनषिद् १।१)

१२. आप्तानां कित्र गवेसयथा । (विनयमग्ग २५)

१३. मा गृध: कस्य स्विद्धनम् । (ईश. उपनिषद् १)

मूल्यों के संकट का स्वरूप और कारण- (।) एक विवेचन

क़िसी भी सार्थक बहस को प्रारंभ करने के पूर्व बहस के मुद्दों को स्पष्ट कर देना आवश्यक होता है । प्राय: उसके अभाव में बहस अनेकार्थकता दोषों में उलझ जाती है । प्रश्न है कि मूल्यों के संकट का स्वरूप क्या है और क्या वर्तमान कालखंड में मूल्यों का संकट है? वस्तुत: मूल्य मानवीय चेतना के अनिवार्य अंग हैं । प्रसिद्ध दार्शनिक ज्याँ पाल सार्त्र ने मानवीय चेतना को अभाव या शून्य सिद्ध किया है । चेतना सदैव वस्तुपरक होती है । आत्मबोध वस्तुपरक चेतना से भिन्नता बोध है । सामान्य स्थिति में चेतना इच्छा है, संभावना है, मूल्य है । पर मनुष्य की इच्छा का प्रत्येक विषय मूल्य नहीं । मूल्य के प्रत्यय के तीन घटक हैं - इच्छा, विवेक और स्वतंत्रता । विवेक-सम्मत इच्छा ही मूल्य बनती है । विवेक के प्रयोग के लिये मानवीय स्वतंत्रता एक पूर्व मान्यता है । स्वतंत्र वरण के लिये विकल्पों का होना भी आवश्यक है । विकल्पहीनता की दशा में स्वतंत्रता निरर्थक है । यों तो मानवीय चेतना और स्वतंत्रता समानार्थक हैं पर यह बोध कल्पनाशील व्यक्ति को ही होता है । प्राय: परिस्थितियों से जूझ न पाने की असमर्थता के कारण व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता को अस्वीकार कर बैठता है । इसी स्थिति को सार्त्र ने दुरास्था कहा है । दुरास्था ग्रस्त व्यक्ति विवेक का प्रयोग नहीं करता और वरण के उत्तरदायित्व को न स्वीकारता हुआ यंत्रवत् व्यवहार करता है । वस्तुत: मूल्यों का उदय मानवीय चेतना की सृजनात्मकता के कारण होता है । मनुष्य अपनी आवश्यकताओं और अपेक्षाओं के कारण वर्तमान में जो भी उपलब्ध है, उसकी जानकारी के साथ अधिक सन्तोषप्रद स्थिति की कल्पना करता है और इस काल्पनिक स्थिति को यथार्थ में बदलने का प्रयास करता है । सृजनशील मनुष्य ही मूल्यों का निर्माण करता है । मूल्य मनुष्य के विकासशील जीवन के लक्ष्य हैं । **अत: मूल्य विवेकशील स्वतंत्र मनुष्य की वे अपेक्षायें हैं जिसका वरण वह वर्तमान से असंतुष्ट होकर उसे संतोषप्रद और ग्राह्य बनाने के लिये करता है ।**

संकट की स्थिति अवरुद्ध सृजनशीलता के कारण होती है । जब अनिश्चय और

भ्रम की स्थिति में पडकर मानवीय चेतना वर्तमान मे असंतुष्ट होते हुए भी बेहतर विकल्प की कल्पना नहीं कर पाती तो संकट की स्थिति उत्पन्न होती है । बुद्धिमान और संवेदनशील मनुष्य ही संकट का अनुभव करते हैं । उनके सामने कोई संकट नहीं जो वरण के विकल्प को नहीं स्वीकार करते । अकल्पनाहीन व्यक्तियों के सामने भी कोई संकट की स्थिति नहीं उत्पन्न होती जो अतीत के मूल्यों से चिपके रहते हैं और उनकी प्रासंगिकता का विवेचन नहीं करते । संकट की स्थिति उन्हीं के सामने होती है जो अतीत के मूल्यों को वर्तमान में अप्रासंगिक पाते हुए भी आस्थापूर्वक नये मूल्यों का वरण नहीं कर पाते । विकल्पहीनता की स्थिति में उन्हें आगे का कोई रास्ता नहीं सूझता । प्रश्न है कि वर्तमान समय में हमारा समाज जिस दिशा में है उसमें कोई संकट की स्थिति है या नहीं? इस प्रश्न का उत्तर ढूँढने के पहले हमें भारतीय मनीषियों द्वारा स्वीकृति मूल्यों पर भी विचार कर लेना चाहिये ।

भारतीय चिन्तन परम्परा में मूल्य के अर्थ में सामान्य: पुरुषार्थ शब्द का प्रयोग किया गया है । पुरुषार्थ का तात्पर्य पुरुष का प्रयोजन है । भारतीय दर्शन में मूल्यों को चार वर्गों में बाँटा गया है । ये हैं (१) धर्म (२) अर्थ (३) काम और (४) मोक्ष । प्रथम तीन मूल्यों को त्रिवर्ग की संज्ञा दी गयी है और इन्हें सभी व्यक्तियों का आदर्श माना गया है । चौथा मूल्य मोक्ष है जो जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है और जिसकी प्राप्ति के लिये आत्मबल और दृढ संकल्प की आवश्यकता है । आधुनिक शब्दावली में हम अर्थ और काम को जैविक मूल्य, धर्म को नैतिक मूल्य और मोक्ष को आध्यात्मिक मूल्य कह सकते हैं । व्यापक रूप से ये मूल्य आज भी प्रासंगिक हैं, पर इन मूल्यों की उपलब्धि के लिये जो व्यवस्था हमारे समाज में स्वीकृति थी, वह आज अप्रासंगिक हो गयी है । विशेषत: जैविक मूल्यों की उपलब्धि हेतु वर्ण व्यवस्था और उसके विकृत रूप जाति व्यवस्था पर आधारित समाज व्यवस्था आज स्वीकार्य नहीं । आर्थिक प्रगति और पश्चिम के सम्पर्क में आने के कारण प्रजातांत्रिक मूल्यों की स्वीकृति ने हमारी सामाजिक जडता को तोडा है । हमारे संविधान निर्माताओं ने सभी वयस्क व्यक्तियों के लिए समान मताधिकार को स्वीकार किया है । शिक्षा के प्रसार प्रचार द्वारा सभी वर्गों के लोगों में अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता बढी है । प्रजातांत्रिक व्यवस्था होने के कारण आज सत्ता पर उन लोगों का भी अधिकार हो रहा है जिन्हें अतीतजीवी बुद्धिजीवियों के एक वर्ग ने इसके अयोग्य माना था । ऐसे में किसी सिद्धान्त (Idealogy) के आधार पर राजनीतिक संगठन बनाना कठिन हो गया है । सदियों से सत्ता सुख से वंचित व्यक्ति समूह अपनी पहचान अपने समूह के ही किसी बडबोले व्यक्ति में पा रहा है और बिना किसी

सिद्धान्त की परवाह किये, उसके पीछे पंक्तिबद्ध हो रहा है । लोग अपनी जाति में ही अपनी पहचान खोज रहे हैं । यह स्थिति सिद्धान्तहीनता के संकट की स्थिति है । इस संकट का कारण पढे-लिखे व्यक्तियों में भी वैज्ञानिक दृष्टि का अभाव है । वैज्ञानिक पद्धति परिकल्पना मूलक निगमनात्मक (Hypothetical deductive) होती है । व्यक्ति अपने स्वभाव में स्थित नियमानुवर्तिता की स्वीकृति के कारण प्रकृति को सदैव नियमबद्ध करना चाहता है । पर विकासशील प्रकृति मनुष्यारोपित नियमों से सदैव बद्ध नहीं होती और नये तथ्यों को प्रकट करती रहती है । नये तथ्यों के प्रकाश में व्यक्ति पुन: नये सिद्धान्तों के अनुरूप प्रकृति को बाँधने और उसे ज्ञेय बनाने का प्रयास करता है । इसिलिए वैज्ञानिक दृष्टि में दुराग्रह नहीं रहता और वह अपनी अपेक्षाओं के अनुरूप तथ्यों को तोडता मरोडता नहीं वरन् नये तथ्यों के आलोक में अपनी अपेक्षाओं में परिवर्तन करता है । आज उन व्यक्तियों के सामने भी संकट की स्थिति है जो वैज्ञानिक दृष्टि को स्वीकार नहीं करते । नये ज्ञान के अपरिप्रेक्ष्य में अपनी अपेक्षाओं और आचरण में परिवर्तन ही प्रगतिशीलता है । आज उनके सामने भी संकट की स्थिति है जो अपनी सुविधाओं और अधिकारों में कमी को स्वेच्छया नहीं स्वीकार कर पा रहे हैं और अपने अर्थ और काम सम्बन्धी मूल्यों की उपलब्धि के लिये परिस्थितिनुकूल रास्ता नहीं चुन रहे हैं । सम्बन्ध दो व्यक्तियों के मध्य बनता है । जाति के आधार पर व्यक्तियों से सम्बन्ध बनाना और उनका आकलन करना तार्किक दृष्टि से कोटि दोष (Categoriy mistake) से ग्रसित होना है । अधिकांश व्यक्ति जातिवाद के व्यामोह को जानकर भी नहीं छोड पा रहे हैं ।

अर्थ और काम जैविक आवश्यकतायें हैं । ये मूल्य तभी बनते हैं जब किसी विशिष्ट लक्ष्य के साधन के रूप में इन्हें प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है । भारतीय मनीषा ने धर्म या नैतिक आदर्श की सीमा के भीतर ही अर्थ और काम को मूल्य स्वीकार किया है । पर आज अर्थ और काम मूल्य नहीं वरन् निर्बन्ध प्रवृत्ति बन गये हैं । उपभोक्तावादी संस्कृति इन्हें किसी सीमा में बाँधना नहीं चाहती । संचार क्रांति के इस युग में विभिन्न विज्ञापनों द्वारा सामान्य व्यक्ति में कृत्रिम अभाव बोध उत्पन्न कर दिया जाता है और इस अभाव की पूर्ति ही उसके जीवन का लक्ष्य बन जाता है । इस उपभोक्तावाद ने हर प्रकार के संयम व्यक्ति के विकास के लिये बाधक मान लिया है । परिणाम स्वरूप पर्यावरण और स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याएँ पैदा हो रही हैं । स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की सारी मर्यादाएँ ढीली पड रही हैं फलत: पारिवारिक विघटन एवं अकेलापन मानवीय नियति बनते जा रहे हैं । एड्स (AIDS) जैसी बीमारियाँ इसी भोगवादी प्रवृत्ति का दुष्परिणाम हैं ।

पारंपरिक मर्यादाओं पर अविश्वास तथा मर्यादाविहीन भोगवादी प्रवृत्ति के दुष्परिणाम भी संकट की स्थिति पैदा कर रहे हैं। आज विज्ञापनों, प्रचारों द्वारा मनुष्य अवचेतन रूप से इस प्रकार दिग्भ्रमित हो रहा है कि वह स्वयं अपना लक्ष्य निर्धारित नहीं कर पा रहा है और ऐन्द्रिक सुखों के पीछे भागा जा रहा है। महावीर, बुद्ध और गाँधी द्वारा सुझाया त्याग और संयम का रास्ता भी कठिन लग रहा है और असंयमित भोगवाद के दुष्परिणाम भी भयंकर लग रहे हैं। इस स्थिति को अर्थ और काम सम्बन्धि मूल्यों का संकट कह सकते हैं। वर्तमान स्थिति को उर्दू के प्रसिद्ध शायर निदांफाजली के एक शेर द्वारा प्रकट किया जा सकता है - यहाँ कोई किसी को रास्ता नहीं देता, मुझे गिरा के अगर तुम संभल सको तो चलो।

पर यह शेर यथार्थ को रूपायित करता है और यथार्थ कभी आदर्श नहीं बनता। यहीं पर नैतिक मूल्यों के संकट की बात उठती है। नैतिक मूल्यों का सम्बन्ध हमारे उन व्यवहारों से है जिनका दूसरों पर प्रभाव पडता है। प्रश्न यह है कि हमें किसी सीमा तक दूसरों पर पडने वाले प्रभावों के प्रति संवेदनशील रहना चाहिये। "चाहिये" या "आदर्श" से सम्बन्धित प्रश्नों का उत्तर वैज्ञानिक पद्धति द्वारा नहीं दिया जा सकता। मूल्य बोध के क्षेत्र में, उस पद्धति का अनुसरण नहीं किया जा सकता जो भौतिक या संवेदी जगत् के विवेचन में कारगर हैं। मूल्य विवेचन दर्शन का विषय है। दर्शन और विज्ञान दोनों विषयों में कुछ पूर्वमान्यताओं, और परिकल्पनाओं को स्वीकार किया जाता है। विज्ञान के क्षेत्र में इन पूर्वमान्यताओं और परिकल्पनाओं को प्रयोगात्मक परीक्षण द्वारा परीक्षित और सत्यापित किया जाता है वहाँ दर्शन में इस कोटि का परीक्षण और सत्यापन संभव नहीं। नैतिक मूल्यों के क्षेत्र में भी हम कुछ पूर्वमान्यताओं को स्वीकार करते हैं। प्रायः सभी देशों के मनीषियों ने "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्" को हमारे व्यावहारिक जीवन का आदर्श माना है। कल्पनाशील व्यक्ति दूसरों को होने वाली अनुभूतियों का आकलन अपने को उसके स्थान पर रखकर और दूसरे को भी अपने जैसा ही सुख और दुःख की अनुभूति करने वाला मानकर कर सकता है। नैतिक बोध को "स्व" का विस्तार मानकर ही संभव है। प्रश्न है कि मैं क्यों दूसरों के दुःख को अपने दुःख के समान महत्त्व दूँ। इस प्रश्न का कोई उत्तर संभव नहीं है। मैं अच्छा क्यों बनूँ ? यह प्रश्न ही निरर्थक है। अच्छा बनने के लिए कोई वस्तुगत कारण पर्याप्त नहीं। अच्छाई को किसी संवेदी अनुभूति के समतुल्य नहीं माना जा सकता। मूर द्वारा प्रतिपादित "प्रकृतिवादी दोष" इसी तथ्य की ओर इंगित करता है। दूसरों के दुःख को अपने दुःख के समान समझकर ऐसे

दुःखोत्पादक कार्य से विरत होना मानव प्रकृति की जिस विशिष्टता की ओर इंगित करता है, उसकी जैविक व्याख्या नहीं हो सकती । पर यह नैतिकता का निवृत्ति मूलक पक्ष है । यह केवल अकार्यों को वर्जित करने का आग्रह करता है जो दूसरों को उसी प्रकार पीडा पहुँचाते हैं जिस प्रकार दूसरों द्वारा किये जाने पर मुझे पीडा पहुँचाते हैं । नैतिक आचरण का एक दूसरा पक्ष भी है। बहुत से महापुरुष स्वयं पीडा सहकर भी दूसरों की पीडा को दूर करने का प्रयास करते हैं । यही साधुता है - सन्त चरित्र है । महाभारत में रतिदेव की कामना है कि "न त्वहं कामये राज्यं, न स्वर्गम् न पुर्नभवम् । कामये दुःखतप्तानाम् प्राणिनाम् आर्तिनाशनम् ।।" यह आदर्श हमें क्यों स्वीकार्य हो, इसका भी कोई कारण नहीं बताया जा सकता । इस प्रकार के कार्यों से उत्पन्न होने वाला सन्तोष और आनन्द ही इसका लक्ष्य है । साधुता का पुरस्कार साधुता ही है ।

नैतिक मूल्यों के बारे में इस प्रकार की धारणा रखने वाले व्यक्ति के सामने कोई संकट नहीं है । यह अपने जैविक मूल्यों का उच्चतर नैतिक मूल्यों की सीमा के भीतर ही प्राप्त करना चाहेगा । पर आज सामान्य व्यक्ति में इस प्रकार की आस्था का अभाव हो गया है । इसका कारण नैतिक मूल्यों के बारे में सापेक्षतावादी दृष्टि भी है । तार्किक भाववादियों ने नैतिक कथनों को संवेगात्मक अभिव्यक्ति माना है और इसके लिये विभिन्न संस्कृतियों में पायी जाने वाली नैतिक मान्यताओं में मतैक्य के अभाव को प्रमाण माना है । गाय या बकरी का काटा जाना एक अहिंसक जैन या हिन्दू के मन में वितृष्णा और असहमति का भाव उत्पन्न करता है, पर एक ईसाई या मुसलमान के मन में सहमति का भाव उत्पन्न करता है और वह उसे अनैतिक नहीं मानता । वस्तुतः नैतिकता भी कुछ पूर्व मान्यताओं पर आधृत होती है और इनकी भिन्नता के कारण व्यावहारिक नैतिक दृष्टिकोण में भिन्नता दिखाई पडती है । ईसाई धर्म और इस्लाम की मान्यता है कि आत्मा केवल मनुष्यों में है और अन्य जीव मनुष्य से स्वरूपतः भिन्न है और मनुष्य के उपभोग के लिए बनाये गये हैं । जैन या हिन्दू धर्म की मान्यता है कि मनुष्येतर जीवों में भी आत्मा है और उनमें कोई तात्त्विक भिन्नता नहीं है । पर मनुष्यों के आपसी सम्बन्धों का मूल्यांकन करने वाली मान्यताओं में विभिन्न धर्मों और संस्कृतियों में काफी हद तक मतैक्य है । समस्त सापेक्षताओं से परे कुछ ऐसे व्यवहार नियम हैं जिन्हें सार्वभौम नैतिक मान्यताओं के रूप में स्वीकार किया जाता है । अपने वचन का पालन करता, शिष्टता, जरूरतमंदों की सहायता करना, ईर्ष्या और द्वेष द्वारा प्रेरित न होना, उदारता, अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध साहस सभी संस्कृयों में मान्य है । उन नैतिक मान्यताओं का स्रोत स्वयं मानवीय प्रकृति है । सभी सृजनधर्म, कल्पनाशील मनुष्य के चिन्तन के ये अनिवार्य अंग हैं ।

नैतिक मूल्यों को जैविक मूल्यों द्वारा परिभाष्य मानने की दृष्टि भी संकट को जन्म देती है। परिस्थितियों के दबाव वश हमारी जैविक मूल्यों से सम्बन्धित मान्यताओं में परिवर्तन होता रहता है। उदाहरणार्थ विज्ञान द्वारा मृत्युदर पर नियंत्रण कर लेने के कारण जन संख्या वृद्धि एक समस्या बनती जा रही है और जनसंख्या का दबाव मनुष्य के सम्यक विकास में बाधक बनता जा रहा है। ऐसी स्थिति में जनसंख्या नियंत्रण एक नैतिक मूल्य बन गया है। पर यह सामान्य नैतिक मान्यता के विपरीत नहीं। जन संख्या नियंत्रण भी एक स्वस्थ, ईर्ष्याद्विष रहित समतावादी समाज की स्थापना का साधन ही है। जो सापेक्षतावादी नैतिक मूल्यों में विश्वास रखते हैं उनके लिए वर्तमान समय में मूल्यों का संकट है। पर जो समानता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व के सार्वभौम आदर्शों में विश्वास रखते हैं उनके लिए कोई मूल्य संकट नहीं है। वे समस्त उन प्रयासी को जो इन मूल्यों की प्रतिष्ठा में साधक हैं सार्थक और वांछनीय तथा उन समस्त साधनों को जो अन्ततः इन मूल्यों को अप्रतिष्ठित करते हैं निरर्थक और अवांछनीय मानते हैं।

भारतीय परंपरा में चौथा मूल्य मोक्ष या मुक्ति है। इसे हम आध्यात्मिक मूल्य कह सकते हैं। वस्तुतः मनुष्य का सारा जीवन ही मुक्ति का प्रयास है। हम सर्वदा अभावों से मुक्ति चाहते हैं। दुःख से मुक्ति चाहते हैं। असुरक्षा से मुक्ति चाहते हैं। भय से मुक्ति चाहते हैं - आदि। मानव चेतना को सीमित करने वाले समस्त कारकों से मुक्ति ही वस्तुतः मोक्ष है। इस मुक्ति के दो स्वरूप हैं - विदेह मुक्ति और जीवन मुक्ति। भारतीय दर्शन के कुछ सम्प्रदाय केवल विदेहमुक्ति को ही वास्तविक मुक्ति मानते हैं। पर बौद्ध, दर्शन, अद्वैत वेदान्त जीवनमुक्ति को ही जीवन का उच्च आदर्श मानते हैं। जीवनमुक्त ही गीता का निष्काम कर्मयोगी है। यह साधुता का चरम आदर्श है। विदेहमुक्ति का आदर्श आज भले ही स्वीकार्य न हो, पर जीवन्मुक्त का आदर्श आज भी प्रासंगिक है।

भौतिक उपलब्धियों के प्रति निःसंगता का भाव रखे बिना लोकसंग्रह के आदर्श को फलीभूत नहीं किया जा सकता। यही बोधिसत्त्व भाव है। जितने भी महान् चिन्तक, वैज्ञानिक, साहित्यकार हुए हैं उन्होंने किसी न किसी रूप में इस आदर्श को मूर्त रूप देने का प्रयास किया है। एक जीवनमुक्त ही सन्त है। सन्त या जीवनमुक्त में निषेधात्मक तटस्थता का भाव नहीं रहता। वे उन वस्तुओं के प्रति जो व्यक्ति को सीमित और संकीर्ण करती है, उदासीन रहते हैं, पर लोकसंग्रह, सन्तोष तथा स्वभावगत मधुरता के प्रति इनमें मैत्री भाव रहता है। इस प्रकार जिस व्यक्ति ने जैविक मूल्यों को नैतिक मूल्यों से मर्यादित कर आध्यात्मिक मूल्य को जीवन का चरम लक्ष्य माना है उसके सामने कोई मूल्य संकट

नहीं। पर जो केवल जैविक मूल्यों के प्रति ही आग्रहशील हैं वे निश्चय ही वर्तमान काल में मूल्यों के संकट से ग्रस्त हैं।

स्थितप्रज्ञ या बोधिसत्त्व का आदर्श सामान्य व्यक्तियों के लिए साधन नहीं है। यह एक कठिन लक्ष्य हैं। सामान्य व्यक्ति के लिये अर्थ और काम को नैतिक मूल्यों द्वारा मर्यादित करना ही पर्याप्त है। सामाजिक सामरस्य के लिये नैतिक मूल्यों में आस्था आवश्यक है। नैतिक मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता के अभाव का एक कारण नैतिक भाषा के स्वरूप को न समझना भी है। नैतिक भाषा वर्णनात्मक नहीं होती। वर्णन यथार्थ का होता है और यथार्थ आदर्शोन्मुख हो सकता है - आदर्श के समतुल्य नहीं। पर नैतिक मूल्य मानवीय चेतना की आत्मनिष्ठ अभिव्यक्त नहीं। इनका वस्तुपरक आधार होता है। कोई अर्थ वस्तुपरक तभी होता है जब एक विशेष सन्दर्भ में सभी सामान्य प्रेक्षकों के लिये उसका एक ही अभिप्राय हो। नैतिक कथनों द्वारा जो अभिव्यक्ति होती है उसका तथ्यात्मक आधार होता है और इन तथ्यों के आधार पर मूल्यात्मक कथन या परामर्श होता है। परामर्श देने के लिये तथ्यात्मक आधार सभी सामान्य प्रेक्षकों के लिये समान होते हैं। नैतिक परामर्श वाला उन तथ्यों में नैतिक मूल्यों को आरोपित करता है। उदाहरण के लिये चोरी करने से समाज में अव्यवस्था फैलती है और व्यक्तियों में असुरक्षा की भावना बढती है। इस स्थिति को सामान्य व्यक्ति विमूल्य मानता है और उसका परामर्श होता है कि चोरी करना अशुभ है - अवांछनीय है। परस्पर सौहार्द और विश्वास बढाने वाले कार्य शुभ हैं। इस कथन की सार्थकता तभी है जब स्वयं वक्त के आचरण द्वारा यह प्रकट हो। यह कहना कि चोरी करना अवांछनीय है, पर मेरे लिये नहीं, निरर्थक कथन है। यहाँ वांछनीयता का कोई परामर्शात्मक मूल्य नहीं रह जाता। इसीलिये नैतिक निर्णय न देने वाला व्यक्ति अपने आचरण द्वारा भी इसे प्रतिष्ठित करता है। यदि नैतिक मूल्यों को व्यक्त करते हुए भी कोई व्यक्ति इन्हें अपने आचरण का आदर्श नहीं बनाता तो यह उसकी चारित्रिक दुर्बलता को प्रकट करता है। और यदि वह अपनी चारित्रिक दुर्बलता का स्वीकार करता है तो इसे कम से कम अपनी कमजोरी का पता तो चलता है। ऐसा व्यक्ति दुराग्रही नहीं बन सकता।

वस्तुतः वर्तमान संकट का कारण विवेक सम्मत सार्वभौम नैतिक मूल्यों में अनास्था है। मूल्यों का वरण मानवीय प्रवृत्ति की सृजनशीलता के कारण है। सृजनात्मकता की अभिव्यक्ति सदैव उपलब्ध को आदर्श और अधिक संतोषप्रद बनाने के प्रयास में होती है। इस प्रयास को समाज द्वारा पुरस्कृत दंडित, प्रशंसित या निंदित

होने से सहचरित्र न करके इस प्रयास से उत्पन्न आनन्द और सन्तोष को ही लक्ष्य मानकर कार्य करने में ही जीवन की सार्थकता है ।

रीडर एवं विभागाध्यक्ष
स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग
तिलकधारी महाविद्यालय, जौनपुर उ.प्र.

डा.अरुण कुमार सिंह

टिप्पणियाँ

१. संस्कृति का दार्शनिक विवेचन - डा. नन्दकिशोर देवराज
२. दर्शन स्वरूप, समस्याएँ एवं जीवन-दृष्टि - डॉ. नन्दकिशोर देवराज
३. मूल्य मीमांसा - डॉ. गोविन्दचन्द पाण्डेय
४. Philosophy of Science - A Personal Report - Karl R. Popper
५. Being and Nothingness, Jean Paul Sartre
६. The language of Morals - R. M. Hare

सुमित्रानन्दन पन्त के साहित्य में नवचेतनावादी दर्शन

साहित्यकार सामाजिक प्राणी होने के नाते समाज से प्रेरणा ग्रहण करता है। उसका साहित्य युगीन परिस्थितियों की देन होता है। पन्त के साहित्य पर दृष्टिपात करें तो यह तथ्य उजागर होता है कि पंत जी का व्यक्तित्व और कृतित्व युगीचेतना का साकार जनक है। उन्होंने अपने दीर्घकाल साहित्यिक जीवन में अनेक मोड दिए हैं। "वीणा पल्लव काल में पंत जी स्वच्छन्दतावाद के अनुगामी थे। ग्राम्या, युगवाणी, युगान्त काल में साम्यवाद से प्रभावित रहे तथा स्वर्णकिरण, स्वर्णधूलि, उत्तरा, रजतशिखर आदि में अध्यात्मवादी (अरविन्दवादी अध्यात्म के विश्वासी) हो गए।"[१]

श्री विश्म्भर मानव नवचेतनावाद के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं - "काव्य में अरविन्दवाद को नवचेतनावाद कहते हैं। भक्ति, अध्यात्मवाद और रहस्यवाद तीनों में ही चेतना के विकास की कहानी कही जाती है, पर अरविन्दवाद इन तीनों से भिन्न एक नया चेतनावादी दर्शन है, इसी से काव्य में उसके लिए नवचेतनावाद का नाम दिया गया है।"[२] द्वितीय विश्व युद्ध से उपरान्त पन्त के विचारों पर जो प्रभाव पडा उससे अनुस्यूत साहित्य अरविन्द दर्शन से प्रभावित है। इसे ही पंत का नवचेतनावादी साहित्य कहा गया है। उनके नवीन काव्योत्थान के संदर्भ में भी विभिन्न आलोचकों ने उनकी प्राथमिक कृतियों - स्वर्णकिरण, स्वर्णधूलि और बूढा चाँद आदि को लक्षित कर उसे 'स्वर्णकाव्य'[३] अध्यात्मकाव्य और गुह्यकाव्य[४] की संज्ञाए भी दी हैं। पन्त जी ने स्वयं इस काव्य को नवीन चेतना-काव्य की संज्ञा दी है। नवीन चेतना से पन्त का आशय नवीन सांस्कृतिक चेतना से है। कवि के अनुसार "मेरी काव्य चेतना मुख्यत: नवीन संस्कृति की चेतना है, जिससे आध्यात्मिकता तथा भौतिकता का नवीन मनुष्यत्व के धरातल पर संयोजन है। मेरा काव्य भू-जीवन, लोकमंगल तथा मानवमूल्यों का काव्य है। जिसमें मनुष्यत्व और लोकगण दो भिन्न तत्त्व नहीं एक दूसरे के गुण-राशि वाचक पर्याय है।"[५] पन्त जी का अध्यात्मवाद संतों व भक्तों के अध्यात्मवाद से भिन्न है। वह विकसित सामाजिकता के अनुसार है। डॉ. नगेन्द्र ने उनके अध्यात्मवाद के संदर्भ में कहा है - "यह आध्यात्मिकता साम्प्रदायिक अथवा धार्मिक नहीं है और न यह रहस्यवाद ही है। इसका संबंध सूक्ष्म चेतना से है। उन्होंने जिस आध्यात्मिक चेतना की कल्पना

की है, इसमें भौतिकता का परिष्कार है, तिरस्कार नहीं; उन्नयन है दमन नहीं।''[६] डा. विजयेन्द्र स्नातक ने भी इस संदर्भ में अपने विचार इस प्रकार प्रकट किए हैं - "उत्तरा का अध्यात्म तत्त्व न तो किसी शास्त्रीय दार्शनिक सिद्धान्त का प्रत्यक्ष में पोषक है, और न वह प्रच्छन्न में किसी साम्प्रदायिक धार्मिकता में विश्वास रखता है। उसका विषय मानवात्मा के विकास से संबद्ध होने पर भी आत्मा की औपनिषदिक व्याख्या करना नहीं है। दार्शनिक अद्वैतवाद या ब्रह्मचिन्तन की परिपाटी से तथाकथित अध्यात्मवाद का पोषण उसका ध्येय नहीं है।''[७] यह मान्यता प्रचलित है कि अरविन्द दर्शन ही नवचेतनावाद का स्रोत है। किन्तु यह तथ्य पूर्णतः सत्य नहीं है। "नवचेतनावाद मात्र साहित्यिक संस्करण नहीं है। अपने नवचेतनावाद के लिए उपयोगी उपकरण कवि ने अरविन्द दर्शन के अतिरिक्त अनेक दर्शनों से तथा व्यक्तियों की विचारधाराओं से बटोरे हैं।''[८] कवि ने अरविन्द दर्शन से प्रेरणा ली है जिसे उन्होंने स्वीकारा भी है किन्तु कवि ने चित्र स्पष्ट करते हुए कहा है - "मैं अपने युग, विशेषतः देश की प्रायः सभी महान विभूतियों से किसी न किसी रूप में प्रभावित हुआ हूँ। इन सबमें जो परिपूर्ण एवं संतुलित अन्तर्दृष्टि का अभाव खटकता था, उसकी पूर्ति मुझे भी अरविन्द के जीवनदर्शन में मिली, और उस अन्तर्दृष्टि को मैं इस विश्व संक्रान्ति के काल के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा अमूल्य समझता हूँ।''[९]

कवि के नवचेतनावाद के मूल में 'अरविन्द दर्शन' का प्रभाव तो है ही किन्तु औपनिषदिक दर्शन व चिन्तन मनन का भी प्रभाव दृष्टिगत होता है। डा. नेमनारायण जोशी जी के अनुसार 'अभी तक प्रायः यही समझा जाता रहा है कि पन्त जी अरविन्द दर्शन के संपर्क में आने के बाद से नवचेतनावादी हो गए हैं, और कि वे इसके पूर्व क्रमशः प्रगतिवादी, छायावादी या प्रकृतिवादी थे। यह धारणा एक तो नवचेतना की स्वरूप संबंधी अनभिज्ञता प्रकट करती है, दूसरी ओर कवि के प्रवाहमान व्यक्तित्व की एक सूत्रता को उपेक्षित करती है।''[१०] "अरविन्द दर्शन से उनका परिचय तो बहुत बाद में हुआ था, जबकि उनकी प्रायः समस्त पूर्ववर्ती रचनाएँ पृथ्वी और स्वर्ग के समन्वय, मानव -मंगल और दिव्य जीवन की परिकल्पना से सुवासित है। वस्तुतः; श्री अरविन्द का दर्शन भी औपनिषदिक अद्वैतवाद की ही परम्परा में आता है।''[११] कवि के विचार चिन्तन को अरविन्द दर्शन के संपर्क से एक दिशा अवश्य मिल गयी। कवि ने इस तथ्य को स्वयं स्वीकारा है - "अपनी नवीन अनुभूतियों के लिए, जिन्हें मैं अपनी सृजन चेतना का स्वपन संचरण या काल्पनिक आरोहण समझता था मुझे किसी प्रकार के बौद्धिक या आध्यात्मिक अवलम्ब की आवश्यकता थी। इन्हीं दिनों मेरा परिचय श्री अरविन्द के भगवत् जीवन (द लाइफ डिवाइन) से हुआ ... उसके प्रथम खण्ड को पढते समय

मुझे ऐसा लगा, जैसे मेरे अस्पष्ट स्वपन चिन्तन को अत्यन्त सुस्पष्ट, सुगठित एवं पूर्ण दर्शन के रूप में रख दिया गया है।"[१२] पंत जी के पूर्ववर्ती साहित्य में भी नवचेतनावाद के बीज विद्यमान थे। उनका साहित्य निरन्तर विकास की शृंखलाओं में बँधा जीवन विकास को स्वर देता रहा है। उसे वादों या खण्डों में विभक्त करना उनके साथ अन्याय ही होगा।

युगान्त युगवाणी और ग्राम्य में नवचेतनावाद का स्वरूप स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। पन्त जी ने इन में मानव के वर्तमान जीवन शोषण की अर्थनीति, अधिकारों की राजनीति, स्वार्थपूर्ण समाजनीति का दर्शन किया है। आर्थिक हितों की टकराहट ही युद्धों को जन्म देती है। कवि ने यह स्पष्ट किया कि नवीन सांस्कृतिक मूल्यों की स्थापना हेतु सुधार नहीं क्रान्ति आवश्यक है। युगान्त में कवि ने आध्यात्मिक व भूतवादी अतिवादों की देन मध्ययुगीन संस्कृति के विध्वंस की कामना की है। '**झरें जाति, कुल, वर्ण, वर्गधन, अंध नीड से रूढि रीति छन। व्यक्ति राष्ट्र गत, रागद्वेष रण, झरें भरें विस्मृत में तत्क्षण।**'[१३]

कवि ने नवीन संस्कृति में मानवी स्वरूप की समग्र कल्पना की है जिसमें मन, शरीर और आत्मा तीनों की संतुष्टि अपेक्षित है। अरविन्द दर्शन से पंत जी का परिचय १९१२ में हुआ। कवि के 'उनसे अधिक व्यापक ऊर्ध्व तथा अतलस्पर्शी व्यक्तित्व, जिनके जीवन दर्शन में अध्यात्म का सूक्ष्म, बुद्धिग्रहण साथ नवीन ऐश्वर्य तथा महिमा से मंडित हो उठा है कहीं दूसरा देखने को नहीं मिला।'[१४] उनसे वह इतना प्रभावित हुआ कि उसका समस्त भावी साहित्य उन्ही के दर्शन को काव्यात्मक अभिव्यक्ति देने लगा। "अपने नूतन काव्य में कवि पन्त ने अरविन्द दर्शन को पूर्णरूप से स्वीकार किया है।"[१५] पन्त का परवर्ती काव्य दर्शन से आप्लावित है। एक ओर तो उन्हें शंकराचार्य का मायावाद मध्यकाल का अतिचार प्रतीत होता है और दूसरी ओर मार्क्स व ऐंजिल्स की पुकार झींगुरों की झंकार प्रतीत होती है। उनका मार्ग बीच का है - मध्यमा प्रतिपदा का मार्ग जो उन्होंने अरविन्द दर्शन से ग्रहण किया।

अरविन्द दर्शन से प्रभावित होने के पश्चात् पंत जी ने दो महाकाव्य लोकायतन और सत्यकाम की रचना की। इसके अतिरिक्त बारह काव्यरूपक भी अरविन्द दर्शन के प्रभावस्वरूप लिखे - रजतशिखर, फूलों का देश, उत्तरशती, शुभ्रपुरुष, विद्युतवसना, शरदचेतना, ध्वंसशेष इत्यादि।

दर्शन के तीन अंग बताए गए हैं - ज्ञानमीमांसा, तत्त्वमीमांसा और मूल्यमीमांसा। आज ज्ञानमीमांसा का सम्बन्ध मानव मनोविज्ञान से जुड गया है। भारतीय दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द को ज्ञान का स्रोत माना गया है। श्री अरविन्द इन

चारों को अस्वीकार न करते हुए भी तादात्म्य ज्ञान को ही चरम ज्ञान मानते हैं। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार सहज ज्ञान द्वारा यह संभव है। दूरदृष्टि, सम्मोहन, वशीकरण, विचार संक्रमण : टेलीपेथी आदि शक्तियाँ इस सहज ज्ञान; अंतश्चेतना की ही देन है, इनके द्वारा मनुष्य अलौकिक कृत्य कर सकता है, वह भविष्य में भी झाँक सकता है।'[१६]

चेतना के तीन धरातल बतलाए गए हैं -

१. निम्न धरातल - यह पशु जीवन में देखा जा सकता है।

२. समदिक धरातल - इसमें मनुष्य सामाजिकता का विकास करता है। तथा राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक संघटनों का संयोजन, संचालन करता है।

३. ऊर्ध्व धरातल - यही अंतश्चेतना का धरातल है, जिसमें मनुष्य समदिक धरातल से उठकर ऊर्ध्वगमन करके तादात्म्य ज्ञान प्राप्त करता है। भारतीय दर्शन चेतना को 'आत्मा' की संज्ञा देता है, यही जुंग की 'साइकी' और अरविन्दकी महत्‌चेतना है, जो अधोमुखी होने पर जड सत्ता के रूप में विकसित होती है। साम्यवाद केवल समदिक धरातल तक ही सीमित है।'[१७] मानव चेतना के लिए अभीष्ट है कि वह समदिक धरातल से उठकर ऊर्ध्व संचरण करें। वर्तमान मानव को अन्तर्जीवन के वैभव से परिचित होना आवश्यक है।

"अन्तर्जीवन के वैभव से, आज अपरिचित भूजन।
मध्यम अधम वृत्तियों से, कल्पित उनका भव जीवन ।।
सत्य ज्योति से वंचित, भेदों से कुंठित मानव मन।
अन्तर्मुख प्रेरित हो उसको पाना नव जीवन दर्शन ।।"[१८]

कवि और कलाकार धरती के प्राणी होते हैं। उनका प्राथमिक कर्तव्य धरती को स्वर्ग बनाना होता है। कवि अन्य कवियों का आवाहन करते हुए भावी स्वर्णिम बिंब का आकार गढता हुआ कह उठता है।

आओ, हे कवि आओ, फिर निज अमृत स्पर्श से
आदर्शों की छायाओं को नवजीवन दो
मर्त्यलोक के जडप्रांगण में जीवन चेतन
स्वर्ग स्वपन विचरें ज्वाला में पगधर नूतन
नव आशा, अभिलाषा से दीपित दिगंत कर
आओ तुम जीवन वसन्त के अभिनव-दिक बन
धरा चेतना हँसे सांस्कृतिक स्वर्णोदय से।'[१९]

अरविन्द दर्शन कहता है कि जगत् नहीं है और न शरीर ही दुख का मूल है, प्रत्युत्

शरीर तो साधना का माध्यम है, जग जीवन में ही प्रभु दर्शन संभव है। 'जग जीवन में ही संभव प्रभु दर्शन।'[२०] इसके लिए इच्छाओं का पाश न बनाकर सामाजिक जीवन वैभव का वाहन बनना पडेगा -

'इच्छाएँ पाश न रह, बन स्वर्णिम तोरण
हो सामाजिक जीवन वैभव की वाहन।'[२१]

पंत जी प्रेम को मुक्ति मानते हुए कहते हैं -

मुक्ति क्या है। सहज प्रेम अर्पण
प्रेम वंचित क्षण भव बन्धन।[२२]

वे स्पष्ट कहते हैं- 'ज्ञान ? साधन भर सिद्धि न साध्य प्रेम ही आराधक आराध्य।'[२३] पंत जी का कथन है कि प्रेम साक्षात् ईश्वर है -

'प्रेम है ईश्वर वह निस्सीम प्रेम है।'[२४]

पंत जी व्यक्तिमुक्ति के नहीं लोकमुक्ति के आकांक्षी हैं। 'क्योंकि वैज्ञानिक युग में वही वास्तविक मुक्ति है।'[२५] क्यों कि 'सर्वमुक्ति ही व्यक्तिमुक्ति[२६] में निहित है।' उनके अनुसार मन ही बन्धन का कारण है, और मन ही मोक्ष का। व्यक्ति के मन का अहंकार ही समस्त दुखों का मूल है। अत: अरविन्द का कथन है कि अहम् का नाश किया जाए तभी मुक्ति प्राप्त हो सकती है। अत: अन्त:शुद्धि करते हुए निरन्तर कलुषित इच्छाओं के स्थान पर उच्च इच्छा, दिव्य इच्छा, शान्तिपूर्ण आनन्दपूर्ण इच्छा का विकास करना चाहिए-

'छोडो जडता, छिन्न करो, भव भेदों का तम,
तुम हो मुझ से एक, एक तुम भूतों से सम,
करो आत्मबल का संचय, तोडो मन के बंधन।'[२७]

मूल्य मीमांसा से आशय उस आचार दर्शन से है जो समाज को उदात्त मानवता के स्तर पर जीवन प्रदान कर सके। किन्तु आज की दृष्टि एकांगी हो गयी है। "प्राचीन सामाजिकता के चरमराते ढाँचे की अंध रूढि परम्पराओं, पूर्ण वैज्ञानिक युग की संकीर्ण आर्थिक, राजनीतिक पद्धतियों तथा खोखले नैतिक धार्मिक आदर्शों की सीमाओं में जकडी मानवता इस सीमा तक संज्ञाशून्य हो चुकी है कि उसे अपने हिताहित का विवेक भी नहीं रह गया है, और दो विश्वयुद्धों का स्नायुभंजक त्रास भोगकर भी, वह आज एक तीसरे महाविनाशकारी अणु युद्ध के स्वागत में तैयार खडी है।"[२८] ऐसी अवस्था में नवीन सांस्कृतिक चेतना की आवश्यकता है। आज का विश्व दो विरोधी खेमों में बँटा हुआ है, एक पूँजीवाद, साम्राज्यवाद का समर्थक है, तो दूसरा उसका विरोधी, लेकिन जनतंत्र के नाम पर अधिनायकवादी। पूरब अध्यात्मवाद का समर्थक है और पश्चिम भौतिकवाद का। दोनों एकांगी दृष्टियों को नव्यचेतना में संयोजित करना है।

"भौतिकता आध्यात्मिकता दोनों एकांगी निर्जीव पलायन भर ।
नव्य चेतना में कर संयोजित दोनों का करना रूपान्तर ।।"[२९]

संस्कृति एक व्यापक शब्द है । पंत जी के अनुसार 'संस्कृति को हमें, अपने हृदय की शिराओं में बहने वाला मनुष्यत्व का रुधिर कहना चाहिए, जिसके लिए मैंने अपनी रचनाओं में सगुण, सूक्ष्म संगठन या मनः संगठन तथा लोकोत्तर, देवोत्तर, मनुष्यत्व आदि शब्दों का प्रयोग किया है ।'[३०]

पंत जी ने युगीन परिस्थितियों का व्यापक चित्रण किया है - आर्थिक राजनैतिक शोषण, मानवता का विघटन, आध्यात्मिकता का ह्रास, पीढी के प्रति विद्रोह, जीवन मूल्यों का ह्रास, सांस्कृतिक विघटन इत्यादि । कवि को भविष्य के सुन्दर स्वरूप का भावी मानवता के स्वरूप की साकारता का पूर्ण विश्वास है । वे कहते हैं - 'आज के युग का सन्देह, अविश्वास, जीवन संघर्ष, विनाश के साधन, बाहरी भीतरी क्रान्तियाँ, अर्थशक्ति संचय, ज्ञान विज्ञान की उपलब्धियाँ तथा अप्रतिहत साहस इसी महत् निर्माण, विकास तथा मानवता के अमूल रूपान्तर के अग्रदूत हैं । आने वाला युग निश्चय ही न पूर्व का होगा न पश्चिम का । वह दोनों देशों की सीमाओं एवं विभेदों का अतिक्रमण कर काल के शिखर की ओर आरोहण करने को उत्सुक होगा । आज की वास्तविकता की बौनी विकृतियों से मुक्त उसके भीतर एक अन्तर-वास्तविकता एवं अन्तश्चेतना का उदय तथा विकास होगा । वह विज्ञान को अपना उपयुक्त वाहन बना सकेगा । वही काल के हृदय-कमल में स्थित कालविद्, अत्याधुनिक मानव होगा - जिसे धारण कर धरती, सूर्य की परिक्रमा करने में, गौरव का अनुभव करेगी ।'[३१]

यही पन्त जी का नवचेतनावाद है जिसमें अध्यात्म व भौतिकता का समन्वय हो जाएगा, संस्कृतियों का समन्वय होगा, चेतना का ऊर्ध्व संचरण होगा जिससे जीवित रहते ही जीवन के दुःखद्वन्द्व अस्तित्वहीन हो जाएँगे ।

डा. स्वामी प्यारी कौडा
प्रवक्ता, हिन्दी विभाग
दयालबाग एज्युकेशनल इन्स्टिट्यूट
(डीम्ड विश्वविद्यालय)
दयालबाग, आगरा २११००५

टिप्पणियाँ

१. श्री. विशम्भरनाथ उपाध्याय - पंत जी का नूतन काव्य और दर्शन
२. श्री. विशम्भर 'मानव' - सुमित्रानन्दन पन्त पृ १७७
३. डॉ. सत्येन्द्र, सुमित्रानंदन पंत - (सं. डॉ. शचीरानी गुर्टू) पृ १७९

४. विशम्भर 'मानव' - सुमित्रानन्दन पन्त पृ २८५
५. सुमित्रानन्दन पन्त, शिल्प और दर्शन, चरणचिन्ह, पृ १२७-१२८
६. डॉ. नगेन्द्र - पन्त का जीवन दर्शन सुमित्रानन्दन पन्त, पृ २४६
७. डॉ. विजयेन्द्र स्नातक, उत्तरा में पंत का अध्यात्मवाद, सुमित्रानन्दन पन्त, पृ ३०३
८. डॉ. नेमनारायण जोशी, सुमित्रानन्दन पन्त का नवचेतना काव्य, पृ १८
९. सुमित्रानन्दन पन्त, शिल्प और दर्शन, प्रस्तावना, पृ १८२
१०. डॉ. नेमनारायण जोशी, पंत जी का नवचेतना काव्य, पृ २७
११. डॉ. हरनारायण सिंह, छायावाद : काव्य तथा दर्शन, पृ २४८
१२. सुमित्रानन्दन पन्त, शिल्प और दर्शन (प्रस्तावना), पृ ८१
१३. सुमित्रानन्दन पन्त, युगान्त, पृ १६
१४. सुमित्रानन्दन पन्त, 'शिल्प और दर्शन', प्रस्तावना, पृ ८२
१५. श्री विशम्भरनाथ उपाध्याय, पंत का नूतन काव्य और दर्शन, पृ २६२
१६. श्री अरविन्द, द लाइफ डिवाइन (भाग-२), पृ २४७
१७. श्री अरविन्द, द लाइफ डिवाइन (भाग-२), पृ १७६
१८. सुमित्रानन्दन पन्त, स्वर्ण किरण, इन्द्र धनुष, पृ २०
१९. सुमित्रानन्दन पन्त, युगपथ, पृ ११५
२०. सुमित्रानन्दन पन्त, लोकायतन, पृ २३०
२१. सुमित्रानन्दन पन्त, लोकायतन, पृ २३१
२२. सुमित्रानन्दन पन्त, किरण वीणा प्रश्नोत्तर, पृ ३३
२३. सुमित्रानन्दन पन्त, किरण वीणा प्रश्नोत्तर, पृ ३४
२४. पन्त किरण वीणा, दारूयोपित दृष्टि, पृ ४५
२५. पन्त, लोकायतन, पृ ३०
२६. पन्त, लोकायतन, पृ १३
२७. पन्त, स्वर्ण किरण पृ ४७
२८. डॉ. नेमनारायण जोशी, सुमित्रानन्दन पन्त का नवचेतना काव्य, पृ ३०
२९. सुमित्रानन्दन पन्त, लोकायतन, पृ ५२७
३०. सुमित्रानन्दन पन्त, शिल्प और दर्शन, प्रस्तावना, पृ ७९
३१. पन्त, शिल्प और दर्शन, चरणचिन्ह, पृ १३५